परोपकाराय सतां विभूतयः ।

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ।

श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचित—

कर्मविपाक—प्रथमकर्मग्रन्थ

(हिन्दी अनुवाद-सहित)

प्रकाशक—

श्रीआत्मानन्द जैनपुस्तकप्रचारक मंडल

रोशनमोहल्ला, आगरा ।

संवत् २४४४] [ईसवी सन् १९१८

प्रथम बार १,०००]

{ कच्ची जिल्द १।)
{ पक्की ,, १।≈)

ग्रन्थक्रम।

पहले से विषय सूची तक ग्रन्थ सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस में छपा।

Saraswati Printing Press, Agra

श्रीमान् रायबहादुर बद्रीदासजी जौहरी मुकीम, कलकत्ता ।

श्री अमितगतिआचार्य विरचित—

तत्त्वभावना

(बृहत् सामायिक पाठ)

अन्वयार्थ, विस्तृत टीका व छंद सहित।

टीकाकार—

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी,

(समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, प्रतिष्ठासार, पंचास्तिकाय इष्टोपदेश, समाधिशतक आदि२के टीकाकार।)

"जैनमित्र" के ३० वें वर्षके ग्राहकोंको-

चौरई (छिंदवाड़ा) निवासी-

श्रीमान् सेठ खुशालचंदजी चरनागरेकी

ओरसे भेंट।

प्रथमावृत्ति] माघ, वीर सं० २४५६ [११००+२००

मूल्य-रु० १-१२-०.

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रेस, खपाटिया चकला,
तारवालाकी पोल-सूरत।

प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
ऑ॰ सम्पादक 'जैनमित्र' व मालिक दि॰
जैन पुस्तकालय, चंदावाड़ी-सूरत।

भूमिका।

पाठकोंकी सेवामें यह बृहत् सामायिक पाठ, भाषा टीका व छंद सहित उपस्थित है। यह पाठ हमको दिहली धर्मपुराके पंचायती दि० जैन मंदिरके शास्त्रभंडारको देखते हुए मिल गया था जिसको उपयोगी समझकर इसकी नकल पं० नाथूरामजी प्रेमी मंत्री माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग—बम्बईको भेज दी थी। उक्त महोदयने इसे सिद्धांतसारादि संग्रह नामकी पुस्तकमें प्रकाशित करके जन साधारणका बहुत उपकार किया है व इसकी मराठीमें संक्षेप टीका शोलापुर निवासी पं० जिनदास पार्श्व गोपाल शास्त्रीने करके प्रकाशित कराई थी, उसकी सहायता लेकर हिन्दी ज्ञाता पाठकोंके लाभार्थ इसकी बड़ी टीका छंद सहित रोहतकके चौमासेमें पूर्ण की गई।

इसके सम्पादनकर्ता परम तत्वज्ञानी परम योगी श्री अमितगति आचार्य हैं जिन्होंने ३२ श्लोकोंका छोटा सामायिक पाठ भी रचा था। वह भी इस पुस्तकके साथमें प्रकाशित है। यह आचार्य बड़े भारी दिग्गज विद्वान थे। आपने बहुतसे ग्रंथ रचे हैं। उनमेंसे धर्मपरीक्षा, सुभाषितरत्नसंदोह, योगसार, पंचसंग्रह व श्रावकाचार मुद्रित होचुके हैं। आप विक्रमकी ११वीं शताब्दीमें मालवाके नृपति राजा मुंजके समयमें हुए हैं। धर्मपरीक्षा ग्रंथको आपने विक्रम सं० १०७० में समाप्त किया था। आचार्यके वचन बिलकुल निष्पक्ष व जिनवाणीके सारको लिये हुए हैं। यह बृहत्

सामायिकपाठ व सत्वभावना वैराग्य व आत्मज्ञानका मनोहर उपवन है। जो इसमें रमण करेंगे उनको अलौकिक आनन्दका स्वाद आवेगा। जो भाई व बहिन ध्यान व सामायिकमें अधिक समय लगाना चाहें उनको १२० श्लोक प्रति सामायिकके साथ पढ़कर मनन करना चाहिये। यदि संस्कृतका अर्थ न भासे तो १२० गाथा-छंदोंको ही पढ़कर जिनवाणीका रहस्य जानना चाहिये। स्वाध्यायकर्ताओंके लिये भी यह बहुत उपयोगी है। भंडारोंमें इसकी प्रति संग्रह करना योग्य है। चौरई (छिंदवाड़ा) निवासी सेठ खुशालचंदजीने इसे जैनमित्रके पाठकोंको भेंटमें देकर परम पुण्यका लाभ किया है।

लाहौर
पौष सुदी ८ वीर सं० २४५६
ता० ८-१-१९३०

जैनधर्म प्रेमी—
ब्र० सीतलप्रसाद।

सुज्ञ पाठकवृन्द! आपके करकमलोंमें यह धार्मिक ग्रन्थ प्रस्तुत है जिसके उपहारदाता श्रीमान् सेठ खुशालचन्दजी चरनागरे जैन चौरई निवासीका सचित्र संक्षिप्त परिचय उपयोगी होनेसे आगे प्रकट किया जाता है। यद्यपि इस ग्रन्थके टीकाकार श्री० ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीने यह ग्रन्थ २४६४ के चातुर्मासमें रोहतकमें तैयार किया था परन्तु उसके बाद आप चौरई पधारे और वहां श्री० सेठ खुशालचन्दजी चरनागरे जैनको इसको बताया तो आपने इसे अतीव उपयोगी जानकर अपनी ओरसे छपवाकर इसे "जैनमित्र" के ३० वें वर्षके ग्राहकोंको उपहारमें देनेकी स्वीकारता उसी समय देदी थी। इसलिये यह ग्रन्थ 'जैनमित्र' के ३०वें वर्षके उपहार स्वरूप प्रकट किया जाता है। ऐसा अनुपम शास्त्रदान करनेवाले श्री० सेठ खुशालचन्दजीको हम कोटिशः धन्यवाद देते हैं व अन्य श्रीमानोंको आपके इस शास्त्रदानका अनुकरण करनेके लिये अनुरोध करते हैं।

इस ग्रंथकी कुछ प्रतियां विक्रीके लिये अलग भी इसलिये निकाली गई हैं कि 'जैनमित्र' के ग्राहकोंके अतिरिक्त अन्य जनता भी इसका लाभ उठा सके। निवेदक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया—प्रकाशक।

कृपया इस ग्रन्थको शुद्ध करके फिर पढ़े।

शुद्धाशुद्धि।

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१	१६	लिय	हिय
१२	२	काला:	काल:
१४	९	निर्मित	निमित्त
१५	४	सामग्री विना	सामग्री विना, विना
२५	२	व पदार्थ	व मनोज्ञ पदार्थ
,,	२३	निश्चयनयको भी	निश्चयनयको कभी
३०	१	अरु	जन
,,	२	हम	इम
,,	६	अथ	व्यर्थ
३३	८	भवगम्य	मवगम्य
,,	१३	रेकश्निनोति	रेफश्निनोति
,,	,,	बिरुपवेप	विरूपवेष
,	१४	मर्त्यै.	मर्त्यै
३६	,,	सतय	सत्पथं
४९	१२	मन्हेधनम्	महेन्धनम्
५६	१०	नत्सरुपा	तत्स्वरूपा
६६	८	मरणको	मरण
७६	१९	मुलापम	मुलायम
७७	६	तदन्द्रजाले	नदिन्द्रजाले
१०१	१९	दृष्ट	इष्ट
११०	१८	पहले तो	'पहले तो' इसके बाद पृ० ११७ लाइन ९ में 'इसका भाव'से लेकर लाइन २३ तक पढ़ें

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१११	२	स्थ न लान	स्थान लाभ
११२	११	यह न	यह
"	२२	सामाक्रिक	सामायिक
११७	९	नहीं दिखता	'नहीं दिखता'के वादकी पत्तियें छोड़ कर पृ० ११८ से पढ़
११८	१	न जन	जब तक किसीको दखा न जावे
१२०	१२	क८	कष्ट
१२८	१७	अनादि	अनादि
१२७	२६	अ न्द	आनन्द
१३०	२३	विमूना	विभूना
१३	१९	याव	याव
१३७	१९	पर भवों	पर भावों
१६२	२	वु द्ध	वृद्धि
१६२	८	गावों	भावों
१७२	५	या निज	पा निज
"	१०	वाणि ज्योग	वाणिज्य योगी
"	१३	शाख	शास्त्र
१८१	६	भीलोंको	भीलोंकी
"	८	भ ई	भई
"	१३	कम्त्र	कम्प
१८६	१८	त्वाद	स्वाद
१८९	१२	अमहित	आत्महित
१९२	१५	भयमति	भयभीत
"	१६	सुखस्वन	सुक्ख न
२०४	९	इस गति	इस जगत
२२१	१६	मूत्यर्थ	मूत्यर्थ

संक्षिप्त जीवनपरिचय-

श्रीमान् सेठ खुशालचंदजी चरनागरे-चौरई नि०

जैनमित्रके ग्राहकोंकी सेवामें जो उपहार ग्रंथ उपस्थित है, उसके दाता श्री० सेठ खुशालचंदजीका संक्षिप्त परिचय नीचे प्रगट किया जाता है। आपका जन्म विक्रम सं० १९१६ में हुआ था। आपके पिता श्रीमान् खेमकरन साह चरनागरे (तारन-पंथी) जैन जातिके थे। आपका धर्मकी ओर विशेष लक्ष रहता था तथा धार्मिक श्रद्धा भी आपकी अटल थी। आपकी स्थिति साधारण थी, सिर्फ कपडेका ही व्यवसाय करते थे और उसीमें संतोष करते थे। सिर्फ आपको विशेष चिंता यही थी कि यहां धर्मसाधनका कोई विशेष स्थान नहीं है, उसीकी पूर्ति की जाय। काल पाकर आपने समाजसे इस बातका अनुरोध किया और उसमें अपनी ओरसे ५००) का दान करके बाकी समाजको उत्साहित कर सं० १९२८ में चैत्यालय बनवानेका कार्य प्रारंभ कर दिया और सं० १९३० में पूर्ण करके पूजा प्रतिष्ठा कराई। आपने अपने इकलोते पुत्र सेठ खुशालचन्दजीको थोड़ी ही शिक्षा प्राप्त करनेके बाद गृहकार्योंका तथा लौकिक शिक्षाका ज्ञान प्राप्त करा दिया था और इसी कारण आप गृहकार्योंसे निश्चिन्त होगये थे। तथा अपना शेष जीवन धर्मसाधनमें आनंदपूर्वक व्यतीत करते हुए वैसाख शुक्ला ३ सं० १९४४ में आपने कुटुम्बसे मोहको त्याग कर सदैवके लिये प्रस्थान कर दिया।

पिताके स्वर्गवास होजानेसे सेठ खुशालचन्दजीको सारा

श्रीमान् सवाई सेठ खुशालचन्द्रजी जैन-चौरई (छिंदवाड़ा)

"जैनविजय" प्रेस सूरत ।

गृहस्थीका भार आपका, जिसे आपने कुशलता-पूर्वक संभाला। आप उद्योगी थे—व्यवसाय बढ़ानेमें तत्पर होगये और व्यापारमें कुशल होकर आपने अपनी संपत्ति बहुत अधिक करली। अब सिर्फ साहुकारीका व्यवसाय करते हैं।

आपकी जिनवाणीपर अटल श्रद्धा है। निरंतर शास्त्र-स्वाध्याय तथा मनन करते हैं। इसी कारण आपको साधारण ज्ञान अच्छा है। सामायिक आदि नित्यप्रति करते हैं और व्रतादिक अपनी वृद्ध अवस्थाके होनेपर भी अभीतक करते जाते हैं। आपने रत्नत्रय व्रत सब गृहस्थीके कार्योंको छोड़कर ३ दिन मंदिरमें ही बैठकर ३ उपवासों सहित किया था और दसलाक्षण, सुगंधदशमी आदिके व्रत भी आपने मन बचन कायकी शुद्धता-पूर्वक किये हैं तथा अभीतक भी करते जाते हैं।

आपने तीर्थयात्रा श्री सम्मेदशिखर, चंपापुर, पावापुर, गिर-नारजी आदि सिद्धक्षेत्रोंकी २-३ बार की हैं और रियासत टोंक सेमरखेड़ीमें जहां तारणस्वामीका ध्यान धरनेका स्थान है (यह स्थान तारणपंथी आम्नायका पूज्य तीर्थ माना जाता है) वहां आपने १ मंदिर और धर्मशाला बनवाई। और सं० ७७ में वहां ६ संगको निमंत्रण देकर पूजा प्रतिष्ठा कराई थी। वहां जनसमूह भी बहुत इकट्ठा हुआ था जिसका योग्य प्रबंध राज्यकी ओरसे आपने अपने खर्चेसे कराया था और संगठनका विशेष जोर देकर ६ संगको एकत्रित करके बेटीव्योहार और खानपानका व्यवहार चालू करनेका प्रस्ताव रखा था। तथा दूसरी बार वार्षिक उत्सवमें आपने जोरोंसे विपक्षियोंका विरोध करते हुए सफलता प्राप्त की

थी। जो अब उह संगमें बेटी व्यवहार और खानपान चालू है वह आपके ही अति परिश्रमका फल है।

आपने सं० १९७७में सहकुटुम्ब तीर्थयात्रा करते हुए सेमरखेड़ीके मंदिरको विमान, छत्र, चंमर, छड़ीमाला आदि उपकरण प्रदान किये थे। चौरईमें भी शिखरबंद मंदिर बनवाया है और संगमरमरकी जड़ाउ वेदी भी लगवाई है। व यहां दो समय प्रतिष्ठा कराई इस कारण समाजने आपको सेठजीकी पदवीसे भूषित किया है। आपका समाजमें अच्छा सन्मान है। आप इस प्रांतके समाज-मान्य श्रेष्ठ पुरुष है। आपका लक्ष विशेष धर्म और समाज सगठनकी ओर रहता है। आपको दिगम्बर जैन धर्मसे विशेष प्रेम है तथा शक्त्यनुसार हमेशा संस्थाओंको तथा दीन दुखियों आदिको दान करते रहते हैं व धार्मिक कार्योंमें सदैव देते रहते है। अभी हालमें आपने ललितपुरके चेत्यालयमें सहायता दी थी तथा राजगृहीके दिगम्बर जैन मंदिरमें भी सहायता पहुंचाई। वड़नगरमें अनाथ बालकोंके रहनेके लिये १ कोठरी बनवानेके लिये द्रव्य दिया है। जब मुनि श्री सूर्यसागरजी महाराजका आगमन सिवनीमें हुआ था तब उनके समक्ष अहिंसा प्रचारणी सस्था खोली गई थी, जिसमें आपने ३००) रु० का दान दिया था और वह संस्था अभी तक चालू है। यह सस्था देवी देवताओं पर बलिहिंसा रोकनेका प्रयत्न करती रहती है। आपने अपने यहांके मंदिरोकी योग्य व्यवस्था कर दी है। जिसमें १ मोजा, जुरत रा०।-)४ और खेती १३००)की; १ बाड़ा कुंड़ाके मंदिरोको अमराई दे दी है। जिससे मंदिरोंका काम सुचारु रूपसे चलता रहे। इसका

व्यवस्था भी श्री रिषभदेवके नाम पर कर दिया है। अब सेठजीकी आयु करीब ७० वर्षकी हो चुकी है। आपके ३ विवाह हुए लेकिन पहली स्त्रीसे ही सिर्फ १ पुत्र हुआ था जो ९ दिन ही में अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करके चल बसा था। बादमें कोई संतान नहीं हुई। अब आपकी सिर्फ सहधर्मिणी ही हैं। आपकी सदैव यही इच्छा रहती है कि जो द्रव्य है उसका सदुपयोग हो। आपका विचार है कि तारण स्वामी कृत जो शास्त्र हैं उनकी टीका आज तक नहीं हुई है, जिससे हम उनके सदुपदेशोंको समझ नहीं सके। अगर उनकी भाषा टीका हो जावे तो ठीक है। हमारी भावना है कि सेठजीसे धार्मिक तथा सामाजिक कार्य होते रहें। जिससे धर्म तथा समाजका कल्याण हो और सदा धर्मकी ओर प्रवृत्ति रहे व आपकी दीर्घायु हो। समाज सेवक–

सिंघई पन्नालाल जैन–चौरई (छिंदवाड़ा)
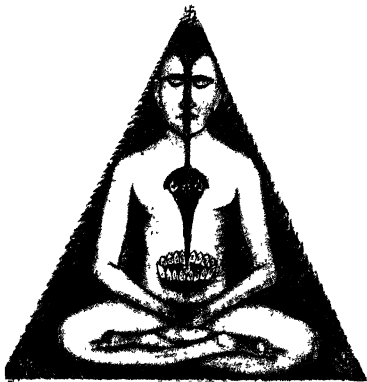
आग्नेयधारणा

URARI ART PRESS DELHI

श्रीअमितगति आचार्यकृत--

तत्त्वभावना

या

बड़ा सामायिक पाठ।

मङ्गलाचरण-दोहा।

अर्हत्सिद्धाचार्यको, वंदि साधु गुणदाय।
जिनवाणी वृष चैत्यजिन, मंदिर नमूं सुध्याय ॥ १ ॥
परमातम सम आपको, ध्याय सुगुण उर लाय।
समताभाव प्रकाशके, आतम सुख झलकाय ॥ २ ॥
सामायिकके भावको, कर प्रकाश निज ज्ञान।
भव्यजीव भी रस पियें, यह उपकार पिछान ॥ ३ ॥
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना सार।
बालबोध भाषा करूं, भवदधि तारणहार ॥ ४ ॥
सन्मति वीर सुवीरको, वर्द्धमान महावीर।
गौतम गुरु कुन्दादिको, सुमरौं हिय धरि धीर ॥ ५ ॥

उत्थानिका-पहले ही चलनेमें जो हिंसा हुई उसका पश्चा-त्ताप करते हैं-

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

एकद्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतयो ये पंचधावस्थिताः ।
जीवाः संचरता मया दशदिशश्चित्तप्रमादात्मना ॥
ते ध्वस्ता यदि लोढिता विघटिताः संघट्टिता मोटिताः ।
मार्गालोचनमोचिना जिन! तदा मिथ्यास्तु मे दुष्कृतम् ॥१॥

अन्वयार्थ–(जिन) हे जिनेन्द्र! (चित्तप्रमादात्मना) प्रमाद या आलस्य या असावधानता या कषाय सहित चित्तको करके (मार्गालोचनमोचिना) मार्ग या पथको देखना छोड़कर (दशदिशः संचरता) पूर्वादि दश दिशाओंमें चलते हुए (मया) मेरेसे (एकद्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतयः) एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेंद्रिय, आदिक अर्थात् चौन्द्रिय व पंचेंद्रिय (ये) जो (पंचधा) पांच प्रकारसे (जीवाः) संसारी जीव (अवस्थिताः) शास्त्रमें स्थापित किये गए हैं (ते) वे जीव (यदि) यदि (ध्वस्ताः) नाश किये गए हों (लोढिताः) उलट पुलट किये गए हों (विघटिताः) अलग अलग कर दिये गए हों (संघटिताः) मिला दिये गए हों (मोटिताः) पैरोंसे रौंदे गए हों (तदा) तो (मे) मेरा (दुष्कृतम्) यह पाप (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो।

भावार्थ–सामायिक करते समय पिछले किये गए पापोंको याद करके प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप इसीलिये किया जाता है कि जिसमें आगेके लिये उस पापसे बचा जावे। अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि चार हाथ ज़मीन आगे देखकर चला जावे। मुनिगण महाव्रती होते हैं वे दिनके प्रकाशमें प्राशुक रौंदी हुई ज़मीनपर ही चलते हैं और बड़ी भारी सावधानी रखते हैं कि मेरे द्वारा कोई छोटा बड़ा वृक्ष भी रौंदा न जावे, कोई छोटा कीड़ा

भी पैरोंके नीचे न आजावे। फिर भी साधन अवस्थामें किसी समय सावधानी न रहनेसे कोई जंतु कदाचित् पैरके नीचे दबकर मरजाय, या उलट पलट होजावे, अथवा शरीर, जमीन, कमंडल आदिको मुलायम पींछीसे पोंछते हुए कोई जंतु जो मिले थे अलग२ कर दिये जावें, व कई जो अलग थे वे मिला दिये जावें व दबाए जावें इत्यादिक कारणोंसे प्रमाद हेतु होनेसे हिंसा सम्बन्धी पापका बंध संभव है। उस पापके बंधको छुड़ानेके लिये मुनिगण इस तरह विचारकर भावना भाते हैं। इस भावनासे, पाप कर्म जो बंध चुका है उसकी स्थितिमें व उसके अनुभागमें कमी होजाती है। श्रावकोंमें आरंभ त्यागी आठमी प्रतिमासे उद्दिष्ट त्यागी ग्यारमी श्रेणी तकके श्रावक हिंसासे बचनेमें बहुत ही सावधान होते हैं। वे स्वयं हिंसाकारक आरम्भ नहीं करते हैं, न कराते हैं। इसलिये ये श्रावक भी मुनिके समान किसी सवारीपर नहीं चढ़ते हैं–मार्गको देखकर चलते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमावाले ऐलक मुनि समान व्यवहार करते हैं; इसलिये रात्रिको न चलते हैं न बोलते हैं। उससे पहलेके श्रावक अति आवश्यक्ता हो तो धर्मकार्यवश प्रकाशमें मार्गको देखते हुए चलते हैं। आठमीसे नीचेके श्रावक आरम्भ त्यागी नहीं होते हैं। उनसे हिंसा अधिक होजाती है। वे आरंभी हिंसासे बच नहीं सक्ते तथापि यथासंभव आरम्भ व्यर्थ व अनावश्यक नहीं करते। आवश्यक आरंभ करते हुए भी जीवदया भावोंमें रखते हैं। यथासंभव जीवघात बचाते हैं। युद्धमें सामना करनेवालेको ही प्रहार करते हैं। भागते हुएको, शरणमें आए हुएको, घायलको, स्त्रीको, बालकको नहीं सताते हैं।

खेतीमें भी जान बूझकर किसीको नहीं मारते हैं। व्यापारमें भी पशुओंपर अधिक भार लादकर कष्ट नहीं देते हैं। सवारीपर चलते हुए अधिकतर रौंदे हुए मार्गपर सवारीको ले जाते हैं। पैदल चलते हुए अपनी आंखोंसे देखकर चलते हैं। तौभी आरंभी श्रावकसे बुहारी देते हुए, घरके काम करते हुए, माल उठाते धरते हुए, मकानादि बनवाते हुए बहुत अधिक जीवहिंसा होजाती है। यहां इस श्लोकमें मात्र चलते समय जो हिंसा होती है उसीकी मुख्यता है। हिंसासे लगे हुए पाप-रसको घटानेका विचार ऐसे श्रावक भी करते हैं जिससे आगेके लिये उनके व्यवहारमें अधिक सावधानी होजावे। जो मानव किसी कर्मको छोड़ नहीं सक्ता है परंतु निरंतर विचारता है कि यह कर्म छोड़ देने योग्य है वह कभी न कभी छोड़ भी देगा व उसे कम करता जायगा। इसलिये हिंसा त्यागकी भावना हरएक मुनि व श्रावकको करना उचित है। यह पाठ सर्व ही प्रकारके धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका द्वारा मनन करने योग्य है। हिंसा हुई हो उसका पश्चात्ताप अहिंसा पालनमें सावधान करनेवाला होता है।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता।

हे श्री जिनेन्द्र! प्रमाद चित्त हो मार्गको देखे बिना।
दश दिश भ्रमण करते विराधे पंच विध जंतू घना॥
जो एक द्वै त्रय आदि इन्द्रिय दलमले छिनमिन किये।
उलटे तथा पलटे मिलाए, पाप मिथ्या होंय ये॥ १॥

उत्थानिका—हमारा समय शुभ कार्योंमें वीते ऐसी भावना करते हैं—

अर्हद्भक्तिपरायणस्य विशदं जैनं वचोऽभ्यस्यतो।
निर्जिह्वस्य परापवादवदने शक्तस्य सत्कीर्तने॥
चारित्रोद्यतचेतसः क्षपयतः कोपादिविद्वेषिणः।
देवाध्यात्मसमाहितस्य सकलाः सर्प्यंतु मे वासराः॥२॥

अन्वयार्थ–(देव) हे जिनेन्द्रदेव (मे) मेरे (सकलाः) सर्वे (वासराः) दिवस (अर्हद्भक्तिपरायणस्य) अर्हतकी भक्तिकी लीनतामें (विशदं) निर्मल (जैनं वचो) जिनवाणीके (अभ्यस्यतः) अभ्यास करनेमें, (परापवादवचने) दूसरोंकी निन्दा कहनेमें (निर्जिह्वस्य) जिह्वा रहित रहनेमें अर्थात् दूसरोंकी निन्दा न करनेमें (सत्कीर्तने) संत पुरुषोंके गुणोंके वर्णनमें (शक्तस्य) अपनी शक्ति लगानेमें (चारित्रोद्यतचेतसः) चारित्रके लिये उद्यमी चित्त रखनेमें (कोपादिविद्वेषिणः) क्रोध आदि शत्रुओंको (क्षपयतः) क्षय करनेमें तथा (अध्यात्मसमाहितस्य) आत्माके भीतर भले प्रकार लीन होनेमें (सर्प्यंतु) वीतें।

भावार्थ–यहां मोक्षार्थी सुख शांतिको चाहता हुआ व स्वाधीनताके मनोहर वनमें रमनेकी उत्कंठा करता हुआ, सुख शांति व स्वाधीनताके निमित्त कार्योंमें नित्य लगे रहनेकी भावना करता है। साधक शिष्यका प्रयोजन अपने भावोंमेंसे क्रोधादि कषायोंके मैलको कम करके शांति, क्षमा, वैराग्य, आत्ममनन, आत्मानुभव आदि शुभ तथा शुद्ध भावोंका प्राप्त करना है। इस मतलबको ध्यानमें लेकर जिनकी संगति करनेसे व जिस क्रियाके करनेसे वह मतलब सिद्ध हो उसमें अपने मनको जोड़ता है। और जिनकी संगतिसे व जिस क्रियासे क्रोधादि कषाय बढ़ें व संसारसे मोह अधिक हो आवे उनसे

बचता है। जैनधर्मके सेवनका यही प्रयोजन है। यह धर्म सुख-शांतिमय है तथा सुखशांतिको देनेवाला है। इस धर्ममें वही देव पूजने योग्य है जो सर्वज्ञ, वीतराग व आनन्दमई है। वही शास्त्र माननेयोग्य है जिसमें सुखशांति पानेका उपाय यथार्थ बताया हो। वही गुरु वन्दने योग्य है जो आत्मज्ञानी, वैरागी व सुखशांतिका भोगनेवाला है। वही मनन व ध्यान कार्यकारी है जो सुख व शांति प्रदान करे। इसलिये साधकने नीचे लिखे कार्योंमें लगे रहनेकी भावना की है। (१) श्री अर्हतकी भक्ति व पूजा व गुणोंका स्मरण; क्योंकि यह भक्ति अवश्य परिणामोंको शांत करदेती है। (२) जिन-वाणीका पढ़ना; क्योंकि इससे अज्ञान और अशांति मिटती है। (३) दूसरोंकी निन्दा न करना; क्योंकि जिसकी आदत परनिन्दाकी पड़ जाती है वह दूसरोंके औगुणोंको ढूंढ़ा करता है। उसका उप-योग अपनी उन्नतिमें दृढ़ नहीं होता है व वह स्वयं औगुणवाला होजाता है। (४) धर्मात्माओंके गुणोंका वर्णन; क्योंकि ऐसे गुणोंके कथनसे मन उन गुणोंके लाभमें उत्साही होजाता है। (५) चारि-त्रके लिये उत्साही होना व उद्यम करना; क्योंकि रागद्वेषके हटा-नेका उपाय मुनि व श्रावकका चारित्र पालना है। भीतरी चारित्र आत्मस्वरूपमें लीनता है, उसका निमित्त साधक व्यवहारमें महाव्रत व अणुव्रतका पालन है। (६) क्रोधादि शत्रुओंको नाश करना। वास्तवमें जितना इनका अभाव होगा उतना अपना आत्माका स्वभाव प्रकाश-मान होगा। (७) आत्मस्वरूपमें लीनता या अनुभव; क्योंकि यही स्वात्मानुभव वास्तवमें सुखशांतिको साक्षात् देनेवाला है। जो मानव सच्चे दिलसे इन सातों बातोंको चाहता है, इनके साधनके

लिये उपाय किया करता है वही सुखशांतिको पाता हुआ मोक्षमार्ग-पर चलनेवाला है। जैन मंदिरोंमें जो नित्य पूजाके पीछे शांतिपाठ पढ़ा जाता है उसमें भी इसी तरहकी भावना बताई है। जैसे—

> शास्त्राभ्यासो जिनपदनुतिः संगतिः सर्वदार्य्यैः।
> सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्॥
> सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे।
> सम्पद्यन्तां मम भव भवे यावदेतेऽपवर्गः॥

भावार्थ–जबतक मोक्ष न हो तबतक भव भवमें इतनी बातें प्राप्त हों (१) शास्त्र पठन (२) जिन भक्ति (३) सत् पुरुषोंकी संगति (३) सुचारित्रवालोंके गुणोंकी कथा (५) परनिन्दा न करना (६) सबसे प्यारे मीठे वचन बोलना (७) आत्मतत्वमें विचार रहना।

जहांतक आत्मतत्त्व भले प्रकार न जाग्रत हो वहांतक व्यवहार धर्ममें देव शास्त्र गुरुका आराधन करते ही रहना चाहिये। श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशतिमें इस तरह कहते हैं—

> देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे।
> सर्वे भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात्॥
> अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुणाः।
> स्फारीभूतमतिप्रबंधमहतामात्मैव तत्त्वं परम्॥

भावार्थ–हम व्यवहार धर्ममें चलते हुए अत्यन्त भक्तिवंत हो जिनेन्द्रदेवको, उनकी मूर्तिको, मुनीश्वरको व शास्त्र आदि सर्वको मानते हैं अर्थात् इन सबकी सेवा किया करते हैं। परन्तु जब हम रत्नत्रयकी एकता अर्थात् समताभावका आश्रय करेंगे और हमारे भीतर चैतन्य तत्त्व प्रगट होकर बुद्धि विशाल होजायगी तब हमारे

लिये निश्चयसे एक आत्मतत्त्व ही देव, गुरु या शास्त्र होजायगा। इस प्रकार साधकको व्यवहार धर्मकी भावना निश्चयधर्मके लाभके लिये करते रहना चाहिये ।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द ।

हे देव ! श्री जिन भक्ति करते जैन वच अभ्यासते ।
निन्दा न करते अन्यजन की साधु गुण सुप्रकाशते॥
चारित्र चितमें चाहते क्रोधादि शत्रु निवारते ।
बीतें दिवस मेरे सभी अध्यात्म अनुभव धारते ॥ २ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मेरे चारित्रमें जो दोष लगे हों वे व्यर्थ होवें–

आलस्याकुलितेन मूढमनसा सन्मार्गनिर्णाशिना ।
लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना ॥
यद्देवाचरितं विरुद्धमधिया चारित्रशुद्धेर्मया ।
मिथ्या दुष्कृतमस्तु भो जिनपते! तत्त्वत्प्रसादेन मे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ–(देव) हे भगवन् (आलस्याकुलितेन) आलस्यसे भरकर व (मूढमनसा) मनमें विवेकको छोड़कर मूर्खता धारके (सन्मार्गनिर्णाशिना) मोक्षमार्गकी विराधना करते हुए (लोभ-क्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना) व अपने आत्माको क्रोध, लोभ, मान, असावधानी, कामभाव, द्वेष आदिसे लिप्त करके (मया) मुझ (अधिया) निर्बुद्धिके द्वारा (यत्) जो कुछ (चारित्रशुद्धेः) चारित्रकी शुद्धतासे (विरुद्धम्) विपरीत (आचरितं) आचरण किया गया हो (भो जिनपते !) हे जिनेन्द्र भगवान ! (त्वत्प्रसादेन) आपके प्रसादसे (तत्) वह (मे) मेरा (दुष्कृतम्) दुष्कृत या पाप या दोष (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो ।

भावार्थ-यहांपर भी प्रतिक्रमणका भाव झलकाया गया है। जहांतक कषायोंका अभाव न हो अर्थात् वीतरागी न होजावे वहांतक कषायोंका जोर कभी कम व कभी अधिक होता रहता है। जिससमय परिणाममें कषाय मंद होती है तब ही भावोंमें शांति, विवेक, बुद्धिमानी झलकती है। तब वह मानव मुनि हो या श्रावक अपने धारण किये हुए चारित्रके नियमोंमें बहुत बड़ा सावधान रहता है। और मन, वचन, कायसे कोई दोष नहीं लगने देता है। परन्तु जिससमय किसी निमित्तवश परिणाममें लोभका कुछ जोर होजावे या क्रोधका वेग उठ आवे या मानभावसे अंधेरा होजावे या आलस्य होजावे या द्वेषबुद्धि पैदा होजावे या कामभावसे बावला होजावे उस समय मनमें अशांति, अज्ञान और मूढ़ता कम व अधिक घर कर लेती है। तब उसी मुनि व श्रावकसे चारित्रके पालनमें बहुतसे दोष लग जाते हैं। कदाचित् काय व वचन सम्बंधी न हों व बहुत ही अल्प हों परंतु मानसिक दोष तो हो ही जाते हैं। इसीलिये प्रतिक्रमण किया जाता है। जिसमें यह भावना भाई जाती है कि वे दोष दूर हों व उनसे लगा हुआ पाप क्षय होजावे या कम होजावे। श्री जिनेन्द्र भगवानके गुण परम पवित्र हैं। इसलिये उनके निर्मल गुणोंके स्मरणसे परिणाम निर्मल होजाते हैं और पवित्र भावोंमें यह शक्ति है कि पापोंका नाश कर डालें। जैसे स्थूल शरीरमें बहुत सावधानीसे हवा, पानी व भोजन लेते हुए व समयमें भोजनपान, नीहार, विहार व निद्रा लेते हुए कभी भी किसी न किसी बातमें भूल होजाती है। अनिष्ट भोजन जबानके स्वादवश खालिया जाता, रात्रिको देरतक जागकर निद्रा कम लीजाती, व कामकाजमें

उलझ जानेसे बेसमय भोजन किया जाता, व अधिक स्त्री-प्रसंग किया जाता इत्यादि अपनी ही भूलोंसे छोटे या बड़े रोग पैदा होजाते हैं। तब गृहस्थ लोग उनके दूर करनेके लिये औषधियां काममें लेते हैं कि वह रोग शीघ्र मिट जावे, अधिक न बढ़े जिससे कि शरीर बेकाम होजावे। इसी तरह मुनि या श्रावक बड़ी सावधानीसे अपना आचरण पालते हैं तथापि कभी कभी किन ही बाहरी कारणोंके वश होकर चलनेमें देखनेका प्रमाद होजावे, बोलनेमें कठोर व कषाय युक्त वचन निकल जावे, भोजनमें स्वादिष्ट पदार्थकी लालसा होजावे, किसी स्त्रीको देखकर मनमें विकार होजावे, असुहावनी कृतिको देखकर मनमें अरतिभाव आजावे, सामायिक करते हुए धर्मध्यान न होकर किसी कारणसे आर्तध्यान होजावे इत्यादि दोष होजाना संभव हैं। तब वह मुनि या श्रावक प्रतिक्रमण करके तथा परमात्माके पवित्र गुणोंका स्मरण करके अपने भावोंको निर्मल करता है, मानों दोषोंके रोगोंको हटानेके लिये औषधि पीता है। ऐसा करनेसे दोषरूपी रोग मिटते रहते हैं, बढ़ने नहीं पाते। और वह आगामीके लिये सावधान रहता है। वास्तवमें यह प्रतिक्रमण एक तरहका स्नान है जो मनके मैलको व आत्माके पापोंको धोदेता है।

श्री पद्मनंदि मुनिने आलोचना पाठमें ऐसा ही कहा है:—

पापं कारितवान्यदत्रकृतवानन्यैः कृतं साध्विति ।
भ्रांत्याऽहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च ॥
काले संप्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुनः ।
तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते ! स्वं निंदतस्ते पुरः ॥७॥

भावार्थ–हे जिनेन्द्र ! जो मैंने अपने मन वचन कायके द्वारा इस समयतक पाप किया हो, कराया हो व दूसरोंसे किये जानेपर उसे भ्रमबुद्धिमें पड़कर भला माना हो ऐसे नव तरहके दोष जो पहले लगे हों व अब लगते हों व आगे लगेंगे उन सब दोषोंका नाश हो । मैं आपके सामने अपनी निन्दा कररहा हूं ।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता ।

हे देव ! आलस ठान हो अविवेक वृषपथ नासिया ।
कर क्रोध लोभ प्रमाद मान कु काम द्वेष प्रकाशिया ॥
चारित्र शुद्ध विरुद्ध जो कुछ धो रहित मैंने किया ।
जिनराज ! तव परसादसे हो नाश मैं अघ बांधिया ॥३॥

उत्थानिका–आगे भावना करते हैं कि मेरा समय धर्मध्यान व रत्नत्रयकी एकतामें वीते—

जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषो बंधास्रवौ रुंधतः ।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिप्रियं कांक्षतः ॥
देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो ।
धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो ॥४॥

अन्वयार्थ–(प्रभो) हे प्रभु ! (जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषः) जीव और अजीव पदार्थोंको जानते हुए (बंधास्रवौ रुंधतः) आस्रव और बंधको रोकते हुए (शाश्वत्) निरंतर (संवरनिर्जरे विदधतः) संवर और निर्जराको करते हुए (मुक्तिप्रियं कांक्षतः) मोक्षरूपी प्रियाकी चाह रखते हुए (देहादेः) शरीर आदि पर पदार्थोंसे भिन्न (अमलं) निर्मल (परमात्मतत्वं) परमात्माके स्वरूपको (तत्वतः) यथार्थ रूपसे (पश्यतः) अनुभव करते हुए और (धर्मध्यानसमाधि-

-शुद्धमनसः) धर्मध्यान और समताभावमें शुद्ध मनको लगाते हुए (मे) मेरा (कालाः) समय (प्रयातु) बीते ॥

भावार्थ—इसमें आचार्यने जैन सिद्धांतके मूलश्लोकभूत सात तत्त्वोंका संकेत करते हुए उनपर श्रद्धानको दृढ़ किया है । तथा उनमें कौन ग्रहण योग्य हैं व कौन त्यागने योग्य हैं इस भेद विज्ञानका स्वरूप निश्चय और व्यवहारनय दोनोंसे बताया है । असल बात यह है कि जिसको सुखशांति पानेकी चाह हो व अपने आत्माको पवित्र करनेकी रुचि हो उसको सात तत्त्वोंको भलेप्रकार समझकर उनपर अपना विश्वास लाना चाहिये । जीव और अजीव तत्त्वमें तो यह समझाया है कि यह लोक जीव और अजीव पदार्थोंका समुदाय है । विना इन दो पदार्थोंको माने हुए संसार और मोक्ष बन ही नहीं सक्ता है । यदि एक मात्र जीव ही पदार्थ होता तो सब जीव शुद्ध अपने स्वभाव हीमें पाए जाते । न कोई अशुद्ध होता न कोई दुःखी होता न शुद्ध होनेके लिये व सुखी होनेके लिये कोई धर्मका साधन करता । क्योंकि जीवका स्वरूप ज्ञान-दर्शन सुख शांतिमय है । यह स्वभावसे सबको जानने देखनेकी शक्ति रखता है, क्रोधादि इसका स्वभाव नहीं है किन्तु शांति इसका स्वभाव है, आनंद भी इसका स्वभाव है । सब ही जीव परमात्म स्वरूप ही उस लोकमें होते यदि एक जीव पदार्थ ही होता और यदि एक अजीव पदार्थ ही होता तो सब कुछ जड़ अचेतन होता फिर कोई जाननेवाला व सुख दुःखको वेदनेवाला नहीं होता फिर कहना सुनना समझना समझाना कुछ भी नहीं होता । सो दोनोंका एकांत नहीं है । जगतमें जीव भी हैं और अजीव भी हैं ।

संसारी जीव सब अशुद्ध हैं; क्योंकि इनमें ज्ञानकी कमी है, क्रोधादि हैं, क्लेश आदि भोगते हैं। यह अशुद्धता इसीलिये है कि इनके साथ कर्मरूपी पुद्गलोंका जो बहुत सूक्ष्म हैं तथा अजीवके पांच भेदोंमेंसे एक है, उनका बंध है। इसीको पाप व पुण्य कर्मका बंध कहते हैं। अजीव पांच हैं–पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। इनमें पुद्गल मूर्तीक है; क्योंकि इसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुण पाए जाते हैं, शेष चार अमूर्तीक हैं। सारी रचना जो हमारी पांचों इंद्रियोंसे मालूम करनेमें आती है पुद्गलसे रची हुई है। हम शरीरसे पुद्गलको छूते हैं; मुखसे पुद्गलको खाते पीते व चवाते हैं, नाकसे पुद्गलको ही सूंघते हैं, आंखसे पुद्गलको ही देखते हैं, कानसे शब्दोंको सुनते हैं जो पुद्गलसे बने हुए हैं। सूक्ष्म पुद्गल इंद्रियोंके द्वारा ग्रहणमें नहीं आते हैं तथापि उनके कार्य प्रगट हैं। उन कार्योंके द्वारा उनका होना समझ लिया जाता है। जैसे कर्म पुद्गल बहुत सूक्ष्म हैं इंद्रियोंसे जाने नहीं जाते परंतु संसारमें जीवोंके भीतर अशुद्धता व दुःख सुखका भोगना देखकर अनुमान लगाते हैं कि पाप व पुण्यका अथवा कर्मोंका बंध है। इस लोकमें जीव और पुद्गल एक दूसरेपर असर डालते हैं, हलन चलन करते हैं, तरह२ के कामोंको करनेवाले ये दो ही बड़े कार्यकर्ता हैं। बहुतसे पुद्गल अपने स्वभावसे काम किया करते हैं, जैसे आगकी गर्मीसे पानीका भाप बनना, बादलोंका गिरकर पानी बरसना, धूप होना, छाया होना आदि काम पुद्गलोंके द्वारा उनके स्वभाव हीसे हुआ करते हैं। बहुतसे कामोंको यह संसारी जीव करता है। जैसे–खेती करना, मकान बनाना, कपड़ा बुनना आदि२। तीसरा

कोई एक ईश्वर करानेवाला नहीं है, न काम करने करानेमें इसकी कोई आवश्यक्ता ही है। घीके सामने अग्नि आनेसे पिघलेगा ही, बर्फके सामने गर्मी आनेसे पानी होगा ही। ईश्वरका इन कामोंमें हाथ है ऐसा कहना व्यर्थ है। ईश्वर निर्विकार, इच्छारहित, परमानन्द मई है, वह किसी वस्तुके बनाने व बिगाड़नेमें दखल नहीं देता है।

जीव और पुद्गल चार काम अपनी ही ताकतसे करते हैं; जैसे— चलना, ठहरना, जगह पाना और अवस्थाओंको बदलना। क्योंकि हरएक कामके लिये खास निमित कारणकी जरूरत है। इसलिये इन चारों कामोंके लिये जैन सिद्धांतने चार द्रव्य माने हैं। जो जीव और पुद्गलोंके चलनेमें उदासीन कारण है वह लोकव्यापी धर्मद्रव्य है। जो जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहकारी है वह लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है। जो सब द्रव्योंको अवकाश देता है वह अनन्तव्यापी आकाशद्रव्य है। जो सब द्रव्योंकी अवस्था बदलनेमें मदद देता है वह कालाणु नामका कालद्रव्य है, जो रत्नोंके समान अलग २ लोकके असंख्यात प्रदेशोंमें तिष्ठा है।

जीव और कर्म पुद्गल इन दो द्रव्योंके सम्बन्धके कारणसे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पांच तत्व व्यवहार किये जाते हैं।

संसारी जीवोंके मन, वचन, कायके कामोंके होते हुए आत्माके प्रदेश कांपते हैं इस कारणसे चारों तरफके कर्म पुद्गल जीवके अच्छे या बुरे भावोंके अनुसार पुण्य या पाप रूपमें आते हैं। इसहीको आस्रव तत्व कहते हैं। ये आए हुए ही कर्मपुद्गल जीवके साथ

जो कार्माण शरीर है उसीमें बंध जाते हैं। यह बंधन किसी नियमित समयके लिये होता है। उस समयके भीतर२ वे अवश्य गिर जाते हैं। जिन कर्मोंके अनुकूल सामग्री होती हैं वे कर्मफल देकर व अनुकूल सामग्री बिना फल दिये भी झड़ जाते हैं।

आस्रव और बंध तत्त्वसे यह ज्ञान होता है कि जीव अशुद्ध कैसे होता है। क्योंकि जबतक परमात्म स्वभावके निकट न पहुंचे तबतक संसारी जीवोंके मन वचन काय काम किया करते हैं और हर समय जैसे पुराने कर्म झड़ते हैं वैसे नए पुण्य या पाप कर्म बंधते भी जाते हैं। यदि आत्माको कर्मबंधसे छुड़ाना हो तो संवर और निर्जरा तत्त्वको समझना चाहिये। कर्मोंके आने और बंधके रोकनेको संवर कहते हैं। संवरके लिये उद्यम करना चाहिये। जिन भावोंसे कर्म बंधते हैं उनको रोकना चाहिये। इस संवरके लिये हिंसादि पांच पाप छोड़कर अहिंसा सत्य आदि पांच व्रत पालना चाहिये, क्रोधादि भावोंको रोककर उत्तम क्षमा आदि दश धर्म पालने चाहिये, आर्त्तध्यान रौद्रध्यान रोककर धर्मध्यान शुक्लध्यान साधना चाहिये, प्राचीन बंधे हुए कर्मोंको अपने समयके पहले व उनका बिना फल भोगे हुए दूर करनेकी रीतिको निर्जरा तत्त्व कहते हैं—तप करनेसे अर्थात् इच्छाओंको रोककर आत्मध्यान व वीतराग भावका अभ्यास करनेसे कर्म झड़ते जाते हैं। सर्व कर्मोंके बंधसे छूटकर आत्माके पवित्र हो जानेका नाम मोक्ष तत्त्व है। मोक्ष अवस्थामें आत्मा सदा अपने ज्ञानानंदका विलास किया करता है। इन सात तत्त्वोंमें अजीव, आस्रव व बन्ध त्यागने योग्य हैं जब कि जीव, संवर, निर्जरा व मोक्ष ग्रहण

करने योग्य हैं । परंतु निश्चयनयसे इन सात तत्वोंमें दोही पदार्थ हैं—जीव और अजीव। इन दोनोंमेंसे जीवको ही ग्रहण करके उसके ही शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना चाहिये इसीलिये आचार्यने कहा है कि जीव अजीवसे भिन्न है ऐसा जानो, आस्रव बंधके कारणोंको रोको, सदा संवर और निर्जराका उपाय करो, स्वाधीनता रूप मोक्ष पानेकी उत्कंठा रक्खो तथा निश्चयनयसे एक अपने ही शुद्ध आत्मतत्त्वको भेद विज्ञानके बलसे रागद्वेषादि भावोंसे भिन्न वीतराग विज्ञानमय विचारो और अनुभव करो । यही मार्ग सुख शांति पानेका तथा कर्मोंके बंधसे छूटनेका है । तबतक हम इस देहमें हैं हमें अपना समय इसी तरह पर बिताकर सफल करना चाहिये । यही मानव जीवनका लाभ है । श्री पद्मनंदि मुनिने आलोचनाके पाठमें मुक्तिपदकी ही भावना की है जैसे—

इन्द्रत्वं च निगोदता च बहुधा मध्ये तथा योनयः।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयानंतशः ॥
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तप्रदाम्।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं तां देव ! पूर्णां कुरु: ॥

भावार्थ–हे देव ! मैंने इस संसारमें चिरकालसे भ्रमण करते हुए इन्द्रपना तथा निगोदपना तथा इनके मध्यकी बहुत प्रकार योनियोंको अनंतबार पाया । इसलिये सिवाय मोक्षके देनेवाले सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमई रत्नत्रयकी पदवीके और कोई वस्तु मेरे लिये अपूर्व नहीं है अर्थात् मैं सिवाय अभेद रत्नत्रयरूप आत्मानुभवके और किसी वस्तुको नहीं चाहता हूं; क्योंकि इसीसे ही मुक्ति प्राप्त होती है । इस कारण आप इसीकी पूर्ति कीजिये ।

वास्तवमें ऐसीर भावना परिणामोंको निर्मल करनेवाली हैं और सुख शांति प्रदान करनेवाली हैं।

मूल श्लोकानुसार छंद गीता।

सत् तत्व जीव अजीव जानत बंध आस्रव रोकते।
करते सुसंवर निर्जरा नित मुक्तिप्रिय अवलोकते॥
देहादिभिन्न सुनिर्मलं परमात्म तत्त्व सुध्यावते।
मम काल बीते हे प्रभो! बुध ध्यान समता पावते॥४॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य वही कर सक्ता है जिसका संसार वास समाप्त होनेको आया है व जो मुक्ति पानेके लिये शीघ्र ही अधिकारी होगया है—

पृथ्वीवृत्त छंद।

कषायमदनिर्जयः सकलसंगनिर्मुक्तता।
चरित्रपरमोद्यमो जननदुःखतो भीरुता॥
मुनीन्द्रपदसेवना जिनवचोरुचिस्त्यागिता।
हृषीकहरिनिग्रहो निकटनिर्वृतेर्जायते॥ ५॥

अन्वयार्थ–(कषायमदनिर्जयः) क्रोधादि कषायोंके मदको जीतना (सकलसंगनिर्मुक्तता) सर्व परिग्रहका त्याग (चरित्रपरमोद्यमो) चारित्रके लिये गाढ़ प्रयत्न (जननदुःखतो भीरुता) संसारके दुःखोंसे भय (मुनीन्द्रपदसेवना) मुनीश्वरोंके चरणोंकी सेवा (जिनवचोरुचिः) जिनवाणीमें रुचि (त्यागिता) सर्व वस्तुका त्याग या एक देश त्याग अथवा दान करना और (हृषीक-हरिनिग्रहा) इंद्रिय रूपी सिंहको वश करना (निकटनिर्वृतेः) जिसके मुक्ति निकट है उस महात्माके (जायते) ये बातें प्रगट होती हैं।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि जिनको संसार-समुद्र तिरनेमें बहुत थोड़ी देर है अर्थात् जो दीर्घकाल तक संसारमें फंसे न रहेंगे और शीघ्र ही मुक्तिको पायेंगे उन महात्माओंको ही वे सब कारण व साधन सहजमें मिल जाते हैं, जो कर्मोंको काटनेवाले हैं। वास्तवमें मुक्तिका साक्षात् साधन निर्ग्रंथ पद है। अर्थात् सर्व परिग्रह रहित साधुपद है। जिसका बाहरी भेष नग्न दिगम्बर है, मात्र पीछी व कमंडल और होता है, जिससे जीवदया पाली जावे और शौचका काम लिया जावे। ये साधु शरीरसे ममताके त्यागी होते हैं, इसी लिये अपने केशोंको हाथसे घासके समान उखाड़कर फेंक देते हैं। तथा ये अहिंसाव्रतके पूर्ण पालक होते हैं इसीलिये चार हाथ प्राशुक भूमि आगे देखकर दिनमें चलते हैं। रात्रिको एक स्थानमें ठहरते हैं। जिनके वचन बड़े मिष्ट, अल्प व शास्त्रोक्त होते हैं। जो शुद्ध भोजन समताभावसे गृहस्थोंको विना किसी प्रकारका कष्ट दिये हुए जो उन्होंने अपने कुटुम्बके हेतु बनाया है उसीका कुछ भाग भक्तिपूर्वक दिये जानेपर लेते हैं। जो निर्जंतु स्थानोंमें मल मूत्र करते हैं व जो किसी वस्तुको देख शोधकर उठाते धरते हैं। ऐसे पांच समितिके पालक हैं, जो विना दिये हुए अपनेसे कभी कोई वस्तु यहांतक कि पानी व फलफूल भी नहीं लेते। जो सत्य वचनोंके सिवाय कभी भी हिंसाकारी असत्य नहीं कहते। जो परम शुद्ध ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे देखते हुए कामभावको अपने मनमें जगह नहीं देते। जो किसी क्षेत्र व रुपये पैसेपर व किसी अन्य चेतन अचेतन पदार्थपर ममत्वभाव नहीं रखते। ऐसे पांच अहिंसादि महाव्रतोंके पालक हैं। जिन्होंने क्रोधादि कषायोंको ऐसा जीत

लिखा है कि सताए जानेपर भी किसीपर द्वेष नहीं करते हैं। अपने शत्रुकी भी आत्माका हित ही चाहते हैं। जो विद्वान् व माननीय होनेपर भी कभी घमंड नहीं करते। कहीं तिरस्कार होजाय तो जरा भी उदास नहीं होते। जो कभी कपट या मायाचार नहीं करते। मनमें जो होता है वही वचनसे कहते, वचनसे कहते वही क्रिया करते हैं। जो लोभके यहांतक त्यागी हैं कि अनेक प्रलोभनोंके कारण मिलनेपर भी वीतराग भावसे नहीं हटते। जिनका निरंतर यह उद्यम रहता है कि हम स्वरूपाचरण चारित्रमें डटे रहें, अपने निज आत्माका अनुभव करते रहें, जिनके मनमें चार गतिरूप संसार महाभयंकर आकुलताका समुद्र दीखता है, सदा यह खटका रखते हैं कि यह मेरा आत्मा कहीं इस गोरखधंधेमें न फंस जावे। जो अपने गुरुओंकी सेवा इसीलिये करते रहते हैं कि गुरु उनके चारित्रकी सम्हाल रखते और उनको सदा मोक्ष मार्गपर भले प्रकार चलनेके लिये उत्तेजना देते व सुधार करते हैं। जो जिनवाणीको तत्वविचारमें परम उपयोगी समझकर उसका निरंतर बड़े प्रेमसे अभ्यास करते हैं। जो अपने आत्मीक शुद्ध भावोंके सिवाय सर्व पर भावोंको त्याग देते हैं या जो निरंतर जीवरक्षा करके अभयदान देते व धर्मोपदेश देकर ज्ञानदान देते हैं व जिनके वशमें पांचों इंद्रियां रहती हैं। इसीसे वे जिन या जितेन्द्रिय होते हैं ऐसे साधु महात्मा भावलिंगी मुनि होते हैं। वे यातो उसी जन्मसे या दो चार दस जन्ममें संसारसे मुक्त होजाते हैं। आचार्यके कहनेका मतलब यह है कि इन सब बातोंको बड़ा दुर्लभ व परम उपयोगी समझना चाहिये और जब इनमेंसे कोई या सब बातें प्राप्त होजावें तो बड़ा उत्तम समय

मानना चाहिये और प्रमाद छोड़कर अपने हितमें दृढ़ रहना चाहिये। जो पुरुषार्थी होते हैं वे ही साधु निजानन्द भोगते हुए अनंत सुखके अधिकारी होजाते हैं।

श्री पद्मनंद मुनि यतिभावनाष्टकमें मुनिका स्वरूप कहते हैं—

आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनम्।
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलीम्॥
ये तिष्ठंति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गता।
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिताः॥ १॥

भावार्थ—जो साधु महाव्रतोंको लेकर, निर्मल आत्माके तत्वको समझकर तथा वनमें जाके सर्व ही मोह कर्मके वशसे पैदा होनेवाले अनेक विकारोंको छोड़ करके मन, श्वासोछ्वास और आत्मा तीनोंकी निश्चलतामें एकतान होते हुए आनंदको भोगते हुए पर्वतके समान कंप रहित रहते हैं वे सर्व परिग्रहके त्यागी निर्ग्रन्थ साधु विजय प्राप्त करते हैं अर्थात् कर्मोको जीतकर परमात्मा, परमेश्वर व परम ब्रह्म होजाते हैं—

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता।

कुकषाय अरिको चूरना अर सब परिग्रह त्यागना।
चारित्रमें उद्यम घना संसार क्लेश निवारना॥
आचार्य पदका सेवना जिनवाणिमें रुचि धारना।
इन्द्रिय विजय अर त्याग हों ढिग मोक्षका जब आवना॥५॥

उत्थानिका—आगे भावना भाते हैं कि सुख दुःख आदिमें मेरा भाव समता भावको भजे क्योंकि यही समता निर्जराका कारण है।

मंदाक्रांता।

विद्विष्टे वा प्रशमवति वा बांधवे वा रिपौ वा।
मूर्खौघे वा बुधसदसि वा पत्तने वा वने वा॥

संपत्तौ वा मम विपदि वा जीविते वा मृतौ वा ।
कालो देव ! व्रजतु सकलः कुर्वतस्तुल्यवृत्तिम् ॥६॥

अन्वयार्थ–(देव) हे जिनेन्द्रदेव ! (मम) मेरा (सकलः) सर्व (कालः) समय (विद्विष्टे वा) मेरेसे द्वेष करनेवालेमें (प्रशमवति वा) अथवा मेरे ऊपर शांत भाव रखनेवालेमें, (बांधवे वा) बन्धुमें (रिपौ वा) अर्थात् शत्रुमें (मूर्खौघे वा) मूर्खोंके समुदायमें (बुधसदसि वा) अथवा बुद्धिमानोंकी सभामें (पत्तने वा) नगरमें (वने वा) अथवा जंगलमें (संपत्तौ वा) धनादिकी प्राप्तिमें (विपदि वा) अथवा आपत्तिमें (जीविते वा) जीनेमें (मृतौ वा) अथवा मरनेमें (तुल्यवृत्तिम्) समान रूप या समता रूप वर्तन (कुर्वतः) करते हुए (व्रजतु) बीते ।

शिखरिणी छंद ।

सुखे वा दुःखे वा व्यसनजनके वा सुहृदि वा ।
गृहे वारण्ये वा कनकनिकरे वा दृषदि वा ॥
प्रिये वानिष्टे वा मम समधियो यांतु दिवसा ।
दधानस्य स्वान्ते तव जिनपते ! वाक्यमनघम् ॥७॥

अन्वयार्थ–(जिनपते) हे जिनेन्द्र (सुखे वा) सुखमें (दुःखे वा) अथवा दुःखमें (व्यसनजनके वा) आपत्तिमें डालने वाले शत्रुमें (सुहृदि वा) अथवा मित्रमें (गृहे वा) घरमें (अरण्ये वा) अथवा जंगलमें (कनकनिकरे वा) सुवर्णके ढेरमें (दृषदि वा) अथवा पाषाणमें (प्रिये वा) किसी प्रिय या मनोज्ञ वस्तुमें (अनिष्टे वा) अथवा किसी अमनोज्ञ वस्तुमें (समधियः) समता बुद्धिको रखते हुए तथा (तव) आपके (अनघम्) पाप रहित या पवित्र (वाक्यम्)

वचनको (स्वान्ते) अपने मनमें (दधानस्य) धारण करते हुए (मम) मेरे (दिवसाः) दिन (यांतु) बीतें।

भावार्थ-इन दो श्लोकोंमें आचार्यने सामायिकके स्वरूपको दिखला दिया है। वास्तवमें समताभावको ही सामायिक कहते हैं। यह समताभाव असलमें तब ही जगता है जब निश्चय नयकी शरण ग्रहण की जावे और व्यवहार नयकी दृष्टिको गौण रक्खा जावे। निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखनेसे हरएक पदार्थका मूल या असली रूप दिख जाता है। यही द्रव्य दृष्टि है, द्रव्यको मात्र उसके असली स्वभावमें देखने वाली है। व्यवहार नय वह दृष्टि है जिससे पदार्थकी भिन्न २ अवस्थाओंको व पदार्थके भेदोंको व असली हालतपर पहुंचनेके साधनोंको व उसके अशुद्ध स्वरूपको देखा जा सके। जैन सिद्धांतने यह आवश्यक बताया है कि दोनों नयोंसे पदार्थोंको देखना चाहिये जैसा कहा है-

व्यवहारनिश्चयो यः प्रबुद्धय तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः सएव फलमविकलं शिष्यः॥

(पुरुषार्थ०)।

भावार्थ-जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोंको समझकर मध्यस्थ या वीतरागी होजाता है या किसी एक नयके पक्षपातसे रहित होजाता है वही जिनवाणीको समझनेके पूर्ण फलको प्राप्त करता है।

यह जगत व्यवहारनय (Practical point of view) से देखते हुए अनंत भेदरूप विचित्र दिखलाई पड़ता है। यह राजा है यह रंक है, यह स्वामी है यह सेवक है, यह धनवान है

यह निर्धन है, यह सुन्दर है यह कुरूप है, यह बलवान है यह निर्बल है, यह विद्वान है यह मूर्ख है, यह गुरु है यह शिष्य है, यह पूज्य है यह पूजक है, यह वंदनीय है यह वंदना करनेवाला है, यह साधु है यह गृहस्थ है, यह शत्रु है यह मित्र है, यह पिता है यह पुत्र है, यह माता है यह पुत्री है, यह बांधव है यह अन्य है, यह पुरुष है यह स्त्री है, यह बालक है यह जवान है, यह वृद्ध है यह शिशु है, यह निरोगी है यह सरोग है, यह हिन्दू है यह मुसलमान है, यह पारसी है यह सिक्ख है, यह जर्मन है यह जापानी है, यह इंग्रेज है यह फरांसीसी है, यह अमेरिकन है यह आफ्रिकावासी है, यह गोरा है यह काला है, यह क्षत्री है यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है यह शूद्र है, यह पर्वत है यह नदी है, यह सूर्य है यह चंद्र है, यह स्वर्ग है यह नर्क है, यह स्वदेश है यह परदेश है, यह भरत है यह विदेह है, यह घर है यह जंगल है, यह वन है यह उपवन है, यह सुवर्ण है यह कांच है, यह रत्न है यह पाषाण है, यह महल है यह स्मशान है, यह फूल है यह कंटक है, यह शय्या है यह भूमि है, यह चांदी है यह लोहा है, यह तांबा है यह मिट्टी है, यह निर्मल है यह मैली है, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद प्रभेद हैं ये सब व्यवहारनयकी दृष्टिमें हैं। यही दृष्टि रागद्वेष मोहका कारण है। जिन चेतन पदार्थोंसे अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, बंधु, पशु आदिसे अपना स्वार्थ सधता है अथवा जिन अचेतन पदार्थोंसे अर्थात् घर, वस्त्र, वर्तन, सामान आदिसे अपना मतलब निकलता है उनसे तो राग होता है तथा

जिन पुरुषोंसे व स्त्रियोंसे अपने स्वार्थ साधनमें हानि पड़ती है अथवा जो घर, वस्त्र, वर्तन या सामान अपने चित्तको कष्टप्रद भासते हैं उनसे द्वेष पैदा होजाता है। व्यवहारनयकी दृष्टिसे देखते हुए अहंकार व ममकार पैदा होते हैं। मैं राजा हूं, मैं धनवान हूं, मैं बड़ा हूं, मैं दीन हूं, मैं दुःखी हूं, मैं रोगी हूं, मैं निरोगी हूं, मैं सुन्दर हूं, मैं कुरूप हूं, मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं इत्यादि अहंबुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह घर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह भोजन मेरा है, यह ग्रंथ मेरा है, यह मंदिर मेरा है, इत्यादि ममकार बुद्धि पैदा होती है। इस अहंकार ममकारके द्वारा वर्तन करते हुए चारों कषायोंकी प्रबलता होजाती है। कषायोंके द्वारा तीव्र कर्मका बंध होजाता है और यह मोही प्राणी संसारके झंझटोंमें व सुख तथा दुःखमें उलझा रहता है, कभी अपने सच्चे सुखको व अपनी सच्ची शांतिको नहीं पाता है।

निश्चय नयसे देखते हुए ये सब ऊपर लिखित भेद नहीं दीखते हैं। ये सब भेद जीव और पुद्गल इन दो मूल द्रव्योंके निमित्तसे हैं। बस जो निश्चयसे देखता है उसे सर्व ही जीव संसारी या सिद्ध, नारकी, देव, पशु, मनुष्य, छोटे, बड़े, राजा, रंक आदि एक रूप अपने शुद्ध केवल स्वभावमें ही दिखते हैं। सब ही पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्यके धारी परमात्मारूप ही दिखते हैं। आप भी अपनेको परमात्मारूप दिखता है, अन्य सब भी परमात्मारूप दिखते हैं। तथा सब पुद्गल स्पर्श, रस, गंधवान अजीवरूप एकसे दिखते हैं। इस दृष्टिसे देखते हुए ही समता-

भावकी जागृति होती है, रागद्वेषका अभाव होता है, शत्रुमित्रकी कल्पना मिटती है, अमनोज्ञ व पदार्थका भेद निकलता है, इष्ट व अनिष्टका द्वैत मिट जाता है। यही दृष्टि वीतरागभावको पैदा करती है। स्वामी नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

> मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया ।
> विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥

भावार्थ–व्यवहारनयसे १४ मार्गणाके भेद कि यह अमुक गतिवाला है यह अमुक इंद्रियवाला है इत्यादि अथवा १४ गुणस्थानके भेद कि यह मिथ्याती है यह सम्यक्ती है, यह साधु है यह केवली है इत्यादि संसारी जीवोंमें दिखते हैं परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे देखते हुए सर्व ही जीव शुद्ध एक रूप परमात्मा हैं। समताभाव लानेके लिये हमको व्यवहारनयसे देखना बंद करके निश्चयनयसे देखनेका अभ्यास करना चाहिये। यही कारण है कि जो साधु या गृहस्थ सामायिकमें तन्मय होते हैं वे उपसर्ग करनेवालेपर व प्रशंसा करनेवालेपर समताभाव रखते हैं। वीतराग भावका साधक निश्चयनयके द्वारा अवलोकन करना है। तत्व विचारके समय आत्मध्यान जगानेके लिये निश्चयनयका आश्रय ही कार्यकारी है। जैसा कि स्वामी अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है—

> इदमेव तात्पर्यं हेय: शुद्धनयो नहि
> नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बन्ध एव

भावार्थ–मतलब यही है कि शुद्ध निश्चय नयको भी छोड़ना न चाहिये क्योंकि जबतक इसका सहारा होगा तबतक कर्मोंका बंध

न होगा तथा इस नयके त्याग होते ही कर्मका बंध होगा। दोनों श्लोकोंमें आचार्यने निश्चय नयको प्रधान करके समताभावका स्वरूप दिखलाया है। यह सच्ची तत्त्वभावनाका एक प्रकार है।

वास्तवमें समताभाव लानेके लिये ऐसी ही भावना कार्यकारी है। श्री पद्मनंदि मुनि निश्चय पंचाशतमें कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेवस्वम् ।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम् ॥१८॥

भावार्थ-जो कोई अपने आत्माको शुद्ध स्वरूपमय ध्याता है वह शुद्ध आत्माको पाता है तथा जो अशुद्धरूप अपनेको ध्याता है वह अशुद्ध ही आत्माको पाता है जैसे कोई मनुष्य सोनेसे सोनेका कड़ा व लोहेसे लोहेका कड़ा बना लेता है।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता।

द्वेषकारी शांतिधारी बंधुमें अर शत्रुमें।
मूर्खजन वा पंडितोंमें शुभ नगर वा बनोंमें॥
सम्पत्तिमें वा विपतिमें, वा जन्ममें वा मरणमें।
हे देव! मेरा काल बीते भाव समता धरणमें॥६॥
सुःखमें वा दुःखमें वा क्लेशकर अरि मित्रमें।
घरमें अरणमें कनक ढेरी और लोष्ट पाषाणमें॥
प्रिय वस्तु वा अप्रिय रहो ममदिवस हों समबुद्धिमें।
हे जिनपते! तव निर्मलं वच सदा धारु हृदयमें ॥७॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य करनेवाला ऊंची गतिको व नीच कार्य करनेवाला नीची गतिको जाता है—

(शार्दूलविक्रीडित छंद)

ये कार्यं रचयंति निंद्यमघमास्ते यांति निंद्यां गतिम्।
ये वंद्यं रचयंति वन्द्यमतयस्ते यांति वंद्यां पुनः॥

ऊर्ध्वं यान्ति सुधागृहं विदधतः कूपं खनंतस्त्वधः।
कुर्वन्तीति विबुध्य पापविमुखा धर्मं सदा कोविदाः ॥८॥

अन्वयार्थ–(ये) जो (अधमाः) नीच लोग (निंद्यम्) निन्दाके लायक खराब (कार्यं) काम (रचयन्ति) करते हैं (ते) वे (निंद्यां) निंदनीय या बुरी (गतिम्) गतिको (यांति) पहुंचते हैं (पुनः) परन्तु (ये) जो (वंद्यमतयः) प्रशंसनीय बुद्धिधारी (वंद्यं) प्रशंसाके लायक उत्तम कार्यको (रचयन्ति) करते हैं (ते) वे (वंद्यां) माननीय या उत्तम गतिको (यांति) जाते हैं जैसे (सुधागृहं) राजमहलको (विदधतः) बनानेवाले (ऊर्ध्वं) ऊपरको (तु) परन्तु (कूपं) कुएको (खनंतः) खोदनेवाले (अधः) नीचेको (यांति) जाते हैं (इति) ऐसा (विबुध्य) भले प्रकार जानकर (पापविमुखाः) पापोंसे मुंह मोड़नेवाले (कोविदाः) बुद्धिमान पुरुष (सदा) निरन्तर (धर्मं) धर्मको (कुर्वन्ति) साधते रहते हैं।

भावार्थ–इस श्लोकमें आचार्यने दिखलाया है कि हरएक जीव अपने भले या बुरेका जिम्मेदार है। जो जैसा कार्य करता है वह वैसा होजाता है। इस संसारी जीवके पास मन वचन काय ये तीन पाप तथा पुण्यकर्मके आनेके द्वार हैं। जब ये शुभ कार्योंमें वर्तते हैं तब मुख्यतासे पुण्यकर्म आते हैं और जब ये अशुभ कार्योंमें वर्तते हैं तब पापकर्म आते हैं। यह जीव हरसमय अपने शुभ या अशुभ भावोंके अनुसार पुण्य तथा पापकर्मोंको बांधता रहता है। साधारण रूपसे आयुकर्मको छोड़कर ज्ञानावरणादि सात कर्मोंको नित्य बांधता रहता है। आयुकर्मको विशेष कालमें अपनी भोगनेवाली आयुके आठ त्रिभागोंमेंसे किसीमें या मरणके पहले

बांधता है। आयुकर्मके अनुसार ही यह जीव चार गतियोंमेंसे किसी गतिमें जाता है। एक मानवकी अपेक्षा देवगति ही ऊंची है नरकगति व पशुगति नीची है व मानवगति बराबरकी है। यदि उच्च भाव होंगे तो ऊँचीं आयुको, नीच भाव होंगे तो नीच आयुको, मध्यम भाव होंगे तो मध्यम आयुको बांधकर तदनुसार गतिमें जाता है। जो रौद्रध्यानी हिंसक, दुष्कर्मी है वह नर्कायु बांध नर्कको, जो आर्तध्यानी दुःखित भावधारी है वह तिर्यंच आयु बांधकर पशु गतिको, जो धर्मध्यानी है वह देव आयु बांधकर देव गतिको, जो कोमल परिणामी है वह मनुष्य आयु बांधकर मनुष्य गतिको जाता है। परन्तु जो शुक्लध्यानको आराधता है और गुण-स्थानोंमें चढ़ता हुआ अर्हत केवली होजाता है वह कोई भी आयु न बांधकर सर्व कर्मोंसे छूटकर शुद्ध परमात्मा होजाता है। इस लोकमें भी देखा जाता है कि जो लोग परोपकार, दान, पूजा, गुरु सेवा, आदि शुभ काम किया करते हैं उनकी प्रतिष्ठा व मान्यता होती है तथा जो परका अपकार, परकी बुराई, अन्यायके विषयोंमें प्रवृत्ति, हिंसककर्म, चोरी, आदि बुरे काम करते हैं वे निन्दायोग्य व बुरे समझे जाते हैं।

यहां दृष्टांत दिया है कि जो लोग राजमहल बनाते हैं वे दिनपरदिन ऊपरको चढ़ते जाते हैं परंतु जो कूआ खोदते हैं वे दिनपरदिन नीचे धसते जाते हैं।

इसलिये बुद्धिमानोंको चाहिये कि सदा धर्मके सेवनमें लगे रहें। जो सम्यक्‌दर्शनपूर्वक धर्मका सेवन करेंगे वे इसलोक तथा परलोक दोनोंमें सुख पाएंगे।

वास्तवमें जैनधर्म वीतराग विज्ञानमय है। इसकी हरएक धर्मक्रियामें आत्माके गुणोंका ध्यान आता है। आत्मा सुखशांतिमय है, इससे धर्मसेवन करते हुए सुखशांति तो तुर्त प्राप्त होती है तथा अंतरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे आत्मबल बढ़ता है। तथा पापकर्मोंका रस कम होनेसे व पुण्यकर्मोंका रस बढ़नेसे सांसारिक क्लेश घटते हैं और सांसारिक सुख बढ़ते हैं, तथा तीव्र आपत्ति पड़नेपर धैर्यकी प्राप्ति होती है। इतने लाभ इस शरीरमें रहते हुए ही प्राप्त होते हैं, इसलिये जो धर्मका सेवन करते हैं वे परलोकके लिये उत्तम आयु बांधकर शुभ गतिमें जाते हैं, ऐसा समझकर हम सबको इस पवित्र जैन धर्मकी शरणमें सदा रहकर व इसे निरंतर आराधनकर इसलोक तथा परलोकको प्रशंसनीय बनाना चाहिये—

श्री शुभचंद्राचार्य श्री ज्ञानार्णवमें लिखते हैं—

(मालिनी छन्द)

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट–
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ॥ २३ ॥

भावार्थ—यदि तुझे नरकमें जानेसे रुकना अति प्यारा है, व यदि तू इन्द्रकी महा विभूतिको प्राप्त करना चाहता है, अथवा यदि तू चारों पुरुषार्थोंमेंसे अंतिम मोक्ष पुरुषार्थको करना चाहता हैं तो तुझसे और अधिक क्या कहें तू एक मात्र धर्म हीका साधन कर।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द।

जो निद्यजन दुष्कर्म करते निम्न गतिमें जात हैं।
जो सन्तजन शुभ कर्म करते उच्च गतिको पात हैं॥

अरु राज्य गृह रच उंच जाते कूप खनते नीच हों ।
हम ज्ञान बुधजन धर्म सेवें पापसे भयभीत हों ॥८॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो लोग शरीरके सुखके लिये कुचेष्टा करते हैं वे अर्थ शक्तिको नष्ट करते हैं–

चेष्टाश्चित्तशरीरबाधनकरीः कुर्वंति चित्तेऽधमाः ।
सौख्यं यस्य चिकीर्षवोऽक्षवशगा लोकद्वयध्वंसिनीः ॥
कायो यत्र विशीर्यते, स शतधा मेघो यथा शारद–
स्तत्रामी बत ! कुर्वते किमधियः पापोद्यमं सर्वदा ॥९॥

अन्वयार्थ–(अक्षवशगाः) इन्द्रियोंके वशमें पड़े हुए (अधमाः) नीच पुरुष (यस्य) जिस शरीरके (सौख्यं) सुखको (चिकीर्षवः) चाहते हुए (चित्तशरीरबाधनकरीः) मन और शरीरको बाधा देनेवाली तथा (लोकद्वयविध्वंसिनीः) इस लोक व परलोक दोनोंको बिगाड़नेवाली (चेष्टाः) क्रियाएं (चित्ते) अपने मनमें (कुर्वंति) करते रहते हैं व (यत्र) जिस संसारमें (स कायः) वही शरीर (यथा) जैसे (शारदः) शरद ऋतुका (मेघो) मेघ विघट जाता है तैसे (शतधा) सैकड़ों तरहसे (विशीर्यते) नष्ट होजाता है (तत्र) तिस संसारमें (अमी) ये (अधियः) मूर्ख लोग (किं) क्यों (सर्वदा) सदा (पापोद्यमं) पापका उद्यम (कुर्वते) करते रहते हैं (बत !) यह बड़े खेदकी बात है ।

भावार्थ–इस श्लोकमें आचार्यने बताया है कि जो पुरुष मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा हैं अर्थात् जिनको आत्मीक सच्चे सुखका पता नहीं है वे शरीरके सुखको सुख मानते हैं वे इन्द्रियोंके दास होजाते हैं । और इन इंद्रियोंके द्वारा जो नानाप्रकारकी

इच्छाएं पैदा होती हैं उनहीको पूरा करनेके लिये रात दिन उद्यम करते रहते हैं। वे धनके पिपासू होकर, किसीको सताकर, झूठ बोलकर, चोरी करके, विश्वासघात करके धन कमानेमें ग्लानि नहीं मानते, उनको अपनी स्त्री व परस्त्रीका विवेक नहीं रहता है, वे भक्ष्य व अभक्ष्यके विचारसे शून्य होजाते हैं। जिसतरह इंद्रियोंकी तृप्ति हो उसी तरह वर्तन करना उनके जीवनका ध्येय बन जाता है। उनको मांस व मदिरासे भी परहेज नहीं रहता है। उनकी जो जो क्रियाएं होती हैं वे सब हानिकारक होती हैं। इंद्रियोंकी लम्पटतासे विवेकशून्य हो, चाहे जो कुछ खा पी लेते हैं और वे रोगोंके शिकार होजाते हैं, अधिक विषयभोगसे निर्बल होजाते हैं। फिर तो उनको शरीर सम्बन्धी और मन सम्बन्धी महान् कष्ट होते हैं। उस समय उनके मनकी आकुलताको समझना एक अनुभवी मानवका ही काम है। इंद्रियोंके भोगोंकी चाहना रहनेपर भी वे बिचारे इंद्रियोंका भोग शरीरकी निर्बलता व रोगके कारण नहीं कर सक्के। आर्तध्यानमें मन दुःखित रहता है। यदि कदाचित् थोड़ी भी मुक्ति रोगसे होजाती है कि फिर अन्धे हो विषयोंके वनमें पागल हो दौड़ते हैं, फिर अधिक रोगी होजाते हैं। भावोंमें तीव्र विषयवासनासे, व हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा तीव्र शरीरकी व धनकी व विषयभोग योग्य पदार्थोंकी ममतासे अशुभ उपयोगमें फंस जाते हैं। यह अशुभ उपयोग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय और मोहनीय कर्मका तीव्र बंध करता है। साथमें असाता वेदनीय, अशुभनाम व नीच गोत्रका बंध होजाता है तथा जब आयुकर्मके बंधका अवसर आता है तब यह प्राणी

नरक व पशु आयुको बांध लेता है। एक न एक दिन चाहकी दाहमें जलता हुआ शरीर त्यागता है और नारकी या पशु या एकेंद्रिय जीव पैदा होजाता है। इसतरह विषयलम्पटी प्राणी अपने इस अमूल्य शरीरको नष्ट करते हुए इस लोकमें दुःखी व अपयशके भागी होते हैं और परलोकमें कुगतिके अधिकारी होते हैं। आचार्य खेद करते हैं कि ऐसे अज्ञानी लोगोंको क्या यह मालूम नहीं है कि यह शरीर शरदऋतुके मेघोंकी तरह नष्ट होनेवाला है, यह थिर रहनेका नहीं है। जैसे मिट्टीका घड़ा थोड़ीसी ठोकर लगनेपर टूट जाता है ऐसे ही यह शरीर आयुकर्मके क्षयसे कभी तो पूरी आयु भोगकर कभी अकालमें ही छूट जाता है, तब पछताता हुआ चला, जाता है। तब वे कोई भी सचेतन या अचेतन पदार्थ इसका साथ नहीं देते हैं जिनके ऊपर ये अपने सुखका आधार रखता था।

थोड़ीसी मनुष्यायुमें पापोंका उद्यम करके इसलोक और परलोकको विगाड़कर वे मूर्खजन अपना घोर अहित करलेते हैं। आचार्य सचेत करते हैं कि हे जीवों! यदि तुम इंद्रियोंके दास न होकर उनको अपने वशमें रखते और अपनी बुद्धिबलसे अपने आत्माको समझ लेते तो तुम्हें आत्माके भीतर रहे हुए सुख समुद्रका पता लग जाता जिसमें स्नान करनेके लिये किसी परपदार्थकी जरूरत नहीं रहती है। यदि आत्माको समझ लिया जाता तो जगतकी आत्माओंसे प्रेम पैदा होजाता तब यह हिंसादि पापोंमें स्वयं नहीं प्रवर्तता किन्तु जीवदया व परोपकारभावमें वर्तता हुआ पुण्यकी कमाई करता—इस नश्वर शरीरसे आत्मोन्नति कर जाता। यहां भी

सुखी रहता और परलोकमें भी शुभ भावोंसे शुभ गति पाता है। बुद्धिमानोंको खूब सोच विचारकर इस शरीरका उपयोग कुचेष्टाओंमें न करके सुकर्ममें करना चाहिये। जिससे यह मानवजीवन स्व पर उपकारी बनकर अपना समय सफल कर सके।

श्री अमितिगति आचार्य सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं कि-इंद्रियसुखोंमें लीनता महान मूर्खता है।

नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं ।
तत्वं विविक्तभवगम्यजिनेशिनोक्तम् ॥
यः सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य ।
हस्तेऽमृतं पिबति रौद्रविषं निहीनः ॥ ९५ ॥
दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां ।
धर्मं धुनाति विदधाति विनिन्द्य कर्म ॥
रेकाश्चिनोति कुरुतेऽति विरूपवेषं ।
किं वा हृषीकवशतस्तनुते न मर्त्यः ॥ ९६ ॥

भावार्थ-जो अज्ञानी जिनेन्द्रके कहे हुए उस आत्म स्वरूपको जो सर्व परभावोंसे रहित है व जो नाना प्रकार आपत्तियोंकी धूलके ढेरको उड़ानेके लिये पवनके समान है, भलेप्रकार समझकर विषयोंके सुखको सेवता है वह मूर्ख हाथमें आए हुए अमृतको छोड़कर भयानक विषको पीता है। जो इन्द्रियोंका दास होजाता है वह दूसरोंकी चाकरी करता है, नीचोंकी सेवा करने लगता है, धर्मको नाश कर देता है, हिंसादि निन्द्यकर्मको करने लगता है, पापोंको संचय करता है, अपना रूप अति कुरूप कर लेता है। अधिक क्या कहें इंद्रियोंके वशमें पड़ा मानव क्या२ अनर्थ नहीं कर लेता है? वास्तवमें जो इंद्रियोंका दास है वह पशुसे भी निकृष्ट

है । मानव ही वह है जो इंद्रियोंको काबूमें रखकर अपना जीवन सुकार्योंमें विताकर सफल करता है ।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द ।

जग नीच जन हो दास इन्द्रिय काय सुखको चाहते ।
इस लोकद्वयको नाशकारी कर्म निन्द्य रचावते ॥
बहु काय मन पीड़ा सहें सो काय शारद मेघ सम ।
यह नष्ट होतो हा ! कुगे नित पाप करते हैं अधम ॥ ९ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मोहमें अन्धी हुई बुद्धि संसार बढ़ानेवाली और मोक्षको बहुत दूर रखनेवाली है ।

कांतेयं तनुभूरयं सुहृदयं मातेयमेषा स्वसा ।
जामेयं रिपुरेष पत्तनमिदं सद्मेदमेतद्वनम् ॥
एषा यावदुदेति बुद्धिरधमा संसारसंवर्द्धिनी ।
तावद्गच्छति निर्वृतिं बत कुतो दुःखद्रुमोच्छेदिनीं ॥१०॥

अन्वयार्थ–(इयं) यह (कांता) स्त्री है (अयं) यह पुत्र है (अयं) यह (सुहृत्) मित्र है (इयम्) यह (माता) मा है (एषा) यह (स्वसा) बहिन है (इयं) यह (जामा) पुत्री है (एषः) यह (रिपुः) शत्रु है (इदं) यह (पत्तनम्) नगर है (इदम्) यह (सद्म) घर है (एतत्) यह (वनं) बाग है (यावत्) जबतक (एषा) ऐसी (अधमा) तुच्छ व (संसारसंवर्द्धिनी) संसारको बढ़ानेवाली (बुद्धिः) बुद्धि (उदेति) पैदा होती रहती है (तावत्) तबतक (कुतः) किस तरहसे (दुःखद्रुमोच्छेदिनीं) दुःखरूपी वृक्षोंको छेदनेवाली (निर्वृतिं) मुक्तिको (गच्छति) यह जीव पहुंच सक्ता है (बत) यह बड़े खेदकी बात है ।

भावार्थ–यहांपर आचार्य खेद प्रगट करते हुए कहते हैं कि मोही जीव मोहमें फंसकर अपने स्वरूपको भूल जाता है इसलिये

अनन्त सुखको देनेवाली मुक्तिको कभी नहीं पासक्ता है। वास्तवमें मुक्ति अपने सच्चे आत्माके स्वभावकी प्राप्ति है और वह अपनेसे ही अपनेको अपनेमें ही प्राप्त होती है। जिसका उपयोग अपने आत्माके स्वभावके सन्मुख होगा वही आपको पाएगा। परंतु जिसका उपयोग अपने आत्माको छोड़कर पर पदार्थोंमें रमता है वह कभी भी अपने स्वरूपको नहीं पासक्ता है। संसारका कारण मोह है, जब कि मुक्तिका कारण निर्मोह है। मोही जीव क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके वशीभूत पड़े रहते हैं। इसीलिये कर्मको बांधकर संसारकी चारों गतियोंमें भ्रमण किया करते हैं। मोही जीवोंको अपने आत्माका अपने शरीरसे भिन्न विश्वास नहीं होता है। वह शरीरको ही आपा माना करते हैं। शरीरकी ममतासे वे पांचों इंद्रियोंकी इच्छाओंके दास होजाते है। उन इच्छाओंकी पूर्ति करनेमें जो चेतन व अचेतन पदार्थ सहकारी हैं उनहींसे गाढ़ प्रीतिवान होजाते हैं। इसलिये शरीरके जितने सम्बन्ध हैं उनको अपना सम्बंध समझ लेते हैं; पुत्र, पुत्री, मित्र आदिके मिलनेमें हर्ष व उनके वियोगमें विषाद किया करते हैं। एक कुटुम्बमें जीव भिन्न२ गतियोंसे आकर जमा होजाते हैं वे ही जीव आयु पूरी करके अपनी२ बांधी गतिके अनुसार चले जाते हैं। धर्मशालामें यात्रियोंके समागमके समान कुटुम्बीजनोंका समागम है। मोही जीव उनसे गाढ़ मोह करके अपने स्वात्माको भूल जाते हैं। इसी लिये अचार्यने बताया है कि जबतक इन भिन्न पदार्थोंमें ममकार है कि यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह उपवन मेरा है, वह घर मेरा है,

यह देश मेरा है, यह नगर मेरा, है वहां तक मेरा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभाव मेरा है, मेरा पद सिद्धपद है, मेरी परिणति शुद्ध वीतराग है यह बुद्धि नहीं जमती अर्थात् भेद विज्ञानको न पाकर वे कभी भी आत्माके श्रद्धावान नहीं हो पाते। वे उन्मत्त पुरुषकी नाईं जगतमें चेष्टा करते हुए अनंतकाल खोया करते हैं। इसलिये श्री अमितिगति महाराजका तात्पर्य यह है कि अब तो तुम समझो, अब तो परपदार्थोंको अपना मानना त्यागो तथा अपने आत्मीक शुद्ध गुणोंको अपना मानो। जिससे निज आत्माका अनुभव प्राप्त हो, यही तत्वभावनाका फल है।

अनित्यपंचाशत्‌में श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

दुःखव्यालसमाकुल भववन जाड्यांधकाराश्रित ।
तस्मिन्दुर्गति पल्लिपाति कुपथे भ्राम्यन्ति सर्वेगिन. ॥
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलज्ञानप्रभाभासुर ।
प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखप्रदं याति प्रबुद्धो ध्रुव ॥ १७ ॥

भावार्थ—यह संसाररूपी वन दुःखरूपी अजगरों (सर्पों) से भरा हुआ है, यहां अज्ञानरूपी अंधकार फैला हुआ है। इस वनमें दुर्गतिरूपी भीलोंकी तरफ लेजानेवाला खोटा मार्ग है। ऐसे वनमें सर्व ही संसारी प्राणी भ्रमण किया करते हैं। परन्तु चतुर मनुष्य इसी वनके मध्यमें गुरुके वचनरूपी दीपकको, जो निर्मल ज्ञानके प्रकाशसे चमक रहा है, पाकरके सच्चे मार्गको ढूंढ़कर अविनाशी आनन्दमई पदको पहुंच जाता है।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता ।

यह नारि पुत्र सुमित्र माता है हमारी यह बहन ।
पुत्री अरी यह घर नगर मेरा यही है सार धन॥

जबतक रहे यह नीच मति संसारका वर्द्धन करे।
तब दुःखतरु हनत्रो मुकति तिय किस तरह सुखसे वरे॥१०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भेद विज्ञानसे ही मुक्ति हो सक्ती है—

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालंकृतिम्॥
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्वस्थितेः।
बंधस्तस्य न यंत्रितं त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनैः॥ ११॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानेक्षणालंकृतिम्) ज्ञान दर्शन स्वभावसे शोभायमान तथा (अपास्तकर्मसमितिं) द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मके समुदायको दूर रखने वाले (आत्मानम्) आत्माको (मुक्त्वा) छोड़कर (कश्चन) कोई भी (परः) अन्य (भावः) भाव (मे) मेरा (न) नहीं (विद्यते) है (न) और न (अहं) मैं (कस्यचित्) किसी अन्यका (अस्मि) हूं (एषा) ऐसी (मतिः) बुद्धि (ज्ञातात्मतत्वस्थितेः) आत्मस्वरूपकी मर्यादाको जाननेवाले (यस्य) जिस किसीके (चेतसि) चित्तमें (सदा) नित्य (अस्ति) रहा करती हैं (तस्य) उस महात्माके (बंधः न) कर्मोका बंध नहीं होता, यों तो (त्रिभुवनं) तीनों लोकके संसारी प्राणी (सांसारिकैः बन्धनैः) संसारके बंधनोंसे (यंत्रितं) जकड़े हुए हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञानकी महिमा बताई है। इस जगतमें यह संसारी प्राणी जीव पुद्गलका मिला हुआ एक आकार रखता है। अनादि कालसे ही इसके कर्मोका बंध होता ही रहता है। कर्मोके उदयसे रागद्वेष, क्रोध,

मान, माया, लोभ आदि अशुद्ध भाव होते हैं तथा कर्मोंके ही उदयसे शरीर होता है व शरीरके साथी स्त्री पुत्र मित्रादि नौकर चाकर होते हैं। कर्मोंके बड़े विकट फैले हुए जालके भीतर इतना सघन आत्माका स्वरूप फंस जाता है कि तत्त्वज्ञान रहित प्राणिओंको आत्माका ज्ञान व श्रद्धान नहीं होता। हरएक तत्त्वज्ञान रहित मानव या जीव पर्यायबुद्धि बना रहता है। जिस शरीरमें होता है उसी रूप अपनेको मान लेता है। कभी भी अपने असली आत्मस्वरूपको नहीं पाता है। इसीलिये इंद्रियोंके सुखोंमें मगन होकर रात दिन इंद्रियसुखकी चेष्टा किया करता है तथा तीव्र रागद्वेष मोहमें पड़कर तीव्र पाप कर्म बांधकर पशु आदि गतियोंमें भ्रमण किया करता है। वास्तवमें कर्मबंधका मूल कारण मिथ्यात्व है। संसारकी जड़ ही मिथ्यात्व है। जिसने अनंतानुबन्धी चार कषाय तथा मिथ्यात्वको वश कर लिया है उसने संसार वृक्षकी जड़ काट डाली है। उसके जो कुछ कषायोंके शेष रहनेसे कर्मका बंध होता भी है वह संसारके भ्रमणको अनंतकालीन नहीं कर सक्ता है। वह बन्धन अवश्य शीघ्र कट भी जायगा। इसका कारण यह है कि उसकी बुद्धि संसारमें लिप्त नहीं होती है। क्योंकि उसके अंतरंगमें यह भेद विज्ञान भले प्रकार जाग्रत है कि मेरे आत्माका स्वभाव ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अमूर्तीक अविनाशी है। कोई भी रागादि भाव आत्माका स्वभाव नहीं है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म व शरीरादि नोकर्म सर्व भिन्न पदार्थ हैं। इस जगतमें परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। मेरा स्वरूप सर्व अन्य आत्मद्रव्योंसे भी निराली सत्ताका रखनेवाला है। मेरेमें अपने

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका तो अस्तित्व है परन्तु परद्रव्य क्षेत्र काल भावका नास्तित्व है। इस भेद विज्ञानके कारणसे वह सदा आत्म-सुखके स्वादका उत्सुक रहता हुआ अपने आत्माका मनन किया करता है। इसलिये उसका आत्मा संसारके बढ़ानेवाले कर्मोंसे गाढ़ बन्धनमें नहीं पड़ता है। आचार्यने प्रेरणा की है कि ऐ भव्यजीवों! यदि तुम समताभावको पाना चाहते हो तो इस भेद विज्ञानका भले प्रकार अभ्यास करो। यही स्वानुभवको जगानेवाला है।

एकत्वअशीतिमें पद्मनंद मुनि कहते हैं–

हेयं हि कर्म रागादि तत्कार्यं च विवेकिनः।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥
यदेवचैतन्यमहंतदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमास्ति निश्चयाद्गतोस्मि भावेन तदेकतां परम्
॥ ७५–७६ ॥

भावार्थ–ज्ञानी पुरुषोंको उचित है कि रागादि सब कर्मोंको त्यागनेयोग्य समझकर इनसे मोह छोड़ दें और ज्ञानदर्शन मई उपयोग लक्षणके धारी परमज्योतिरूप आत्माको जो ग्रहण करने योग्य है ग्रहण करले। जो कोई चैतन्यमई है वही मैं हूं, वही जानता है, वही देखता है, वही निश्चयसे एक उत्कृष्ट पदार्थ है, मैं उसीके साथ परम एक भावको प्राप्त होगया हूं। इस प्रकारकी भावना ही स्वानुभवको उद्योत करनेवाली है।

मूल श्लोकानुसार छद गीता।
मैं नियत दर्शन ज्ञानमय नहि कर्म बंधन राखता।
मैं तो किसीका हूं नहीं परभाव मम नहि छाजता॥
सद्बुद्धि ऐसी चित्त जिसके तत्त्व निज पहचानता।
वह बंधमें पड़ता नहीं जग जंतु बंधन ठानता॥११॥

उत्थानिका–फिर भी उपदेश करते हैं कि संसारके मोहमें न पड़के आत्मकल्याण करो।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ॥
तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता ॥१२॥

अन्वयार्थ-(यत्र) जिस संसारमें (चित्रोपायविवर्धितः) अनेक उपायोंसे पालनपोषण करके बढ़ाई हुई (अपि) भी (निजदेहोऽपि) यह अपनी देह भी (आत्मनः न) अपनी नहीं होती है (तत्र) वहां (निजपूर्वकर्मवशगाः) अपने २ पूर्वमें बांधे हुए कर्मोके वश पड़े हुए (पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः) पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जमाई व पिता आदिक (भावाः) बिलकुल जुदे पदार्थ (केषां) किन जीवोंके (स्वं) अपने (स्फुटं) प्रगटपने (भवन्ति) होसक्ते हैं (इति) ऐसा (विज्ञाय) जान करके (मनीषिणा) बुद्धिमान मानवको (सदा) सदा (निजमतिः) अपनी बुद्धि (आत्मस्थिता) अपने आत्मामें स्थिर (कार्या) करनी उचित है।

भावार्थ–यहां फिर आचार्यने जगतके सम्बन्धको नाशवन्त झलकाया है। जगतके मोही प्राणी अपने इंद्रियोंके विषय भोगमें सहकारी स्त्री, पुत्र, मित्र आदिकोंसे राग करते हैं व जो बाधक हैं उनसे द्वेष करते हैं। ये सब सचेतन पदार्थ बिलकुल हमसे जुदे हैं, ये सब अपने२ भिन्न२ कर्मोको बांधकर भिन्न२ गतियोंसे आए हैं और इस जन्ममें भिन्न २ कर्म बांधकर भिन्न२ गतियोंको जायंगे। इनको अपना मानना महान मूर्खता है। ये सब कुछ

सम्बन्ध रखते हैं तो वह सम्बन्ध इस शरीरके साथ है। शरीरके उत्पन्न करनेवालेको माता पिता कहते हैं। एक माताके पुत्र पुत्रियोंको भाई बहन कहते हैं, शरीरको ही देखकर ये सब जगतके पुजारी अपने २ स्वार्थके वश होकर हमारी देहसे प्रीति दिखलाते हैं। जब हमसे स्वार्थ नहीं निकलता है तब बात भी नहीं पूछते हैं। आचार्य कहते हैं कि इन पदार्थोंके स्नेह टूटनेकी व छूट जानेकी बात क्या करते हैं। ये तो प्रगट ही जुदे हैं। अरे! यह शरीर जो जन्मसे मरणतक साथ रहता है और जिसको नाना प्रकार भोजन पान देकर खिलाते, पिलाते, सुलाते, पहनाते, उठाते, पालते व जिसके लिये पैसा कमाते व रात दिन उसीकी ही चितामें लगे रहते कि कहीं यह बिगड़ न जावे, ऐसा शरीर भी एक क्षणमात्रमें हमें छोड़ देता है। आयुकर्मके आधीन देहका सम्बन्ध है। आयुकर्मका नाश होते ही एक समयभर भी यह शरीर आत्माका साथ नहीं देसक्ता। तब जो लोग इस देहके साथ व देहके संबंधी स्त्री पुत्रादिके साथ ऐसी दोस्ती बांधते हैं कि मानों हम इनके हैं व ये हमारे हैं वे लोग अवश्य मूर्ख हैं क्योंकि इनके मोहमें अन्धे हो वे अपने आत्माके हितको भूल जाते हैं। वे कभी दिन रातमें एक क्षण भी आत्माके हितका चिन्तवन नहीं करते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि यदि तुम चतुर मनुष्य हो तो नाशवन्त पदार्थोंसे क्यों स्नेह बढ़ाकर अपना बुरा करते हो? इन पदार्थोंका सम्बन्ध यदि है तो इनसे अलिप्त रहते हुए इनसे अपना प्रयोजन साधलो व उनका यथासम्भव उपकार करदो। परंतु उनके साथ भीतरी प्रीति न रक्खो। इनकी प्रीति अन्तमें

धोखा देनेवाली होगी, इनकी प्रीति शोकसागरमें डुबानेवाली होगी। क्योंकि ये सब पदार्थ एक दिन छूट जांयगे या हम छोड़ेंगे या वे छोड़ेंगे। खास ध्यान अपने आत्माकी तरफ रक्खो। हमें उचित है कि हम अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको जो निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आनंदमई हैं पहचाने, उसपर विश्वास लावें व उसीका ध्यान करें तो हमको सुख व शांतिका लाभ होगा और हम जो आज अपवित्र हैं वे धीरे२ पवित्र होते चले जांयगे। वास्तवमें आत्माकी प्रीति हमको पवित्र करनेवाली है और शरीरकी व शरीरके सम्बंधियोंकी प्रीति हमें अपवित्र करनेवाली है। सुभाषितरत्नसंदोहमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेत-
त्किमथ परमदुःखं सस्पृहत्वं यदेतत् ॥
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये ।
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस संसारमें परम सुख क्या है तो वह एक इच्छारहित पना है तथा परम दुःख क्या है तो वह इच्छाओंका दास हो जाना है। ऐसा मनमें समझकर जो पुरुष सर्वसे ममता त्यागकर जिनधर्मको सेवन करते हैं वे ही पुण्यात्मा व पवित्र हैं। शरीर व शरीरके सम्बंधियोंके संबंधमें चिंता करना इच्छाओंके पैदा करनेका बीज है। इनसे मोह त्यागना ही इच्छाओंके मिटानेका बीज है।

मूल श्लोकानुसार त्रिभंगी छन्द ।

बहु यत्न कराए वर्द्धन पाए देह न थाए जहं अपनो।
तहं पुत्र कलत्रं पुत्री मित्रं जामात्रं भगिनी जननी ॥

निज कर्म बसाए सुख दुख पाए होत सदा वे नहिं अपने।
इम जान सुबुद्धो आतम शुद्धो कर निज बुद्धी प्रगटपने॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्म ही जीवका परममित्र है—

दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने यो दुर्निवारः पविः।
पोतो दुस्तरजन्मसिंधुतरणे यः सर्वसाधारणः॥
यो निःशेषशरीरिरक्षणविधौ श्वत्पितेवादृतः।
सर्वज्ञेन निवेदितः स भवतो धर्मः सदा नोऽवतु॥१३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने) कठिनतासे नाश करने योग्य बड़े कठोर कर्मरूपी पर्वतोंको चूर्ण करनेमें (दुर्निवारः) किसीसे हटाया न जासके ऐसा (पविः) वज्र है (यः) जो (दुस्तरजन्मसिंधुतरणे) कठिनतासे पार होने योग्य ऐसे संसार-समुद्रसे पार लेजानेमें (सर्वसाधारणः) सर्व जीवोंके लिये एकरूप सामान्य (पोतः) जहाज है (यः) जो (निःशेषशरीरिरक्षणविधौ) सर्व शरीरधारी प्राणियोंकी रक्षा करनेमें (पिता इव) पिताके समान (शश्वत्) सदा (आदृतः) माना गया है (सः) वह (सर्वज्ञेन) सर्वज्ञ भगवानसे (निवेदितः) कहा हुआ (धर्मः) धर्म (नः) हमें (भवतः) संसारसे (सदा) हमेशा (अवतु) रक्षित करे।

भावार्थ—यहां आचार्यने जिनधर्मकी यथार्थ महिमा बताई है। असलमें जो जिनधर्मकी शरण ग्रहण करते हैं उनकी सदा रक्षा होती है। जैनसिद्धांतने बताया है कि जब इस जीवके शुद्ध वीतराग भाव होते हैं तब तो कर्मोंकी निर्जरा होती है तथा जब शुभ भाव होते हैं तब पुण्य कर्मका बंध होता है। पुण्य बंध दुःखोंसे बचाता है तथा वीतराग भाव कर्ममलको हटाकर मुक्तिमें पहुंचाता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र मई निश्चय रत्नत्रयको जो एक स्वानुभवरूप है जैनधर्म कहते हैं। यह स्वानुभव परम वैराग्य-मई है। यहां रागद्वेषसे रहित समतामय भाव है। इस स्वानुभवमें रुकी हुई परिणतिको वीतराग भाव कहते हैं तथा स्वानुभूतिकी रुचि रखते हुए स्वानुभूतिके कारणरूप अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पंचपरमेष्ठियोंकी भक्ति करना, शास्त्र विचार करना आदि कार्योंमें राग भावको शुभोपयोग कहते हैं। यह जैनधर्म परम कल्याणकारी है। इसी स्वानुभव रूप जैनधर्मकी शक्तिसे चार घातिया कर्म नाश होजाते हैं और यह जीव केवल-ज्ञानी परमात्मा होजाता है। इसलिये यह धर्म पर्वतोंके चूर्ण कर-नेको वज्रके समान है। यह संसार–समुद्र रागद्वेषके जलसे भरा हुआ है इसमें अनेक विभावरूपी लहरें उठ रही हैं इससे पार होना बहुत कठिन है परन्तु जिनको वीतरागमय और ज्ञानमय धर्मरूप जहाज मिल जाता है वे इसके पार होजाते हैं, यह जहाज सर्व साधारणके लिये है। किसीको इसपर चढ़नेकी मनाई नहीं है। जो संसार–समुद्रसे तर जानेके लिये दिलमें पक्के उत्साही हैं उनको यह धर्मरूपी जहाज शरण देता है। क्योंकि यह जैनधर्म अहिंसा धर्मके व्याख्यानमें त्रस स्थावर सर्व प्राणी मात्रकी रक्षाका उपदेश देता है व पूर्ण अहिंसाधर्मके धारी साधु तदनुसार वर्तते हुए सर्व जीव मात्रकी रक्षा करते हैं। अतएव उनका वर्तन पिताके समान होता है इसलिये यह जैनधर्म भी प्राणियोंकी रक्षाके उपाय बतानेके कारणसे पिताके समान है। ऐसे पवित्र जैनधर्मकी जो सेवा करेंगे वे दुःखोंसे बचकर उन्नति करते २ परमात्मपदमें अवश्य पहुंच

आंयगे । धर्मकी महिमा श्री शुभचंद्रजीने ज्ञानार्णवमें इस भांति कही है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

धर्मः शर्मभुजंगपुंगवपुरीसारं विधातुं क्षमो ।
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिना ॥
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम् ।
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्य जनम् ॥२२॥

भावार्थ—यह धर्म धर्मात्मा पुरुषोंको धर्णेन्द्रपुरीके सार सुखके प्राप्त करानेको समर्थ है। यह धर्म मध्यलोकके महान चक्रवर्ती आदिके सुखोंको देनेवाला है, यही धर्म स्वर्गको निरन्तर रहनेवाले सुखोंके प्रगट करानेका उपाय है, यही धर्म प्राणीको मुक्तिरूपी स्त्रीके भोगने योग्य बना देता है। धर्म हमारा क्या२ उपकार नहीं करता है? वास्तवमें जिनधर्मका स्मरण तत्त्वभावना है। इस भावनाको कभी नहीं भूलना चाहिये।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

परम कठिन कर्म शैलदलने सुवज्रं ।
दुस्तर भवसिंधुं तारणे सारपोतं ॥
सकलजगतसत्त्वं रक्षकर्ता पितासम् ।
जिनकथितं धर्मं रक्ष भवसे सदा हम ॥१३॥

उत्थानिका—आगे जिनवाणीसे प्रार्थना करते हैं—

यन्मात्रापदवाक्यवाच्यविकलं किंचिन्मयाभाषितम् ।
बालस्यास्य कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः ॥
वाग्देवी जिनवक्त्रपद्मनिलया तन्मे क्षमित्वाखिलं ।
दत्वा ज्ञानविशुद्धिमूर्जिततमां देयादनिंद्यं पदं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ-(मया) मेरेसे (यत् किंचित्) जो कुछ (मात्रापद-वाक्यवाच्यविकलं) मात्रा, पद, वाक्य व अर्थमें कम बढ़ (भाषितम्) कहा गया हो (तत् अखिलं) उस सर्वको (क्षमित्वा) क्षमा करके (कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः) क्रोधादि कषाय, गर्व, व विषयोंकी चाहनामें आसक्त (अस्य बालस्य में) ऐसा जो बालक समान मैं उसे (जिनवक्त्रपद्मनिलया) जिनेन्द्रके मुखकमलमें निवास करनेवाली (वाग्देवी) सरस्वती देवी अर्थात् जिनवाणी (ऊर्जिततमां) उत्कृष्ट (ज्ञानविशुद्धिं) ज्ञानकी निर्मलताको (दत्ता) देकर (अनिंद्य पदं) परम प्रशंसनीय मोक्षपद (देयात्) प्रदान करें।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि जिनवाणीको शुद्ध ही पढ़ना चाहिये और शुद्ध ही उसका अर्थ समझना चाहिये फिर भी यदि कभी प्रमादसे कुछ भूल होगई हो, किसी वचनको कमबढ़ कह दिया हो तो उसके कारण जो पापबंध हुआ हो उसको दूर करनेके हेतुसे यह भव्यजीव प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप करता है कि जिनवाणी मुझपर क्षमा करे यह मात्र भक्ति करनेका व उच्च भावना भानेका एक प्रकार है जिससे भावोंमें यह बात आजावे कि मुझे शुद्ध ही पढ़ना चाहिये। फिर वह जिनवाणीको हृदयमें धारकर यह विचारता है कि मैं बिलकुल अज्ञानी हूं इसीसे क्रोध, मान, माया व लोभ कषायोंके वशीभूत होजाता हूं या पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आशक्त होजाता हूं जिससे मेरे भावोंमें अशुद्धि हो जाती है और मैं कर्मोंका बंध कर लेता हूं। अब मैं यह प्रार्थना करता हूं कि जिनवाणीके निरन्तर मननसे यह मेरी कलुषता मिटे और परम शुद्धता मेरे आत्माको प्राप्त हो अर्थात् शुद्धोपयोग रहा

करे जिससे मैं अविनाशी निजपदको पासकूं, जहां कोई कर्मका सम्बन्ध नहीं रहता है और यह आत्मा स्वयं परमात्मा होजाता है। वास्तवमें सम्यग्दृष्टी व ज्ञानी जीवको वीतराग भावकी ही प्राप्तिका यत्न करना चाहिये। यह वीतरागता उसी समय प्राप्त होती है जब विषय कषायोंसे ग्लानि होजावे और शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मासे प्रीति बढ़ जावे। क्योंकि आत्माका स्वभाव ही परम वितरागमय है इसलिये आत्माके ध्यानसे स्वयं वीतरागता झलक जाती है और तब सुखशांतिकी प्राप्ति होती है, पिछला कर्म कटता है। असलमें आत्माकी भूमिमें चलना ही जीवका परम हित है।

श्री पद्मनंदी मुनि निश्चयपंचाशत्में कहते हैं—

स्वपरविभागावगमे जायते सम्यक् परे परित्यक्ते।
सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं सिद्धः॥ ४२॥

भावार्थ—जब आपा परका भेदरूप ज्ञान भलेकार पैदा होजाता है तब परसे मोह छोड़नेपर यह स्वयंसिद्ध आत्मा स्वाभाविक एक ज्ञान स्वरूपमें ठहर जाता है।

मूलश्लोकानुसार मालिनीछन्द।
कथन किया जो मैं शब्द पद अर्थहीनं।
विषय विमोही हो क्रोध मानाद्यधीनं॥
जिनमुखते प्रगटी वाणिदेवी क्षमाकर।
वर निर्मलज्ञानं देय शिवपद कृपाकर॥ १४॥

उत्थानिका—आगे साधक विचारता है कि मेरी बुद्धि ज्ञान होनेपर भी विषयोंसे क्यों विरक्त नहीं होती है—

निःसारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगाः सदा नश्वराः।
निंद्यस्थानभवार्तिभारजनकाः विद्याविदां निंदिता॥

नेत्थं चिंतयतोऽपि मे बत मतिर्व्यावर्तते भोगतः ।
कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढः प्रपद्ये विधिम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(भोगाः) ये इंद्रियोंके भोग (निःसाराः) असार अर्थात् सार रहित तुच्छ जीर्ण तृणके समान हैं (भयदायिनः) भयको पैदा करनेवाले हैं (असुखकराः) आकुलता भय कष्टको उत्पन्न करनेवाले हैं व (सदा) सदा ही (नश्वराः) नाश होनेवाले हैं (निंद्यस्थानभवार्तिजनकाः) दुर्गतिमें जन्म कराकर क्लेशको पैदा करनेवाले हैं तथा (विद्याविदां) विद्वानोंके द्वारा (निंदिताः) निंदनीक हैं (इत्थं) इसतरह (चिंतयतः अपि) विचार करते हुए भी (मे) मेरी (मतिः) बुद्धि (बत) खेदकी बात है कि (भोगतः) भोगोंसे (न) नहीं (व्यावर्तते) हटती है तब (अहं) मैं (मूढः) बुद्धि रहित (कं) किसको (पृच्छामि) पूछूं (कम्) किसका (आश्रयामि) सहारा लूं (कम्) कौनसी (विधिम्) तदबीर (प्रपद्ये) करूं ।

भावार्थ—इस श्लोकमें एक श्रद्धावान जैनी अपनी भूलको विचारते हुए अपने कषायोंके जोरको कम कर रहा है। इस जीवके साथ मोहकर्मका बन्ध है। मोह ही उदयमें आकर जीवको बावला बना देता है और यह उन्मत्त हो न करने योग्य कार्य कर लेता है। मोहकर्मके मूल दो भेद हैं—एक दर्शन मोह, दूसरा चारित्र मोह। दर्शनमोहके उदयसे आत्माको अपने आपका सच्चा विश्वास नहीं होपाता है। चारित्रमोहका उदय आत्मामें ठहरने नहीं देता है—अपने आत्माके सिवाय अन्य चेतन व अचेतन पदार्थोंमें राग द्वेष करा देता है। इसके चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी कषाय, जो श्रद्धानके बिगाड़नेमें

दर्शनमोहके साथी हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय–जिसके उदय होनेपर श्रद्धान होनेपर भी एक देश भी त्याग नहीं किया जाता अर्थात् श्रावकके व्रत नहीं लिये जाते। प्रत्याख्यानावरण कषाय– जिसके उदयसे पूर्ण त्याग कर साधुका आचरण नहीं पाला जाता है। संज्वलन कषाय–जो आत्मध्यानको नाश नहीं कर सक्ते परंतु जो मल पैदा करते हैं, जो पूर्ण वीतरागताको नहीं होने देते। जिस किसी महान पुरुषके अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहके दबनेसे सम्यग्दर्शन होगया है वह पुरुष यह अच्छी तरह समझ गया है कि विषयभोगोंसे कभी भी इस जीवको तृप्ति नहीं होती है। उल्टी तृष्णाकी आग बढ़ती हुई चली जाती है, इसीलिये ये भोग असार हैं, फल कुछ निकलता नहीं, तथा भोगोंके चले जानेका व अपने मरण होनेका भय सदा बना रहता है। यह भोगी जीव चाहता है कि भोग्य पदार्थ कभी नष्ट न हों व मैं कहीं मर न जाऊं। तथा इन भोगोंकी प्राप्तिके लिये व उनकी रक्षाके लिये बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है और यदि कोई भोग नहीं रहता है तो यह प्राणी आकुलतामें पड़कर दुःखी हुआ करता है। ये भोग अवश्य नष्ट होनेवाले हैं। यातो आप ही मर जायगा या ये भोग्य पदार्थ हमारा साथ छोड़ देंगे तथा इनके भोगनेमें बहुत तीव्र राग करना पड़ता है जिससे दुर्गति होजाती है तथा इसीलिये इन भोगोंको विद्वानोंने निन्दायोग्य बुरा समझा है।

श्री शुभचंद्राचार्यने भी ज्ञानार्णवमें कहा है–

अतृप्तिजनकं मोहदावबन्हेर्महेधनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥ १३ ॥

विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥ १५ ॥
यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णासतापपापसंकलितम् ।
तदपि न सुखसंप्राप्य विषयसुखं वांछितं नृणाम् ॥२४॥

भावार्थ–जिनेन्द्रोंने कहा है कि इंद्रियोंसे होनेवाला सुख कभी तृप्ति नहीं देता है। यह तो मोहकी दावानल अग्निके बढ़ानेको महान ईंधनका काम करता है। यह असाताकी परिपाटीका बीज है। इससे आगामी दुःख मिलता ही रहता है। यह इंद्रिय सुख विघ्नोंका बीज है। सेवने २ हजारों अंतराय पड़ जाते हैं, आपत्तियोंकी जड़ है। इस सुखके आधीन प्राणी असत्य, चोरी, कुशील, हिंसादि पापोंमें फंसकर इसलोकमें ही अनेक दुःखोंमें पड़ जाता है। यह सुख पराधीन है, अपने ही आधीन नहीं है। तथा भयभीत रखनेवाला है और इस सुखको इंद्रियां यदि बलवती हों तब इंद्रियां ही ग्रहण कर सक्ती हैं। यह सुख यद्यपि तीव्र रागके कारणसे दुर्गतिका बीज है और तृष्णा संताप तथा पापोंसे भरा हुआ है तथापि इच्छित सुख सहजमें नहीं मिलता है, बड़ा कष्ट सहना पड़ता है।

ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होनेपर भी कि ये इंद्रिय विषयोंके सुख ग्रहण करने योग्य नहीं हैं, यह अविरति पुरुष अप्रत्याख्यानादि कषायोंको न दबा सकनेके कारण उनके जोरसे व्याकुल होता हुआ विषयभोगोंको नहीं त्यागता है। त्यागना चाहता है परंतु त्याग नहीं कर सक्ता है। इसीलिये यह विचारता है कि मैं किससे पूछूं व किसका आश्रय लूं व क्या उपाय करूं जिससे मेरे मनमें

वैराग्य पैदा होजावे। सम्यग्दृष्टि ऐसा नित्य विचार करता रहता है तथा जिसे आत्मापर दृढ़ विश्वास होगया है व जिसके स्वरूपका दर्शन सम्यक्त होते समय होचुका है वह उस आत्माका ही अनुभव समय समय करता रहता है और इसी भेदविज्ञानके अभ्याससे उसके कषाय कर्म धीरे धीरे दुर्बल होते चले जाते हैं। इसीलिए वैराग्यकी भावना परम कार्यकारी है। तत्त्वभावनासे ही आत्माका कार्य बनता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनीछंद।

विषय सुख असारा दुःख भयप्रद अपारा।
दुर्गति दुखदाता संत निंदित विचारा॥
हैं अथिर विचारूं खेद! नहिं भोग त्यागूं।
शरणा काको लूं कौन शुभ यत्न लागूं॥ १५॥

उत्थानिका—आगे भावना करनेवाला विचारता है कि श्री जिनेन्द्रके चरण मेरे हृदयमें सदा जमे रहें यह ही एक उपाय है—

मोहध्वान्तमनेकदोषजनकं मे भर्त्सितुं दीपका-
वुत्कीर्णाविव कीलिताविव हृदि स्यूताविवेन्द्रार्चितौ॥
आश्लिष्टाविव बिंबिताविव सदा पादौ निखाताविव।
स्थेयास्तां लिखिताविवाघदहनौ बद्धाविवार्हंस्तव॥१६॥

अन्वयार्थ—(अर्हम्) हे अर्हन्तदेव (मे) मेरे (हृदि) हृदयमें (अनेकदोषजनकं) अनेक रागादि दोषोंको पैदा करनेवाले (मोहध्वांतं) ऐसे मोहरूपी अंधेरेको (भर्त्सितुं) हटानेके लिये (दीपकौ) दीपकके समान (इन्द्र र्चितौ) इन्द्रोंके द्वारा पूजने योग्य तथा (अघदहनौ) पापोंके जलानेवाले (तव) आपके (पादौ) दोनों चरण (सदा) हमेशा (स्थेयास्तां) ठहर जावें (उत्कीर्णौ इव) मानों

दिलमें अंकित होजावें (कीलितौ इव) या मानों कीलके समान गड़ जावें (स्यूतौ इव) या मानों सीजावें (आश्लिष्टौ इव) या मानों चस्पा होजावें (बिंबितौ इव) या मानों छायाकी तरह जम जावें (निखातौ इव) या मानों जड़े हुयेके समान होजावें (लिखितौ इव) या मानों लिख दिये जावें (बद्धौ इव) या मानों बांध दिये जावें अर्थात् मैं कभी आपके चरणोंको न भूलूं ।

भावार्थ–यहां आचार्यने भक्ति भावको भले प्रकार दिखलाया है । यह कहना कि आपके चरण मेरे हृदयमें जमकर बैठ जावें कि मानों दिल उनके साथ एकमेक होजावें इस बातके बतानेका एक अलंकार मात्र है कि आपका वास्तविक आत्मिक स्वरूप मेरे मनमें जम जावे अर्थात् मेरा मन आपके ज्ञानानंदमई शांत स्वभावमें रत होजावे, इसका भी भाव यही है कि मेरे मनसे सब अनात्मीक भाव हट जावें और एक आत्मीक शुद्ध भाव प्रगट होजावे। इसीको स्वात्मानुभव कहते हैं । वास्तवमें यही दीपक है जिमसे अनादिकालका मोहका अंधेरा दूर होता है । इसी ज्ञानाग्निके तेजसे अनेक पापोंके ढेर जल जाते हैं ।

वास्तवमें जो आत्माको जानते हैं वे ही अर्हंत परमात्माको जानते हैं । जो अरहंत परमात्माको पहचानते हैं वे ही आत्माको जानते हैं । क्योंकि निश्चय नयसे आत्मा और परमात्माका स्वभाव एक समान है । अत्यन्त गाढ़ भक्ति भी द्वैतसे अद्वैत भावमें ले जानेके लिये निमित्त कारण है । यह भी इस श्लोकका आशय झलकता है कि जहांतक निर्विकल्प समाधि या शुद्धोपयोगकी ऊंची अवस्था प्राप्त न हों वहांतक श्रीअर्हंतकी भक्ति, भावोंको मोक्षमार्गमें

लगाए रखनेके लिये निमित्त है इसलिये भक्ति करते रहना चाहिये। अर्हद्भक्तिको साधुजन भी नित्य करते हैं। उनके नित्य छः आवश्यक कर्मोंमें स्तुति और वन्दना कर्म हैं। गृहस्थ जब प्रत्यक्ष भक्ति श्री जिनेन्द्रकी प्रतिमाओंके निमित्तसे अधिकतर करते हैं तथा परोक्ष भक्ति कम करते हैं तब साधुजन परोक्ष भक्ति अधिक करते हैं। प्रत्यक्ष भक्ति जब जिन मंदिरका समागम होता है तब करते हैं। भावोंको अशुभोपयोगसे छुड़ाकर शुभोपयोगमें लगानेके लिये अर्हत भक्ति बड़ा प्रबल उपाय है। गृहस्थोंको नित्य अर्हंत भक्ति करके अपने भावोंको उज्वल करना योग्य है। यद्यपि अरहंत वीतराग हैं, हमारी भक्ति किये जानेसे प्रसन्न नहीं होते हैं तथापि उनके गुणोंके स्मरणसे व उनके शांत स्वरूपके दर्शनसे हमारे भाव शांत होजाते हैं। इसलिये भगवद्भक्ति निमित्त कारण है। हमारे कल्याणके लिये ऐसा माननेमें कोई हानि नहीं है। अर्हत् भक्ति क्षणमात्रमें बड़े२ पापोंको काट देती है और महान पुण्यको बांध देती है। ज्ञान सहित अर्हत भक्ति मोक्षमार्ग है। यह १६ कारण भावनामें एक उत्तम भावना है। श्री पद्मनंदि मुनि सदबोध चन्द्रोदयमें कहते हैं–

> संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत् ।
> सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥२०॥

भावार्थ–शुद्ध परमात्माकी भावना शुद्ध पदकी कारण होजाती है तथा अशुद्ध आत्माकी भावना अशुद्ध भावके लिये कारण है। सोनेसे सोनेकी चीज व लोहेसे लोहेकी चीज बनती है। अतएव श्रीजिनेन्द्र परमात्माके गुणोंका चिन्तवन सदा ही करते रहना चाहिये; क्योंकि यह चिंतवन वीतरागभावमें पहुंचानेवाला परम मित्र है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

तव चरणजिनेन्द्र पाप नाशक बताए ।
हृदय धरूं अपने मोह तम सब भगाए ॥
दीपक सम रक्खूं कील डालूं बिठाऊं ।
पूजित इन्द्रोंसे सीम डालूं जमाऊं ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि परका संयोग न रहना ही सुखकर है—

संयोगेन दुरंतकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो ।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते ॥
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना ।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम् ॥१७॥

अन्वयार्थ–(मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते) मरण और जरा-रूपी वाघोंके समूहसे भरे हुए (भवकानने) इस संसार वनमें (दुरंतकल्मषभुवा) तीव्र पापको पैदा करनेवाले (येन) जिसके (संयोगेन) संयोगसे (त्वं) तुमने (किं दुःखं) क्या क्या दुःख (न) नहीं (प्रापितः) पाया है (तेन) उस (दुरात्मना) पापीके साथ (तव सगः) तेरा संग (यथा) जैसे (स्वप्नेऽपि) स्वप्नमें भी (न जायते) नहीं हो (तथा) तैसे (किंचित् कर्म) कोई काम (निश्चलं) स्थिर (मनः) मनको (कृत्वा) करके (हृदये) हृदयके भीतर (कुरुष्व) कर ।

भावार्थ–यहां भी आचार्यने संकेत किया है कि मोहकी गांठ जो तेरे दिलके भीतर पड़ी है उसको काट डाल । वास्तवमें मोह बड़ा पापी व दुष्ट है। इसीकी संगतिमें यह प्राणी रहकर संसारके स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादि परिग्रहको अपना माना करता है। तब

किसीसे राग, किसीसे द्वेष करता है, इस मोह राग्द्वेषके कारण तीव्र पापका बंध करता हुआ संसार बनमें भ्रमता है, जिस वनमें बुढ़ापा होना और मरना ये दो बड़े वाघ हैं जो इसको पकड़कर दुःखी करते व सताते हैं इसके सिवाय अनेक शारीरिक और मानासिक क्लेश प्राप्त होते हैं। इस संसारके भीतर चार गतियां हैं, जहां ही जाता है वहां ही आकुलतामें पड़ जाता है। देवगतिमें भी इंद्रिय-भोगोंकी आकुलता रहती है व इष्टका वियोग होता रहता है व अन्यकी अधिक सपत्तिको देखकर दिलमें जलन पैदा होती है। वारवार इस संसारमें मरता है और कष्ट उठाता है। श्रीगुरु कहते हैं—इस मोहके वशमें पड़ा हुआ तुझे अनंतकाल संसार वनमें चक्कर देते हुए और भटकते हुए बीत गया। तू जन्म मरण करता ही रहा और भयानक दुःखोंको पाता ही रहा, अब कुछ पुण्यके उदयसे यह मानव जन्म पाया है तथा सत्संगतिसे उस जैनधर्मके रहस्यको जाना है जो जीवोंको संसार वनसे निकालकर मुक्तिके अचल धाममें विराजमान कर देता है। इसलिये अब प्रमादको छोड़कर ऐसा कोई उद्यम करना उचित है जिससे इस मोह शत्रुसे पल्ला छूटे और संसारका भ्रमण मिटे और परम निराकुल पद प्राप्त हो। उपाय यही है कि मनको निश्चल किया जावे, मिथ्यादर्शनके विषको उगला जावे, सम्यग्दर्शन रूपी परम अमृतको प्राप्त किया जावे, भेद विज्ञानके प्रतापसे आत्मानुभवको जागृत किया जावे, आत्मीक आनन्दमें विलास किया जावे, यह आनंद भोग ही ऐसा अपूर्व शस्त्र है जो मोहके खंड खंड कर देता है। इसी ही अमोघ शस्त्रसे मोह-शत्रुका नाश होजाता है और यह आत्मा मोहसे

छूटकर शीघ्र ही अर्हंत परमात्मा होकर अनंत सुखमें मग्न होजाता है, फिर शरीर रहित हो सिद्ध होकर निराकुल भावका अनंतकालके लिये अधिकारी हो जाता है। जैसा श्री ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं कि इस तरह विचारकर आत्मानुभव पाना चाहिये—

तावन्मां पीडयत्येव महादाहो भवोद्भवः।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधौ नावगाहः प्रवर्तते ॥ ११ ॥

भावार्थ-जबतक ज्ञानरूपी समुद्रमें मेरा अवगाह नहीं हुआ है तबतक ही संसारसे उत्पन्न हुआ महादाह मुझे पीड़ित करता है।

तत्स्वरूपाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरंजितः।
योजयत्यात्मनात्मानं तस्मिंस्तद्रूपसिद्धये ॥ ३५ ॥
अनन्यशरणीभूय स तस्मिल्लीयते तथा।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥ ३७ ॥
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥ ३८ ॥

भावार्थ-जो उस शुद्धात्माके स्वरूपमें मन लगाकर उसीके गुणोंमें रंजायमान होजाता है वह अपनेसे ही अपने आत्माको अपनेमें अपने आत्माके स्वभावकी सिद्धिके लिये जोड़ देता है। वह अन्य वस्तुका आश्रय छोड़कर उस आत्मामें ऐसा लीन होजाता है कि ध्याता व ध्यानका भेद मिटकर ध्येय पदार्थसे एकतान होजाता है। यही वह समरसी भाव है, यही एकीकरण है जहां आत्मा परमात्मामें एकी भावसे लय होजाता है। यही आत्मानुभव संसारवनसे निकालनेवाला मित्र है।

मालिनी छन्द।

मरण जरा सिहा पूरितं भव वनोमें।
क्या दुख न उठाए मोहकी संगतोमें॥
करके मन निश्चल यत्न ऐसा उचित कर।
जो सङ्ग न आवे स्वप्नमें भी कलुषकर॥ १७॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि यद्यपि यह मानव देह महान अपवित्र है तथापि इससे अपना आत्मकल्याण करलेना उचित है–

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः।
साध्यंते सुखकारणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः॥
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते।
लाभः केन न मन्यते बत तदा लोकस्थितिं जानता॥१८॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि (दुर्गंधेन) इस दुर्गंधसे भरे हुए तथा (मलीमसेन) मलीन (वपुषा) शरीरसे (सुखकारिणाः) सुखको करनेवाली (स्वर्गापवर्गश्रियः) स्वर्ग और मोक्षकी संपत्तियें (साध्यंते) प्राप्त की जाती हैं (तदा) तब (का) क्या (क्षतिः) हानि (संपद्यते) होती है। (यदि) यदि (विगर्हितेन) निंदनीय (निर्माल्येन) निर्माल्यके द्वारा (सुखदं रत्न) सुखदाई रत्न (प्राप्यते) मिल जावे (तदा) तब (लोकस्थितिं) जगतकी मर्यादाको (जानता) जाननेवाले (केन) किस पुरुषसे (लाभः) लाभ (न मन्यते) न माना जायगा?

भावार्थ–यहां आचार्य बतलाते हैं कि यह शरीर परम अपवित्र दुर्गंधमय है–हाड़, चाम, मांस, रुधिर आदिका बना हुआ है। निरंतर अपने करोड़ों रोमोंसे और मुख्य नव द्वारोंसे मैलको ही निकालता है, पवित्र जल चंदनादि पदार्थ भी जिसकी संगतिमें आकर मलीन होजाते हैं, तथा यह ऐसा कच्चा है कि

जैसे कच्चा मिट्टीका घड़ा। जरा भी रोग शोक आदि क्लेशोंकी ठोकर लगती है कि यह शरीर खंडित हो जाता है। इस शरीरमें रातदिन बाधाएं रहती हैं, कभी भूख, कभी प्यास, कभी आलस्य सताता है, कभी चिंताकी आगमें जला करता है। शरीराधीन इन्द्रियोंके भोगकी चाह महान जलन पैदा करती है। इष्ट पदार्थोंका वियोग परम आकुलित कर देता है। इस शरीरका मोह जीवको नरक निगोदकी दुर्गतिमें पटक देनेवाला है। तथापि जो कोई बुद्धिमान प्राणी हैं वह ऐसे शरीरसे मोह नहीं करते किन्तु इसको स्थिर रखने हुए इसके द्वारा परम सुखदाई मोक्षपद या साताकारी स्वर्गपद प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि विना मानवदेहके उच्च स्वर्ग-पदोंका व मुक्तिपदका लाभ नहीं होसक्ता है। इसमें वे अपनी कुछ हानि नहीं मानते हैं; क्योंकि यह देह तो बहुत कष्टप्रद है व शीघ्र मरणके आधीन है, इसका मोह तो उल्टी तीव्र हानि करता है तब यही उचित है कि इसको चाकरकी तरह अपने वशमें रक्खा जावे और इसको ध्यान स्वाध्याय आदि तप साधनमें लगा दिया जावे। तब आत्मज्ञानके बलसे यहां भी कष्ट नहीं और फल ऐसा मिले कि जिसकी जरूरत थी व जिसके विना संसारमें महादुःखी था। यदि किसीके पास कोई निरर्थक वस्तु ऐसी हो जिसका रखना निंदनीय हो व जिससे कोई मतलब न निकलता हो तब यदि कोई कहे कि यह वस्तु तू देदे और बदलेमें सुखदाई अमोलक रत्न तू लेले तो बुद्धिमान मानव जरा भी संकोच व देर न करेगा और बड़ा ही लाभ मानकर उस रत्नको लेलेगा।

प्रयोजन कहनेका यह है कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है

कि इंद्रियोंके विषयभोगोंमें इस शरीरको रमाकर अपना बुरा न करें। यह शरीर तो कानेसाठे (गन्ने) के समान है जिसको खानेसे मजा नहीं आता है परन्तु यदि उसे बो दिया जावे तो मीठे २ साठोंको पैदा करता है। इसी तरह इस शरीरके भोगनेमें शांति नहीं मिलती है किन्तु यदि इसे तप संयम ध्यानमें लगा दिया जावे तो मोक्षके अपूर्व सुखोंको व स्वर्गके साताकारी सुखोंको पैदा करा देता है। इसलिये शरीरसे मोह छोड़कर आत्म हित करना ही श्रेय है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

अजिनपटलगूढ पंजरं कीकसानाम् ।
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम् ॥
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेह ।
कथमिह मनुजाना प्रीतये स्याच्छरीम् ॥१३॥

भावार्थ-हे मूढ़ प्राणी ! इस संसारमें यह मनुष्योंका शरीर चर्मके पर्देसे ढका हुआ हाड़ोंका पिंजरा है, बिगड़ी हुई पीपकी दुर्गंधसे खूब भरा हुआ है तथा रोगरूपी सर्पोंका घर है और कालके मुखमें बैठा हुआ है, तब ऐसे शरीरसे किस तरह प्रेम किया जावे ? श्री पद्मनंदि मुनि शरीराष्टकमें कहते हैं:—

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे ।
हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्वदर्शि ॥
त्वरितमसमसारानंदकदायमानं ।
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मी: ॥७॥

भावार्थ-यद्यपि यह शरीर ऐसा अपवित्र क्षणिक है सो ऐसा ही रहो परंतु यदि परम गुरुका वचन जो तत्वको दिखलानेवाला है मेरे मनमें रहे तो उसके प्रभावसे अर्थात् उस उपदेश-

पर चलनेसे मुझे इसी शरीरके द्वारा अनुपम और अविनाशी आनन्दसे भरपूर मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होजावे।

इसलिये इस नर तनसे धर्म पालकर स्वात्म लाभ कर लेना ही उचित है।

मूलश्लोकानुसार मालिनीछन्द ।

यदि अशुचि शरीरं साधता सौख्यकारी ।
दिव शिवपद अनुपम हानि क्या तब विचारो ।
निंदित लघु वस्तू छोड़ते रत्न पावे।
बुधजन तव यामें लाभ ही लाभ भावे ॥ १८ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमानोंको उचित है कि सर्व संकटोंको दूर करनेवाले जैनधर्मका सेवन करें—

मृत्यूत्पत्तिवियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादयः ।
मुद्यंते जिनशासनेन सहसा संसारविच्छेदिना ॥
सूर्येणेव समस्तलोचनपथप्रध्वंसवद्धोदया ।
हन्यंते तिमिरोत्कराः सुखहरा नक्षत्रविक्षेपिणा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नक्षत्रविक्षेपिणा सूर्येणेव) जैसे नक्षत्रोंको छिपानेवाले सूर्यके द्वारा (समस्तलोचनपथप्रध्वंसबद्धोदयाः) सबकी आंखोंमें देखनेकी शक्तिको रोकनेवाले (सुखहराः) और सुखको हरनेवाले (तिमिरोत्कराः) अंधकारके समूह (हन्यंते) नाश कर दिये जाते हैं वैसे ही (संसारविच्छेदिना) संसारको नाश करनेवाले (जिनशासनेन) जिनशासन या जैनधर्मके द्वारा (मृत्यूत्पत्तिवियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादयः) मरण, जन्म, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, भय, रोग, मनका क्लेश, शोक आदि (सहसा) इकदम (सुद्यंते) दूरकर दिये जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने जैनधर्मकी यथार्थ महिमा बताई है और उसकी उपमा सूर्यसे दी है। सूर्यके सामने जैसे और नक्षत्रोंका तेज छिप जाता है वैसे जैनधर्मके स्याद्वाद नय-गर्भित अनेकांत उपदेशके सामने एकांत तत्त्वको पोखनेवाले मतोंका तेज लुप्त होजाता है। जैसे सूर्यके प्रकाशसे बड़ा भारी रात्रिका अंधकार जिसके कारणसे आंखोंके रहने हुए भी प्राणी देख नहीं सके हैं व जो देखनेके सुखके रोकनेवाला है सो एकदम दूर हो जाता है। उसी तरह जिनशासनके सेवनसे जन्म मरणादि दुःखोंसे परिपूर्ण संसारका ही नाश होजाता है। संसारका कारण रागद्वेष मोह है। जिनशासन वीतराग विज्ञान है। अथवा अभेद रत्नत्रय-मई है, अथवा शुद्ध आत्माका ध्यान या शुद्धात्मानुभव है। जिस-समय यह स्वानुभव जगता है तुर्त मनका क्लेश व शोकादि भावोंको हटा देता है। इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगकी चिन्ताको मिटा देता है। ध्याताको निर्भय बना देता है। स्वानुभवसे ही पापोंका नाश होता है। यह स्वानुभव ही उच्च श्रेणीपर पहुंचा हुआ शुक्लध्यान कहलाता है जिसके प्रतापसे घातिया कर्मोंका नाश होकर यह जीव अर्हंत होजाता है, फिर शेष चार अघातिया कर्मोंका भी क्षय कर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। अब इसका न जन्म होता है न मरण होता है। यह जीव सिद्धपदमें निश्चलतासे अनंतकाल स्थित रहता है और अपने आत्मीक आनं-दका विलास करता है। जिस जैनधर्मके सेवनसे यहां भी सुख होता है और परलोकमें भी सुख होता है उसकी ओर श्रद्धाभाव रखकर उसका आचरण करना निरंतर उचित है। जो इस मानवजन्मको

पाकर जिनशासनरूपी जहाजपर चढ़ जाते हैं वे अवश्य निःशंक होकर संसार-समुद्रको तय करते चले जाते हैं। अतएव हरएक बुद्धिमान प्राणीको जैनधर्मसे प्रेम करना उचित है, यह आत्मस्वातंत्र्यका पाठ सिखाता है और अहिंसाके अद्भुत भावको जगाता है। यह जगतके प्राणियोंके दुःख मिटानेको दयाभाव जगाता है। यह अन्याय पथसे बिलकुल हटा देता है। यह जीवको समदर्शी व वीतरागी बना देता है। यह सांसारिक सुख दुःखोंके भीतर भी समताभाव रखनेकी युक्ति बता देता है। यह अपने निश्चय दृष्टिरूपी शस्त्रसे रागद्वेषके कुभावोंको विध्वंश कर डालता है। यह निरंतर ज्ञान रसको पिलाता है, तृष्णाकी दाहको शमन कराता है और जीवको निर्भय बनाकर साहसी और निराकुल कर देता है। इस जैनधर्मकी महिमा अपार है, वचन अगोचर है।

श्री पद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृतमें इस रत्नत्रय धर्मकी महिमा इस तरह गाते हैं—

भवभुजगनागदमनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥८॥

भावार्थ—यह सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयमई जैनधर्म संसाररूपी सर्पके हटानेको नागदमनी औषधि है, दुःखोंकी महान आगको बुझानेके लिये जलकी वृष्टि है, तथा मोक्षसुख रूपी अमृतका सरोवर है सो जयवत रहो।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जनम मरण व्याधि आधि भय शोक आदि।
सहज नशात जासे जैन शासन अनादि॥

भानु जिम नाशकरता दुःखकर जग अंधेरा।
जनदृष्टि विराधक तेज नक्षत्र गेरा ॥ १९ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जिसका लक्ष्य शुद्धात्माकी तरफ है वही शुद्धात्म भावको पाता है—

मदाक्रान्ता छन्द।

चित्रारंभप्रचयनपरा सर्वदा लोकयात्रा।
यस्य स्वान्ते स्फुरति न मुनेर्मुष्णती लोकयात्राम् ॥
कृत्वात्मानं स्थिरतरमसावात्मतत्त्वप्रचारे।
क्षिप्त्वाशेषं कलिलनिचयं ब्रह्मसद्म प्रयाति ॥ २० ॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस (मुनेः) मुनिके (स्वान्ते) अंतःकरणमें (चित्रारंभप्रचयनपरा) नाना प्रकार हिंसादि आरंभोंमें लगानेवाली (लोकयात्राम् मुष्णती) व मोक्षकी यात्राको रोकनेवाली (लोकयात्रा) लौकिक प्रवृत्ति (सर्वदा) कभी ही (न स्फुरति) नहीं प्रगट होती है (असौ) वही साधु (आत्मतत्त्वप्रचारे) आत्मीकतत्त्वके मननमें (स्थिरतरं) अति दृढ़ (आत्मानं) अपने आत्माको (कृत्वा) करके (अशेषं) सर्व (कलिलनिचयं) कर्मोंके मैलके ढेरको (क्षिप्त्वा) दूर फेंक कर (ब्रह्मसद्म) ब्रह्मलोक या सिद्धलोकको (प्रयाति) चला जाता है।

भावार्थ–यहां आचार्यने बताया है कि सिद्धि उसीकी हो सक्ती है जो उसके लिये भले प्रकार पुरुषार्थ करता है। मुनिगण ही मोक्षपद पानेके अधिकारी हैं। गृहस्थी आरम्भ परिग्रहके मैलसे मलीन रहते हुए गजस्नानवत् आचरण करते हैं। यदि उन्होंने कुछ ध्यानादि करके पाप धोया भी तो दूसरे समय आरंभोंमें उलझकर फिर पापोंका बंध कर लिया, इसलिये वे ही सच्चे साधु मोक्षको पासके हैं जिनके अंतरंगमें संसारके सब प्रकारके आरंभसे

ऐसी उदासीनता होगई है कि वे कभी किसी असि मसि कृषि आदि कर्मका व रसोई पानी बनवाने आदिका रंचमात्र भी विचार नहीं करते हैं। वे जानते हैं कि ये संसारके व्यवहार रागद्वेषको बढ़ानेवाले, चिन्तामें फंसानेवाले और स्वानुभव रूप मोक्षकी यात्राके मार्गसे हटानेवाले हैं। इसलिये वे राज्यपाट गृह नगर आदिको छोड़कर अत्यंत दूर एकांत निर्जन बनोंमें निवास करते हैं, अपने मनमें रातदिन मुक्ति-सुन्दरीके मिलनेकी उत्कंठामें लगे रहते हैं, वे साधुजन अपने ही आत्माके निश्चय स्वरूपका विचार करते हैं और उसी आत्मानुभवमें थिरता पानेका उद्यम करते हैं। जितना जितना आत्मानुभव बढ़ता जाता है और वीतरागताकी वृद्धि होती जाती है, उतना उतना ही कर्मोंका अधिक क्षय होता जाता है और बंधका अभाव होता जाता है। आत्मसमाधि रूपी नौकापर चढ़े हुए साधु आत्मानंदको पाते हुए बड़े सुखसे इस संसारकी विशाल यात्राको उल्लंघन करके मोक्षमें पहुंच जाते हैं।

प्रयोजन कहनेका यह है कि जो ब्रह्मानंदके स्वादके चाहनेवाले हैं उनको सर्व आरंभ परिग्रहसे विरक्त होकर साधुके चारित्रको पालते हुए आत्मध्यानका अभ्यास बढ़ाना जरूरी है। जिन साधुओंकी दृष्टि सदा आत्मानुभवकी तरफ लगी रहती है वे ही साधु शीघ्र मुक्तिको पहुंच जाते हैं।

जैसा श्री पद्मनंदि मुनिने सद्बोधचंद्रोदयमें कहा है कि आत्मध्यान ही मुख्य है—

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतम् स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदंतरम् ॥ २० ॥

भावार्थ-हे बुद्धिमानों! आत्मज्ञानरूपी पवित्र तीर्थ एक आश्चर्यकारी तीर्थ है, इसमें बराबर भले प्रकार स्नान करो। जो कर्ममल अंतरङ्गमें है व जिसको अन्य करोड़ों तीर्थ धो नहीं सके उस मैलको यह आत्मज्ञान रूपी तीर्थ धो देता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जिस मुनिके मनमें लोक व्यवहार सारा।
शिव पथ हर्तारा घोर आरम्भ कारा॥
नहिं होत सुसाधू आत्म तत्त्वे विहारी।
कर क्षय मल सर्व ब्रह्म पद लेत भारी॥ २०॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि कामविकार बड़ा प्रबल है, इसने सर्व जगतको वश कर लिया है।

नो वृद्धा न विचक्षणा न मुनयो न ज्ञानिनो नाधमाः।
नो शूरा न विभीरवो न पशवो न स्वर्गिणो नांडजाः॥
त्यज्यंते समवर्तिनेव सकला लोकत्रयव्यापिना।
दुर्वारेण मनोभवेन नयता हत्वांगिनो वश्यतां॥ २१॥

अन्वयार्थ-(समवर्त्तिना इव) समवर्ती जो यमराज या मरण उसके समान (लोकत्रयव्यापिना) तीन लोकमें व्यापी (दुर्वारेण) महान कठिनतासे दूर करनेयोग्य तथा (अंगिनः) शरीर धारियोंको (हत्वा) मार करके (वश्यतां नयता) अपने वश करनेवाले (मनोभवेन) कामदेवके द्वारा (नो वृद्धाः) न तो वृद्ध (न विचक्षणाः) न चतुर (न मुनयः) न साधुजन (न ज्ञानिनः) न ज्ञानी लोग (न अधमाः) न नीच पुरुष (नो शूराः) न वीर मानव (न विभीरवः) न डरपोक मन (न पशवः) न पशुगण (न स्वर्गिणः)

न स्वर्गके देवता (न अण्डजाः) न पक्षीगण (सकलाः) ये सर्व ही (न त्यज्यन्ते) नहीं छोड़े जाते हैं।

(नोट—यहां एक न ऊपरसे लगाना उचित है।)

भावार्थ—जैसे मरणके आधीन सर्व शरीरधारी प्राणी हैं वैसे कामदेवके आधीन सर्व प्राणी होरहे हैं। मरण जैसे तीन लोकके प्राणियोंको सताता है वैसे कामदेव भी प्रायः सब प्राणियोंको सताता है। जैसे मरणको निवारा नहीं जासक्ता वैसे कामदेवको निवारना कठिन है। जैसे मरणको बुद्धिवान, मूर्ख, धनवान, निर्धन, साधु, संत, वीर, कायर, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि किसी भी शरीरधारीको नहीं छोड़ता है वैसे ही कामदेवने प्रायः सर्व शरीरधारियोंको सता रक्खा है। मैथुन संज्ञा अर्थात् कामकी चाह एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें है। यहांतक आचार्यने कामदेवकी प्रबलता इसीलिये दिखाई है कि यह कामभाव परिणामोंको बहुत रागी व मोही बना देता है व इसके वशमें बड़े २ साधु व वीर पुरुष भी आकर कायर व दीन होजाते हैं। यह काम इस जीवका महान शत्रु है। इस जन्ममें यह काम प्राणीको अन्धा बनाकर धर्म कर्मसे भ्रष्ट कर देता है तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंसे हटा देता है और परलोकमें दुर्गतिमें पटक देता है। जहांसे भ्रमण करते२ मानवजन्म पाना बहुत दुष्कर होजाता है। जिन स्त्री पुरुषोंने कामभावको जीता है वे ही साम्यभावमें भलेप्रकार रम सक्ते हैं, वे ही सच्चे सुख व शांतिको प्राप्त कर सक्ते हैं। कामभावसे बचनेके लिये हरएक बुद्धिमान प्राणीको सदा ही यत्न करना योग्य है। ब्रह्मभाव और कामभावमें वैर है। ब्रह्मभाव जब निराकुलताका कारण है तब

कामभाव तीव्र आकुलताका कारण है। तत्त्वभावनाका महान घातक यह कामदेव है। श्री पद्मनंदि मुनि ब्रह्मचर्य रक्षामें ऐसा कहते हैं:—

चेतो भ्रांतिकरी नरस्य मदिरा प्रीतिर्यथा स्त्री तथा ।
तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि संभाव्यते ॥
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकाम् ।
कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ॥

भावार्थ—जैसे मदिरा मनुष्यके चित्तमें भ्रांति पैदा कर देती है वैसे ही स्त्रीकी प्रीति मनको बावला बना देती है। ऐसी स्त्रीकी संगतिमें किसतरह थोड़ा भी मुनिका व्रत संभव होसक्ता है ? इसलिये जो संसारसागरमें डूबनेसे भयवान हैं और तपकी भूमिमें प्राप्त होचुके हैं ऐसे व्रतियोंको उचित है कि सर्व स्त्रियोंके त्यागमें महान उद्यम रक्खें। मनकी शुद्धि काम भावके त्यागसे ही होती है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छंद ।

यम सम दुर्वारं काम कुत्सितविकारं ।
जगत जनोंको है पोड़ता हन अपारं ॥
पशु देव सु वीरं वृद्ध मुनि ज्ञानधारं ।
प्राणी सब मोहे कामको कर निवारं ॥ २१ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस कामभावको वैराग्य व आत्मध्यानसे जीतना उचित है—

शश्वद्दुःसहदुःखदानचतुरो वैरी मनोभूरयम् ।
ध्यानेनैव नियम्यते न तपसा संगेन न ज्ञानिनाम् ॥
देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं स्वाभाविकं निश्चलम् ।
वैराग्यं परमं विहाय शमिनां निर्वाणदानक्षमम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(अयम्) यह (मनोभूः) कामभाव (शश्वत्)

सदा ही (दुःसहदुःखदानचतुरः) असहनीय दुःख देनेमें चतुर (वैरी) शत्रु है। इसको (ध्यानेन एव) आत्मध्यानसे ही (नियम्यते) वश किया जा सक्ता है (न तपसा) न तो तप करनेसे (न ज्ञानिनाम् संगेन) न ज्ञानियोंकी संगतिसे यह वश होता है अथवा (शमिनां) शांत चित्तवालोंको (निर्वाणदानक्षमं) मुक्ति देनेमें समर्थ जो (देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं) देह और आत्माके भिन्न२ ज्ञानसे उत्पन्न (निश्चलं) निश्चल (स्वाभाविकं) व स्वाभाविक (परमं) उत्कृष्ट (वैराग्यं) वैराग्य है (विहाय) उसको छोड़कर और कोई उपाय नहीं है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने कामभाव मिटानेके लिये आत्मध्यानको ही मुख्य कारण बताया है और उस आत्मध्यानको ही उत्तम वैराग्य कहा है। यह बात बिलकुल ठीक है कि जहां वैराग्य होता है वहीं राग मिटता है। यदि वैराग्य न हो और नाना प्रकारके तप किये जावें तथा विद्वान पंडितोंकी संगतिमें रहकर ज्ञानकी चर्चा सुनी जावे तब भी कामका विकार मनसे नहीं हटता है। इसलिये स्वाभाविक वैराग्यकी प्राप्ति करनी उचित है। शरीर और आत्मा इन दोनोंका सम्बंध दूध और पानीकी तरह एकमेक होरहा है। जिसने जिनवाणीके अभ्याससे भलेप्रकार समझ लिया है कि आत्माका स्वभाव भिन्न है और शरीरका स्वभाव भिन्न है उसीने आत्माके सच्चे स्वरूपका पता पाया है। आत्मा स्वतंत्र एक द्रव्य है—गुणपर्यायमय है। चेतना, सुखचरित्र (वीतरागता) वीर्य, सम्यक्त आदि इसके विशेष गुण हैं। तथा इन गुणोंमें परिणमन होना सो पर्यायें या अवस्थाएं हैं। आत्मा असलमें शुद्ध

गुण व शुद्ध पर्यायोंका धनी है। वह अमूर्तीक है। इसमें न क्रोधादि विकार रूप भावकर्म हैं, न ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप द्रव्यकर्म हैं, न शरीरादि नो कर्म हैं। संसार सम्बंधी भाव कि मैं सुखी हूं या दुःखी हूं यह भी मोहका विकार है। सांसारिक सुख तृप्तिकारक नहीं है, पराधीन है, जब कि आत्मीक सुख स्वाधीन व परम संतोषकारक है। ऐसा भेद विज्ञान जिस किसीके चित्तमें होजाता है और जो इस भेदविज्ञानके बलसे आत्माको सर्व अन्य द्रव्योंसे व सर्व प्रकार अशुद्ध भावोंसे भिन्न अनुभव करता है उसको अभ्यासके बलसे आत्मीक आनन्दका बढ़िया स्वाद आने लगता है। तब उसकी बुद्धिसे इन्द्रियसुखकी रुचि हट जाती है। बस यही वह बीज है जिससे कामभावको जीता जासक्ता है। जिसको वारवार आत्मज्ञानके अभ्याससे चित्तकी निश्चलता होजाती है और दृढ़ उदासीनता संसारके कामोंसे होजाती है व निजसुखके भोगनेकी तीव्र रुचि बढ़ जाती है, उसके दिलसे कामभाव बिलकुल निकल जाता है। आत्मज्ञान सहित जो वैराग्य है वही मुक्तिका कारण है वही कर्मोंकी निर्जरा करता है। इस आत्मज्ञान सहित वैराग्यके लिये उपवास करना, रस त्यागना आदि तप, तथा ज्ञानियोंकी संगतिमें बैठकर शास्त्रका विचार करना निमित्त है। जो आत्मध्यानकी खोज इन निमित्तोंको मिलाकर नहीं करता है उसके मनमें कामभावका वैरी ब्रह्मज्ञान नहीं पैदा होता है। इसीलिये आचार्यने दिखाया है कि आत्मध्यान और वैराग्यके विना, मात्र तप व मात्र ज्ञानियोंकी संगति करना कामदेवको नाश नहीं कर सक्ते।

मुख्य आत्मानुभव है, वही औषधि है जिससे वैराग्य आजाता

है और कामका राग मिट जाता है । इसलिये जो सचे हितके वांछक हैं उनको वैराग्य सहित आत्मध्यानका अभ्यास सदा करना चाहिये। ध्यानके सम्बंधमें विशेष कथन पुस्तकके अंतमें दिया गया है वहांसे पाठक ध्यानकी रीतियोंको समझें । यहां यह मतलब है कि काम भावको आत्माकी उन्नतिका परम वैरी समझकर उसके नाश करनेके उपायमें लगे रहें तथा उसके आक्रमणसे बचनेके लिये सदा सावधान रहे । यह बात अच्छी तरह समझ लें कि कामकी उत्पत्ति मनमें होती है। जिसके मनमें ब्रह्मभावका स्वाद आजाता है वही मन कामभावके स्वादको बुरा जानने लगता है । जैसे किसी मनुष्यने अपने ग्रामके खारे कूएका पानी पिया है और वह उसे ही मीठा समझ रहा है । एक दिन वह दूसरे ग्राममें जाता है और वहां उसे मीठे कूएंका मीठा पानी कोई पिलाता है, तब उसका भाव एकदम फिर जाता है । वह जब इस मीठे पानीके स्वादका मुकाबला अपने कूएंके खारे पानीके स्वादसे करता है तब इसको यह दृढ़ निश्चय होजाता है कि असली मीठा पानी तो वह है जो आज पिया है। अबतक जो मैंने अपने ग्रामके कूएंके पानीको मीठा समझा था सो मेरी भूल थी । वह तो खारा पानी है, मीठा पानी तो यह है । इसी तरह जब आत्मध्यानसे आत्मानन्दका स्वाद आने लगता है तब विषयसुख विरस है, सच्चा सुख नहीं है यह बुद्धि जमती है । इसलिये आत्मध्यानका ही उपाय करना परम श्रेयस्कर है। श्री पद्मनंदि मुनिने सद्‌बोध-चन्द्रोदयमें कहा है कि आत्मध्यान ही परम कल्याणकारी है—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिः वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्वमहिशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चयः ॥२५॥

भावार्थ-जो आत्मतत्त्व सर्व रागादि उपाधियोंसे रहित है तथा ज्ञानमय है वही तत्व हमको इष्ट है। उसके समान और कोई भी अल्प भी तत्त्व मोक्षका कारण नहीं है। यही योगका निश्चय या सार है। अर्थात् आत्मतत्त्वके अनुभवसे ही मुक्ति हो सक्ती है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

दुःसह दुखकारी, काम रिपु कर निवारो।
कर आतम ध्यानं, चित्त वैराग्य धारो॥
या विन बुध सङ्ग, और तप नहिं नशावे।
लख आतम भिन्नं, देहसे मुक्त पावे॥ २२॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो अविवेकी हैं वे सदा संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं—

कः कालो मम कोऽधुना भवमहं वर्ते कथं सांप्रतम्।
किं कर्मात्र हितं परत्र मम किं किं मे निजं किं परम्॥
इत्थं सर्वविचारणाविरहिता दूरीकृतात्मक्रियाः।
जन्मांभोधिविवर्तपातनपराः कुर्वन्ति सर्वाः क्रियाः॥२३॥

अन्वयार्थ-(मम) मेरा (कः) कौनसा (कालः) काल है (अधुना) अब (कः) कौनसा (भवम्) जन्म है (सांप्रतम्) वर्तमानमें (अहं) मैं (कथं) किसतरह (वर्ते) वर्ताव करूं (अत्र) इस जन्ममें (मम) मेरा (किं कर्म) कौनसा कार्य (हितं) हितकारी है (परत्र) पर जन्ममें (किं) कौनसा कर्म हितकारी है। (मे) मेरा (निजं) अपना (किं) क्या है (परम्) पर (किं) क्या है (इत्थं) इस प्रकारकी (सर्व विचारणाविरहिता) सर्व विवेकबुद्धिको न करते हुए (दूरीकृतात्मक्रियाः) तथा आत्माका आचार दूर ही

रखते हुए जगतके जन (जन्मांभोधिविवर्तपातनपराः) संसारसमुद्रके भंवरमें पटकनेवाले (सर्वाः क्रियाः) सर्व आचरणोंको (कुर्वन्ति) करते रहते हैं।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि विवेकी पुरुष व स्त्रियोंको नीचे लिखे प्रकार प्रश्नोंको व उत्तरोंको विचारते रहना चाहिये—

(१) मेरा कौनसा काल है?

उत्तर–मेरा काल बालक है, युवा है या वृद्ध है, अथवा यह समय कैसा है। सुभिक्ष है या दुर्भिक्ष है। रोगाक्रांत है या निरोग है। अन्यायी राज्य है या न्यायवान राज्य है, चौथा काल है या पांचमा दुखमा काल है।

(२) मेरा अब कौनसा जन्म है?

उत्तर–मैं इस समय मानव हूं, पशु हूं, देव हूं या नारकी हूं, राजा हूं या रंक हूं।

(३) मैं अब किसतरह वर्ताव करूं?

उत्तर–इसका उत्तर विचार करते हुए अपना ध्येय बना लेना चाहिये कि मैं क्या इस समय मुनिव्रत पाल सक्ता हूं या क्षुल्लक, ऐलक व ब्रह्मचारी श्रावक होसक्ता हूं, या मैं गृहस्थमें रहते हुए धर्म साध सक्ता हूं, या मैं गृहस्थमें रहते हुए कौनसी प्रतिमाके व्रत पाल सक्ता हूं, या मैं आजीविकाके लिये क्या उपाय कर सक्ता हूं अथवा मैं परोपकार किसतरह कर सक्ता हूं।

(४) इस जन्ममें मेरा हितकारी कर्म क्या है?

उ०–मैं इस जन्ममें मुनि होकर अमुक२ शास्त्र लिख सक्ता

हूं व अमुक देश, जिलेमें जाकर धर्मका प्रचार कर सक्ता हूं अथवा मैं गृहस्थमें रहकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोको साध सक्ता हूं। और धनसे अमुक२ परोपकार कर सक्ता हूं।

(५) परलोकमें मेरा हित क्या है?

उ०–मैं यदि परलोकमें साताकारी सम्बन्ध पाऊं, जहां मैं सम्यग्दर्शन सहित तत्वविचार कर सकूं, तीर्थंकर केवलीका दर्शन कर सकूं, उनकी दिव्यध्वनिको सुन सकूं, मुनिराजोंके दर्शन करके सत्संगतिसे लाभ उठा सकूं, ढाईद्वीपके व तेरहद्वीपके अकृत्रिम चैत्यालयोंके दर्शन कर सकूं, तो बहुत उत्तम है जिससे मैं परम्परासे मोक्ष धामका स्वामी हो सकूं।

(६) मेरा अपना क्या है?

उ०–मेरा अपना, मेरा आत्मा है; सिवाय अपने आत्माके कोई अपना नहीं है। आत्मामें जो ज्ञानदर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं वे ही मेरी सम्पत्ति है। मेरा द्रव्य अखण्ड गुणोंका समूह मेरा आत्मा है। मेरा क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी मेरा आत्मा है। मेरा काल मेरे ही गुणोंका समय२ शुद्ध परिणमन है। मेरा भाव मेरा शुद्ध ज्ञानानंदमय स्वभाव है। सिवाय इसके कोई अपना नहीं है।

(७) मेरेसे अन्य क्या है?

उ०–मेरे स्वभावसे व मेरी सत्तासे भिन्न सर्व ही अन्य आत्माएं हैं, सर्व ही अणु व स्कंधरूप पुद्गल द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा काल द्रव्य हैं, मेरी सत्तामें जो मोहके निमित्तसे रागादि भाव होते हैं ये भी मेरे नहीं हैं न किसी प्रकारका कर्म व नोकर्मका संयोग मेरा अपना है, वे सब पर हैं।

जो विवेकी इन प्रश्नोंको बिलकुल विचार नहीं करते हैं वे आत्मोन्नतिसे सर्वथा दूर रहते हैं। वे वह कुछ भी आचरण नहीं पालते हैं जिससे आत्माको सुख शांति प्राप्त हो। वे रातदिन संसारके मोहमें फंसे रहते हैं और विषय कषाय सम्बंधी अनेक न्याय व अन्याय क्रूर कार्योंको करते हुए अनेक प्रकारके कर्म बांध संसार-सागरमें गोते लगाते रहते हैं। ऊपर लिखित विवेक जिनमें होता है वास्तवमें वे ही मानव हैं। जिनमें यह विचार नहीं है वे पशुतुल्य नितान्त अज्ञानी तथा मूर्ख हैं, मानव जन्मको पाकर जो विषयोंमें खो देते हैं वे महा अज्ञानी हैं।

श्री ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्रजी कहते हैं—

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित् कामार्थलालसाः ॥

सुप्राप्यं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—मानव जन्म, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इंद्रियोंकी पूर्णता, बुद्धिकी प्रबलता, साताकारी सम्बन्ध ये सब अत्यन्त दुर्लभ हैं। पुण्य योगसे इनको पाकर भी जो कोई प्रमादमें फंस जाते हैं व द्रव्यके और कामभोगोंके लालसावान होजाते हैं, वे रत्नत्रयमार्गसे भ्रष्ट रहते हैं। इस संसाररूपी समुद्रमें रत्नत्रयका मिलना मानवोंको सुगमतासे नहीं होता है। यदि कदाचित् अवसर आजावे तो रत्नत्रय धर्मको प्राप्त करके रक्षित रखना चाहिये। यदि सम्हाल न की तो जैसे महासमुद्रमें हाथसे गिरे हुए रत्नका मिलना फिर कठिन है उसी तरह फिर रत्नत्रयका मिलना दुर्लभ है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

कैसा है काल कौन है जन्म मेरा,
किस विध वर्तूं मैं, क्या सुहित अत्र मेरा।
परलोके हित क्या, क्या जु अपना पराया,
ऐसे चिन्ते बिन, भव उदधि निज डुबाया॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधु मार्ग ही मुक्तिका कारण है—

शार्दूलविक्रीडित।

येषां काननमालयं शशधरो दीपस्तमश्छेदकः।
भैक्ष्यं भोजनमुत्तमं वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम्॥
संतोषामृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते।
धन्या यांति निवासमस्तविपदं दीनैर्दुरापं परैः॥ २४॥

अन्वयार्थ—(येषां) जिन महात्माओंका (आलयं) घर (काननं) जंगल है, (तमश्छेदकः) अंधकारको नाशनेवाला (दीपः) दीपक (शशधरः) चन्द्रमा है, (उत्तमं भोजनं) उत्तम भोजन (भैक्ष्यं) भिक्षाद्वारा हाथमें रक्खा हुआ भोजन लेना है, (शय्या) सोनेका पलंग (वसुमती) भूमि है, (तु) तथा (अम्बरं) कपड़ा (दिशः) दिशाएं हैं (ते) वे (संतोषामृतपानपुष्टवपुषः) संतोष रूपी अमृतके पानसे अपने शरीरको पुष्ट करनेवाले (धन्याः) धन्य साधु (कर्माणि) कर्मोंको (निर्धूय) धोकर (परैः दीनैः) दूसरे दीन पुरुषोंसे (दुरापं) न प्राप्त करने योग्य (अस्तविपदं) सर्व आपत्तियोंसे रहित निराकुल (निवासं) मोक्षस्थानको (यांति) प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—यहां आचार्यने दिखलाया है कि निर्ग्रंथ लिंगधारी साधु महात्मा ही मोक्षके अधिकारी हैं।

जिन महात्माओंने धन धान्यसे भरे हुए घरको छोड़कर जंगलको ही अपना घर बना लिया है, तेलबत्तीसे बने हुए दीपकको छोड़कर चंद्रमाहीसे दीपकका काम लेना शुरू किया है, नानाप्रकार मनोज्ञ मिठाई पक्वानका भोजन छोड़कर भिक्षा द्वारा प्राप्त नीरस सरस भोजनको लेना ही अपना कर्तव्य समझा है, जिन्होंने पलंग गद्दे आदि मुलायम बिछौनोंको छोड़कर भूमिको ही अपनी निरारंभी व निराकुल शय्या माना है, जिन महान् पुरुषोंने सर्व प्रकारके रुई आदिके वस्त्रोंको त्यागकर दशदिशाओंको ही अपना स्वाभाविक वस्त्र जाना है ऐसे वस्त्र त्यागी व परिग्रह रहित निर्जन वनवासी साधु ही सदा सन्तोषरूपी अमृतसे तृप्त रहते हैं। वे साताकारी सामग्रीके संयोगमें हर्ष नहीं मानते हैं व असाताकारी पदार्थोंके सम्बन्धमें शोक नहीं करते हैं, निरंतर आत्मानंदरूपी अमृतको पीते हुए तृप्त रहते हैं। वे ही साधु अपने वीतराग भावसे कर्मोंको नाश करके अविनाशी मोक्षपदको पालेते हैं। जहां कोई न चिंता है न शरीर है, न कोई व्याधि है न कोई आकुलता है, न कुछ काम करना है। जहां निरंतर आत्मानंदका विलास रहता है। ऐसे अपूर्व पदको वे नहीं पासक्ते हैं जो कायर हैं व दीन हैं। जो घरसे ममता नहीं छोड़ सक्ते, जो रसीले भोजन पानके करनेवाले हैं। जो मुलायम गद्दोंपर सोते हैं व जो अनेक प्रकार वस्त्रोंसे अपने शरीरको ढकते हैं, तथा जो असाता पड़नेपर क्रोधी व साता मिलनेपर राजी होजाते हैं ऐसे नाममात्रके साधु कभी भी मुक्तिपदको नहीं पासक्ते हैं।

श्री पद्मनंदि मुनि यत्याचार धर्ममें लिखते हैं—

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो ।
यदींद्रियसुखं सुखं तदिह कालकूटः सुधा ॥
स्थिरो यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिद्दाम्बरे ।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदन्द्रजालेऽपि च ॥ ५६ ॥

भावार्थ—यदि परिग्रह धारी साधुओंको मोक्ष होता हुआ माना जावे तो अग्निको ठंडा मानना पड़ेगा। इंद्रियोंका सुख यदि सुख होजावे तो विषको भी अमृत मानना होगा। शरीर यदि स्थिर माना जावे तो आकाशमें बिजलीको स्थिर मानना होगा, और यदि संसारमें रमणीकता मानी जावे तो इन्द्रजालके खेलमें रमणीकता मानना होगा।

मतलब यह है कि परिग्रह त्यागी, इंद्रियसुखसे विरागी, शरीरको अनित्य माननेवाला संसारको रमणीक न देखनेवाला ही साधु महात्मा मोक्षका अधिकारी है।

मूलश्लोकानुसार त्रिभंगी छन्द।

जिनका बन डेरा चंद्र उजेरा दीपक नेरा तम नाशे।
भिक्षा है भोजन अम्बर दिश गण भूशयनास न परकाशे ॥
जो संतोषामृत पीवत सुखकृत कर्मन धोवत सुखभासे।
सो यति शिव पावे विपत् नशावे दीन न पावे लघुतासे ॥२४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पर पदार्थोंपर स्नेह करते हैं वे आत्महितसे गिर जाते हैं—

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बांधवा मेंऽगजाः।
तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जनाः॥
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीस्रस्यते ॥२७॥

अन्वयार्थ–(मे माता) यह मेरी माता है (मम गेहिनी) यह मेरी स्त्री है (मम गृहं) यह मेरा घर है (मे बांधवाः) ये मेरे बंधुजन हैं (मे अंगजाः) ये मेरे पुत्र हैं (मे तातः) यह मेरे पिता हैं (मम संपदः) यह मेरा धन है (मम सुखं) यह मेरा सुख है । (मे सज्जनाः) ये मेरे हितैषीजन हैं (मे जनाः) ये मेरे परिवारके लोग हैं (इत्थं) इस तरहके (घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः) भयानक ममता रूप अंधकारसे जिसका ज्ञान अस्त होरहा है ऐसा (प्राणी) प्राणी (शर्मोधानविधानतः) सच्चे सुखको प्राप्त करानेवाले (स्वहिततः) अपने हितकारी कार्यसे (सनीस्रस्यते) दूर भागता जाता है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने बाहरी पदार्थोंसे ममता करनेका कटुक फल दिखलाया है। जैसे मदिराके पीनेसे बुद्धि बिगड़ जाती है, बेहोशी आजाती है, अपनी सुधि नहीं रहती है उसी तरह मोहके कारण यह प्राणी अपने आत्माके हितको भूल जाता है। यह जब कभी जरा विचार करता है तो समझ लेता है कि जब शरीर ही अपना नहीं है तब शरीरके साथी माता पिता, स्त्री, बंधु, पुत्र, मित्र परिवार, धन, गृह आदि चेतन व अचेतन पदार्थ अपने कैसे होंगे ? परंतु कुछ ही देर पीछे फिर ऐसा मोहित होजाता है कि रात दिन इसी खयालमें फंसा रहता है कि ये मेरे पुत्र हैं, यह स्त्री हैं, यह धन है, ये बंधुजन हैं, इनको मैं पालनेवाला हूं, उन सबको मेरी आज्ञा माननी चाहिये अथवा ये सब बने रहें और मेरा काम चलता रहे। ये सब मेरे इंद्रिय सुखके भोगमें सहकारी हैं, यह धन सदा बना रहे, इसीसे मेरा जीना सफल है। प्रातःकालसे

संध्या होती है, संध्यासे सवेरा होता है। इस मोही प्राणीको इन्हीं पर पदार्थोंका ही विचार रहता है। उनके रोगाक्रांत होनेपर उनकी दवाईमें, उनके वियोग होनेपर शोक करनेमें इस तरह अपना मन उन्हींके रक्षणमें फंसाए रखता है। एक समय भरके लिये भी सच्चे ज्ञानको नहीं विचारता है कि ये सर्व सम्बंध क्षणभंगुर शरीरके हैं। इनसे मेरा सच्चा हित न होगा तथा यह धन और इंद्रियोंके भोग्य पदार्थ मुझे कभी भी तृप्ति नहीं देते हैं। जितना मैं इनका संग्रह करता हूं उतना ही अधिक मैं प्यासा व तृष्णावान व चिंतातुर बना रहता हूं। यह जीव रात दिन मोहके प्रपंचसे नहीं छूटता। यह जितना अधिक मोह बढ़ाता है उतना अधिक अपने सच्चे हितकारी कार्यसे दूर होता चला जाता है, हाय हाय करते हुए एक दिन मर जाता है और आर्त व रौद्रध्यानके कारण दुर्गतिमें चला जाता है। आचार्य कहते हैं कि सच्चा सुख तो आत्मामें है। यह अज्ञानी मोही जीव इसी आत्माकी विभूतिसे शून्य रहता हुआ घोर संकटोंमें पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि पर पदार्थोंका मोह करना मूढ़ता है। ज्ञानीको उनसे मोह न करके अपना लक्ष्य आत्मोन्नतिमें रखना उचित है।

अनित्यपंचाशत्‌में श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं–

अंभोबुद्‌बुदसन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा।
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कांतार्थपुत्रादयः॥
सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्तांगनापांगवत्।
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा॥४॥

भावार्थ–यह शरीर पानीके बुदबुदेके समान क्षणभङ्गुर है, यह

लक्ष्मी इन्द्रजालके समान मिटनेवाली है, यह स्त्री पुत्रादिक कठिन वायुसे चलाए हुए मेघोंके समान जानेवाले हैं, इंद्रिय विषयोंका सुख मत्त स्त्रीके नेत्रके समान चंचल है इसलिये उन नाशवंत पदार्थोंके मिलनेमें हर्ष क्या व जानेमें शोक क्या ? अर्थात् ज्ञानी इनके संबंधमें राग व वियोगमें शोक नहीं करते हैं।

मूलश्लोकानुसार छन्द मालती ।

मा मेरो गृहिणि मेरो मम, घर मेरे बांधव मे पुत्रा ।
मेरा बाप सम्पदा मेरो, मेरा सुख सज्जनजन मित्रा ॥
या विधि घोर मोह ममता वश, मूढ रहो है ज्ञान सुनेत्रा ।
सुखकारी निज हितसे प्राणी, दूर रहत है कार्य विचित्रा ॥२५

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परपदार्थोंके वियोग होनेपर शोक न करना चाहिये—

विख्यातौ सहचारितापरिगतावाजन्मनायौ स्थिरौ ।
यत्रावार्यरयौ परस्परमिमौ विश्लिष्यतोंगांगिनौ ॥
खेदस्तत्र मनीषिणा ननु कथं बाह्ये विमुक्ते सति ।
ज्ञात्वेतीह विमुच्यतामनुदिनं विश्लेषशोकव्यथा ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ-(यत्र) जहां (यौ) ये जो (अंगांगिनौ) दोनों शरीर तथा शरीर धारी जीव हैं (विख्यातौ) सो बड़े मशहूर हैं (सहचारिता परिगतौ) अनादिकालसे साथ साथ आते चेले आरहे हैं (आजन्मनायौ स्थिरौ) जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त दोनों स्थिर रहते हैं (इमौ) इन दोनोंको (परस्परं) एक दूसरेसे (अवार्यरयौ) विरह करना बड़ा ही कठिन है । तौभी (विश्लिष्यतः) इन दोनोंका परस्पर वियोग होजाता है (तत्र) वहां (बाह्ये) बाहरी वस्तु स्त्री पुत्रादिके (विमुक्ते सति) छूट जानेपर (मनीषिणा) बुद्धिमान पुरु-

यको (ननु कथं स्वेदः) क्यों शोक करना चाहिये ? इस जगतमें (इति) ऐसा (ज्ञात्वा) जानकर (अनुदिनं) प्रतिदिन (विश्लेषशोक-व्यथा) बाहरी वस्तुओंके वियोगके शोकके कष्टको (विमुच्यताम्) छोड़ देना ही उचित है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने स्त्री पुत्रादिके मोहके नाशका व उनके शोकके नाशका उपाय बताया है कि बुद्धिमान प्राणीको यह विचारना उचित है कि यह शरीर जिसका इस अशुद्ध संसारी जीवके साथ अनादिकालका सम्बन्ध है वह भी एक भवमें जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त रहता है, यद्यपि यह फिर कर्मोके उदयसे प्राप्त होजाता है तौभी फिर मरण होनेपर छूट जाता है। हम जो चाहें कि इस शरीरका सम्बंध न हो तो हमारे मनकी बात नहीं है। कर्मोके उदयसे बारबार इनका सम्बन्ध होता ही रहता है और छूटता ही रहता है। जब कर्मोका बंध बिलकुल नहीं रहता है तब तो सदाके लिये शरीरका सम्बन्ध छूट जाता है। कहनेका मतलब यह है कि वह शरीर जिसके साथ यह जीव परस्पर दूध पानीके तरह मिला हुआ है, एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध किये है, वे भी जब छूट जाते हैं तब स्त्री, पुत्र, मित्रादि व घर धन राज्य आदि जो बिलकुल बाहरी पदार्थ हैं उनका सम्बन्ध क्यों नहीं छूटेगा ? जो वस्तु अपनी नहीं है उसके चले जानेका क्या खेद ? इसलिये बुद्धिमानोंको कभी भी अपने किसी माता पिता, भाई बन्धु, पुत्र व मित्रके वियोगपर या धनके चले जानेपर शोक नहीं करना चाहिये। इनका सम्बन्ध जो कुछ है भी वह शरीरके साथ है जब यह शरीर ही छूटेगा तब इनके छूटनेका

क्या विचार ? इसलिये पर पदार्थोंके संयोगमें हर्ष व वियोगमें शोक न करना ही बुद्धिमानी है ।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत्‌में कहते हैं:—

तडिदिव चलमेतत् पुत्रदारादिसर्वं ।
किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ॥
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवानलस्य ।
व्यभिचरति कदाचित् सर्वभावेषु नूनं ॥ २६ ॥

भावार्थ—ये पुत्र स्त्री आदि सर्व पदार्थ बिजलीके चमत्कारके समान चंचल हैं । इनमेंसे किसीके नाश होनेपर बुद्धिमानोंको शोक क्यों करना चाहिये, अर्थात् शोक कभी न करना चाहिये। क्योंकि निश्चयसे सर्व जगतके पदार्थोंका यह स्वभाव है कि उनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता रहता है । जैसे अग्निमेंसे उष्णता कभी नहीं जाती वैसे उत्पत्ति, नाश व स्थितिपना कभी नहीं मिटता । हरएक पदार्थ मूलपनेसे स्थिर रहता है परन्तु अवस्थाओंकी अपेक्षा नाश होता है और जन्मता है । पुरानी अवस्था मिटती व नई अवस्था पैदा होती है । जगतमें सब अवस्थाएं ही दिखलाई पड़ती हैं इनका अवश्य नाश होगा इसलिये वस्तुस्वभावमें शोक करना मूर्खता है । जो किसीका मरण हुआ है उसका अर्थ यह है कि उसका जन्म भी हुआ है तथा जिसमें मरण व जन्म हुआ है वह वस्तु स्थिर भी है । जैसे कोई मानव मरकर कुत्ता जन्मा । तब मानव जन्मका नाश हुआ, कुत्तेके जन्मका उत्पाद हुआ परन्तु वह जीव वही है, जो मानवमें था वही कुत्तेमें है । ऐसा स्वभाव जानकर ज्ञानीको सदा समताभाव रखना चाहिये ।

मूलश्लोकानुसार छन्द मालती।

है चिरकाल कुसकृति जिनकी ओघ शरीर प्रसिद्ध जगतमें।
साथ रहैं नित विरह न होवै तदपि छुटत हैं दोउ जगतमें॥
तो फिर पुत्र धनादि बाह्य ये छुटत होत किम खेद जगतमें।
बुद्धिमान हम आन सदा ही शोक करो नहिं कोय जगतमें॥२६॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि पेटकी चिंता बड़ी दुःखदाई है यह चिन्ता धर्म, यश, सुखका नाश करती है—

तिर्यंचस्तृणपर्णलब्धधृतयः सृष्टाः स्थलीशायिनः।
चिंतानन्तरलब्धभोगविभवा देवाः समं भोगिभिः॥
मर्त्यानां विधिना विरुद्धमनसा वृत्तिः कृता सा पुनः।
कष्टं धर्मयशःसुखानि सहसा या सूदते चिंतिता॥२७॥

अन्वयार्थ–(विरुद्धमनसा) विपरीत मनवाले (विधिना) कर्मरूपी ब्रह्माने (तिर्यंचः) पशुओंको (तृणपर्णलब्धधृतयः) तिनके और पत्तोंको खाकर संतोष रखनेवाले व (स्थलीशायिनः) जमीनपर शयन करनेवाले तथा (भोगिभिः सह) भोगभूमियोंके साथ२ (देवाः) देवोंको (चिंतानन्तरलब्धभोगविभवाः) चिंता करते ही भोगोंको भोगनेवाले व ऐश्वर्यवान (सृष्टाः) रचे (पुनः) फिर (मर्त्यानां) कर्मभूमिके मनुष्योंकी (सा वृत्तिः) ऐसी आजीविकाकी पद्धति (कृतः) करदी (या चिंतिता) कि जिसकी चिंता (सहसा) शीघ्र ही (धर्मयशःसुखानि) धर्म, यश तथा सुखोंको (सूदते) नाश कर देती है। (कष्टं) यह बड़े दुःखकी बात है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि हम मनुष्योंको अपने पेट पालनेके लिये भी बहुत कष्ट सहना पड़ता है। पशुओंके तो ऐसा कर्मका उदय है जिससे अधिकांश पशु स्वयं पैदा

होनेवाले घास पत्तोंको खाकर रह जाते हैं व जमीनपर सो जाते हैं। देवोंके ऐसा पुण्यका उदय है कि भूख उनको इतनी कम लगती है कि यदि एक सागर वर्षोंकी आयु हो तो १००० वर्ष पीछे भूखकी वेदना होती है। भूखकी चिंता होते ही उनके इस जातिके परमाणु कण्ठमें होते हैं जिनसे अमृतसा भीतर झड़ जाता है और देवोंकी भूख मिट जाती है। इसीसे उनके मानसिक आहार है। वे कभी ग्रास ले करके कोई भी अन्न या अन्य पदार्थ नहीं खाते। भोगभूमिके मानवोंके यहां भोजनांग वस्त्रांग भाजनांग आदि दस जातिके पृथ्वी कायधारी कल्पवृक्ष होते हैं। उनसे चिंता करते ही इच्छित पदार्थ मिल जाते हैं। उनके भोजन बहुत अल्प होता है। दीर्घकायी होनेपर भी आंवला प्रमाण अमृतमई भोजन करके तृप्त होजाते हैं। परन्तु मानव समाजको कर्मभूमिमें जन्म लेकर असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः प्रकारके साधनोंको करके पहले तो धन कमाना पड़ता है फिर पांचों इंद्रियोंके भोगोंके लिये सामग्री इकट्ठी करनी पड़ती है। इन कार्योंमें अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मानव ऐसे फंस जाते हैं कि नीति व अनीतिको भूल जाते हैं, हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापोंसे धन इकट्ठा करते हैं, बड़े कष्टसे निवाह करते हैं, खानपानमें संतोष न रखकर अभक्ष्य व कामोद्दीपक पदार्थ व मादक पदार्थ खाने लगते हैं। मनकी चंचलता बढ़ जानेसे वेश्यासक्त व परस्त्रीगामी होजाते हैं तथा इंद्रियोंके भोगोंमें व धनके संचयमें ऐसे लवलीन होजाते हैं कि उनको धर्मकी परवाह नहीं रहती है, वे धर्मसाधनको मानो नाश ही कर डालते हैं। अन्याय व अनुचित व्यवहारसे जब दूसरे

मानवोंको सताते हैं तब उनका यश भी जाता रहता है और मैंच आत्मीक सुखकी तो उनको गंध भी नहीं आती है। वे यदि आत्मीक तत्त्वपर लक्ष्य देते तो इस नरभवमें सच्चे सुखको पासक्ते थे परन्तु वे अंध होकर इस रत्नको जो अपने ही पास है गमा बैठते हैं। उनको रात दिन भोगोंकी व पैसा कमानेकी चिंता सताया करती है। कहीं खर्च अधिक कर डाला व आमद कम हुई तो कर्जदार होकर घोर चिंताकी दाहमें जलते रहकर शीघ्र प्राणरहित होजाते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनके ऐसा विपरीत कर्मका उदय है कि जिससे वे महादुःखी रहते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि ऐसे कष्टमय जीवनको पाकरके इस कर्मभूमिके मनुष्य सम्बंधी भोगोंमें लिप्त होना मूर्खता है। इस शरीरमें जहां भोगोपभोगके लिये इतने कष्ट होते हैं वहां इस तनसे संयमका पालन होसक्ता है जिसको न पशु न भोगभूमियां और न देव पालन कर सक्ते हैं। इसलिये बुद्धिमान मानवोंको उचित है कि संतोषपूर्वक व न्याय-पूर्वक जीवन वितावे और वैराग्य पानेपर साधु होजावे और अपने सच्चे सुखको पाते हुए कर्मोंके नाशका उद्यम करें जिससे कभी न कभी मुक्तिके स्वामी होजावे। मनुष्य-जन्मको सफल करना यही बुद्धिमानी है। श्री अमितगति, सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

जन्मक्षेत्रे पवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे ।
देहेव्याधादिसिन्धु प्रपतनजलधौ पापपानीयकुंभे ॥
कुर्वाणो बन्धुबुद्धिं विविधमलभृते यासि रे जीव! नाशं ।
संचिन्त्यैवं शरीरे कुरु हत ममतो धर्मकर्माणि नित्यम् ॥४०५॥

भावार्थ—इस पवित्र जन्मके क्षेत्रमें आकर तू अति चंचल, दोषरूपी सर्पोंसे भरे हुए रोगादि रूपी समुद्रमें गिरनेवाले, पाप

रूपी पानीसे पूर्ण घड़ेके समान तथा नाना प्रकार मलसे भरे हुए इस देहमें अपनेपनेकी बुद्धि करके हे आत्मन्! तू नाशको प्राप्त होगा, ऐसा विचार करके इस शरीरसे ममता टाल दे और नित्य धर्मके कार्योंको कर।

मूलश्लोकानुसार मालती छन्द।

कर्म विधाताने पशुओंको घास पात भोगी थलशायी।
देव और भू भोग नरोंको चिंता करते भोग कराई॥
मर्त्यलोकके मानव पापी, तृप्त जिन्होंने दुखप्रद पाई।
धर्म कीर्ति अर सुख विघटावे, यह काहे विपरीत रचाई॥२७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी जीवको शांतसुखकी इच्छा नहीं होती।

(मालिनीवृत्त)

भजसि दिविजयोषा यासि पातालमंग।
भ्रमसि धरणिपृष्ठं लिप्स्यसे स्वान्तलक्ष्मीम्॥
अभिलषसि विशुद्धां व्यापिनीं कीर्तिकान्तां।
प्रशमसुखसुखाब्धिं गाहसे त्वं न जातु॥ २८॥

अन्वयार्थ—(अंग) हे मन! तू कभी तो (दिविजयोषा) देवोंकी स्त्रियोंको (भजसि) भोगना चाहता है (पातालं यासि) कभी तू पातालमें चला जाता है (धरणिपृष्ठं भ्रमसि) कभी पृथ्वीके ऊपर घूमता है (स्वान्तलक्ष्मीम्) कभी मनके अनुकूल धनको (लिप्स्यसे) प्राप्त करना चाहता है, कभी (विशुद्धां) अति उज्वल (व्यापिनीं) जगतमें फैलनेवाली (कीर्तिकान्तां) कीर्तिरूपी स्त्रीको (अभिलषसि) चाहता है परन्तु (त्वं) तू (जातु) कभी भी (प्रशमसुखसुखाब्धिं) शांतिमय सुख समुद्रमें (न गाहसे) नहाना नहीं चाहता है।

भावार्थ—यहां आचार्यने दिखाया है कि इंद्रियोंके भोगोंके करनेसे सुख मिलेगा इस भ्रम बुद्धिमें उलझा हुआ यह मन नाना प्रकारकी कल्पनाएं किया करता है। कभी तो चाहता है कि स्वर्गमें जाकर पैदा हूं और वहां बहुत सुंदर देवियोंके साथ क्रीड़ा करूँ, कभी भवनवासीके भवनोंका ख्याल कर लेता है जो पाताल-लोकमें रहते हैं—उनके समान घूमना व सुखी होना चाहता है, कभी पृथ्वीमें अनेक देश, नगर, ग्राम, पर्वत, नदी, बाजार, गली आदिकी सैर करना चाहता है। अथवा यह मन ऐसा मूर्ख है कि यह मनसे ही देवियोंको भोग लेता है, मनसे ही पातालमें घूम आता है, मनसे ही सर्व पृथ्वीकी सैर कर लेता है तथा यह चाहता है कि मनके अनुकूल लक्ष्मी प्राप्त हो तथा जगतमें मेरा ऐसा यश फैले कि मैं प्रसिद्ध होजाऊं। इस प्रकारकी कल्पनाओंको करता रहता है। इन कल्पनाओंके कारण अपनी इच्छाओंको बहुत बढ़ा लेता है। तब उनकी पूर्तिके लिये आकुलता करता है, मनको रात-दिन चिंतामें ही फंस जाना पड़ता है। जिन पदार्थोंको चाहता है और वे प्राप्त नहीं हैं, उनके लिये तो मिलानेका उद्यम करते हुए चिन्तित रहता है, जो पदार्थ हैं उनके बने रहनेकी चिंता करता है, जो पदार्थ थे और उनका किसी कारणसे वियोग होगया, उनके फिर मिलनेकी आशासे चिन्ता करता है।

इसतरह निरंतर अशांतिके दाहमें जला करता है और वह सुखशांतिका समुद्र जो अपने ही पास है, जो अपने ही आत्माका स्वभाव है उसकी तरफ निगाह उठाकर भी नहीं देखता है। यदि एक दफे भी उस अनुपम आत्मिक सुखका स्वाद लेले तो फिर

इसकी सारी आकुलता मिटनेका साधन इसको मिल जावे। आचार्यने इस मनकी मूर्खताको इसीलिये जताया है कि हमें मनके कहनेमें न चलकर सुख शांतिका उपाय अवश्य करना चाहिये। इंद्रियोंके पीछे पड़ना आकुलताका बढ़ाने ही वाला है। सुभाषितरत्न संदोहमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पः।
प्राप्नोति पापरहितं विगतान्तरायम्॥
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्य।
किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः॥ ९४॥

भावार्थ—जो इंद्रियरूपी शत्रुओंके घमंडको जीतनेवाला है वह इस जगतमें जैसा पापरहित व विघ्नरहित, निराकुल व आत्मीक सुख पालेता है जिसको वह मानव नहीं पासक्ता जो अज्ञानी है व आत्माको नहीं पहचानता है। वैसे सुखको क्या महान इंद्रियोंकी इच्छारूपी आगमें जलता हुआ है मन जिसका ऐसा प्राणी कभी पासक्ता है? अर्थात् कभी नहीं पासक्ता है, इसलिये शांतिके प्राप्त करनेका ही यत्न करना बुद्धिमानी है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

रे मन तू भोगे देवपत्नी कभी तो।
जावे पातालं देखता भूमितलको॥
निर्मल कीर्तीको प्रचुर धन नित्य चाहे।
पर शम सुखसागरमें कभी नाव गाहे॥ २८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यह मन कभी जिनवाणीका सेवन नहीं करता है—

भोक्तुं भोगिनितंबिनीसुखमधश्चिंतां पनीपत्स्यसे।
प्राप्तुं राज्यमनन्यलभ्यविभवं क्षोणीं चनीकस्यसे॥

लप्तुं मन्मथमंथराः सुरवधूर्नाकं चनीस्कघसे।
रे भ्रान्त्या ह्यमृतोपमं जिनवचस्त्वं नापनीपद्यसे ॥२९॥

अन्वयार्थ–(रे) रे मन (त्वं) तू कभी तो (अधः) पातालमें जाकर (भोगिनितंबिनीसुखं) नागकुमारी देवियोंके सुखको (भोक्तुं) भोगनेके लिये (चिंता) चिंता (पनीपत्स्यसे) करता रहता है, कभी (अनन्यलभ्यविभवं) दूसरेके पास प्राप्त न होसके ऐसी विभूतिवाले (राज्यं) चक्रवर्तीके राज्यको (प्राप्तुं) प्राप्त करनेके लिये (क्षोणीं) इस पृथ्वीपर (चनीकस्यसे) आनेकी इच्छा किया करता है तथा कभी (मन्मथमंथराः) कामसे उन्मत्त ऐसी (सुरवधूः) स्वर्गवासी देवोंकी देवांगनाओंको (लप्तुं) पानेके लिये (नाकं) स्वर्गमें (चनीस्कघसे) जानेको उत्कंठा किया करता है (भ्रान्त्या) इस भ्रममें पड़कर (हि) असलमें (ह्यमृतोपमं) अमृतके समान सुखदाई (जिन वचः) जिनवचनको (नापनीपद्यसे) नहीं प्राप्त करता है अर्थात् जिनवाणीके आनंदके लेनेसे दूर दूर भागता है, यही खेद है।

भावार्थ–यहां आचार्य फिर मनको उलहना देते हैं कि तू बड़ा मूर्ख है जो रातदिन इंद्रियोंके विषयोंमें लम्पटी रहता है और यही चाहता रहता है कि मैं भवनवासी देवोंमें पैदा होकर नागकुमारी स्त्रियोंका भोग करूं व स्वर्गमें जाकर स्वर्गकी महा मनोहर स्त्रियोंके साथ काम चेष्टा करूं व नरलोकमें चक्रवर्तीके समान महान विभूति पाकर छानवे हजार स्त्रियोंका एक साथ अपनी विक्रियाके बलसे भोग करूं। खूब पांचों इंद्रियोंके विषयोंको भोगूं इस चिंतामें रहता हुआ व चाहकी दाहमें जलता हुआ कभी भी सुखी नहीं होता है। एक तो चाह करने मात्रसे इंद्रियोंके सुख मिलते

नहीं । यदि मिल भी जाते हैं तो उनके भोगोंसे तृप्ति होती नहीं और अधिक भोगनेकी चाह बढ़ जाती है । तू अज्ञानी होरहा है, ऐसा समझता है कि इंद्रियोंके भोगमें ही सुख है । तूने कभी अपना ध्यान जिनेन्द्र भगवानकी अमृतमई वाणीके सुननेकी तरफ नहीं दिया । यह भगवानकी वाणी हमको सच्चा मार्ग बताती है । यह हमारा यह भ्रम मिटाती है कि संसारके विषयभोगोंमें सुख है । यह आत्माके भीतर भरे हुए सुखसमुद्रका दर्शन कराती है और उसीमें गोता लगानेकी व उसीके शांत जलको पीनेकी प्रेरणा करती है । जिन्होंने अनेकांतमयी श्री जिनवाणीको समझा है वे सम्यग्दृष्टी होकर सदा सुखी होजाते हैं। भेदज्ञानकी वह दवा ज्ञानियोंको मिल जाती है जिसके प्रतापसे उनकी आत्माको उन्नति करनेका मार्ग मिलता है । इसलिये कहते हैं कि–हे मन ! तू बावलापना छोड़ और एकाग्र होकर जिनवाणीका अभ्यास कर । यह सूर्यके समान पदार्थोंको यथार्थ दिखानेवाली है और सर्व दुःखोंसे छुड़ानेवाली है । यह संसारके रोगको शमन करके आत्माको स्वाधीन बनानेवाली है । श्रीपद्मनंदि मुनि सरस्वतीकी स्तुतिमें कहते हैं–

विधायमानः प्रथमं त्वदाश्रयम् ।
श्रयन्ति तन्मोक्षपद महर्षयः ॥
प्रदीपमाश्रित्य ग्रहं तमस्तते ।
यदीप्सितुं वस्तु लभेत मानवः ॥

भावार्थ–महान् मुनिजन पहले तेरा ही आश्रय लेते हैं फिर मोक्षपदमें जाते हैं जैसे अन्धेरे घरमें दीपकके सहारेसे ही मानवको इच्छित वस्तु मिल सक्ती है । वास्तवमें परम कल्याणकारी जिनवाणीका अभ्यास ही परमोपकारी है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनीछंद।

रे मन तू चाहे नागिनी सुक्ख भोगूं।
स्वर्गोंमें आकर देवनारी सु भोगूं॥
होकर चक्री मैं राज्य सुख सार होवे।
भ्रममें भूला जिन वचन अमृत न जोवे॥ २६॥

उत्थानिका–फिर भी कहते हैं कि हे मन! तू संसार वनमें भ्रमण मत कर—

भीमे मन्मथलुब्धके बहुविधव्याध्याधिदीर्घद्रुमे।
रौद्रारंभहृषीकपाशिकगणे भृज्जद्भृतैणद्विषि?॥
मा त्वं चित्तकुरंग! जन्मगहने जातु भ्रमी ईश्वर।
प्राप्तुं ब्रह्मपदं दुरापमपरैर्यद्यस्ति वांछा तव॥ ३०॥

अन्वयार्थ–(ईश्वरचित्तकुरंग) हे समर्थ मनरूप हिरण (यदि) (तव वांछा) तेरी इच्छा (अपरैः) दूसरोंसे (दुरापम्) कठिनतासे प्राप्त होने योग्य ऐसे (ब्रह्मपदं) आत्मीक मोक्षपदको (प्राप्तुं) पानेकी हो तो तू (मन्मथलुब्धके) कामदेवरूपी पारधीसे वासित (बहुविधव्याध्याधिदीर्घद्रुमे) नानाप्रकार रोग व मानसिक कष्टोंके बड़े २ वृक्षोंसे भरे हुए (रौद्रारंभहृषीकपाशिकगणे) तथा भयानक आरंभ करानेवाले इंद्रियरूपी भीलगणोंसे पूरित तथा (ऐणद्विषि) मनरूपी हिरणके शत्रुओंसे युक्त भयानक (जन्मगहने) संसाररूपी वनमें (वत) व्यर्थ ही (त्वं) तू (जातु मा भ्रमी) कभी न भ्रमण कर।

भावार्थ–आचार्य फिर भी अपने मनको समझाते हैं कि–हे मन! तू बड़ा बावला है, तू विश्रांति नहीं भजता है, तू चाहता है कि मुझे शांत आत्मानंदरूपी जल मिल जावे जिससे तेरी अनादिकी तृष्णारूपी प्यास बुझे। परन्तु तू उस संसाररूपी वनका

मोह नहीं छोड़ता है जहां शांत रसरूपी जलका नाम तक नहीं है, जहां भयानक इंद्रियोंकी चाहकी दाह सदा सताती है व जहां कामदेवरूपी शिकारी सदा बाण मारके तेरा नाश करता है तथा जहां बड़े२ वृक्ष तो हैं परन्तु वे सर्व दुःखदाई हैं–रोगरूपी कांटोंसे भरे हुए व मानसिक कष्टरूपी कटीले पत्तोंसे छाए हुए हैं, जो इस मन रूपी हिरणके महान शत्रुओंसे व्याप्त है। जो वन महा भयानक है जहां तू अपनी प्यास बुझानेको इन्द्रियरूपी भीलोंकी पल्लियोंमें जाता है परन्तु वहांसे शांतरसको न पाकर उल्टा और अधिक प्यासा होजाता है। इससे यह उचित है कि तू इस संसाररूपी वनका मोह छोड़ और इस वनके बाहर जो आत्मारूपी उपवन आत्मानंदरूपी जलसे भरे हुए स्वात्मानुभव रूपी सरोवर सहित है उसकी तरफ जा। तब ही तुझे सुख मिलेगा। वास्तवमें यह मन बड़ा चंचल है। सामायिककी प्राप्ति तब ही होसक्ती है जब मन संसारसे उदास होकर आत्मीक सुखका अभिलाषी होवे। श्री अमितिगतिआचार्य सुभाषितरत्नसंदोहमें चित्तको इसतरह समझाते हैं–

त्यजत युवतिसौख्यं क्षातिसौख्यं श्रयध्वं।
विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम्॥
जहत विषयसंगं ज्ञानसंगं कुरुध्वं।
अमितगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वं॥ १९॥

भावार्थ–तू स्त्रियोंके सुखको छोड़ शांतमई सुखका आश्रय ले, संसारके मार्गसे विरक्त हो व मोक्षमार्गमें रमण कर, इंद्रियोंके विषयोंके संगको छोड़ तथा ज्ञानकी संगति कर जिससे अविनाशी मोक्षधामका निवास प्राप्त होजावे।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

मन हिरण न भ्रम तू भीम संसार वन है ।
जहं काम शिकारी आधि तरु व्याधि घन है ॥
जहं इन्द्रिय दुष्टं भील पोड़ा करत है ।
यदि दुर्गम शिवपदकी चाह तेरे वसत है ॥ ३० ॥

उत्थानिका–आगे श्री जिनेन्द्रसे प्रार्थना करते हैं कि मुझे उत्तम२ गुणोंकी प्राप्ति होवे—

(हरिणी वृत्त)

व्यसननिहृतिर्ज्ञानोद्युक्तिर्गुणोज्ज्वलसंगतिः ।
करणविजितिर्जन्मत्रस्तिः कषायनिराकृतिः ॥
जिनमतरतिः संगत्यक्तिस्तपश्चरणाध्वनि ।
तरितुमनसो जन्मांभोधिं भवंतु जिनेंद्र ! मे ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ-(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र भगवान ! (जन्मांभोधिं) संसार समुद्रको (तरितुमनसः) तिरनेकी मनशा रखनेवाले (मे) मेरेको (तपश्चरणध्वनि) तपके साधनके मार्गमें (व्यसननिहृतिः) द्यूत रमण आदि सातों व्यसनोंका नाश (ज्ञानोद्युक्तिः) ज्ञानकी उन्नति (गुणउज्वलसंगतिः) निर्मल गुणवालोंकी संगति (करणविजितः) इंद्रियोंकी विजय (जन्मत्रस्तिः) संसारसे भय (कषायनिराकृतिः) क्रोधादि कषायोंका नाश (जिनमतरतिः) जैनमतमें रुचि तथा (संगत्यक्तिः) परिग्रहका त्याग इतनी बातें (भवंतु) प्राप्त होवें ।

भावार्थ–यहांपर आचार्य कहते हैं कि जो भव्य जीव संसार-समुद्रसे पार होना चाहता है उसको उन दोषोंको दूर करनेकी व उन गुणोंके प्राप्त करनेकी भावना करनी चाहिये जिनके कारण सुखसे भवसागर पार कर लिया जावे। पहली बात यह है कि इस मनको द्यूत रमण, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यासक्ति, परस्त्री रमण,

शिकार और चोरी व ऐसे ही और भी व्यसनोंका सामना न पड़े। जिन बुरी आदतोंमें पड़नेसे हमारा इह लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं वे सब आदतें व्यसनोंके भीतर शामिल हैं। हरएक मानवको जो अपना हित करना चाहता है यह आवश्यक है कि, खेतके कंकड़ पत्थरकी तरह व्यसनोंको दूर फेंक देवे। जिनका मन किसी व्यसनमें उलझा होता है उनके मनमें आत्मज्ञान नहीं बस सक्ता है और आत्म-ज्ञानके विना अपना हित नहीं हो सक्ता है। इसलिये दूसरी बात यह चाहता है कि ज्ञानकी उन्नति हो। ज्ञानके पीछे चारित्र बढ़ाना चाहिये। इसलिये तीसरी बात यह चाही गई है कि पवित्र गुणधारी व्यक्तियोंकी संगति रहे क्योंकि सच्चारित्रवान पुरुषोंके आचरणका बड़ा भारी असर बुद्धि-पर पड़ता है। फिर चारित्र जो वीतराग भाव है उसके कारण जो मुख्य उपाय हैं उनकी भावना की जाती है इसलिये चौथी बात यह है कि इंद्रियोंका विजय हो। वास्तवमें जितेन्द्रिय मानव ही संतोष व शांतभावको पासक्ता है। बिना इंद्रियोंको अपने आधीन किये न श्रावक न मुनि कोई भी अपने २ योग्य आचरणको नहीं पाल सक्ते हैं। पांचवी बात यह चाही गई है कि संसारसे भय हो—क्योंकि जिसको यह भय होगा कि मेरा आत्मा इस जन्म मरणरूपी भयभीत संसारवनमें न भटके वही मोक्ष होनेका चारित्र पालेगा। छठी बात यह है कि कषायोंको दूर किया जावे। क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंके आधीन ही प्राणी आकुलताके फंदमें फंस जाता है तथा जितना २ कषायोंका दमन होता है उतना वीतराग भाव प्रगट होता रहता है। कषायोंके

विषयसे ही जिनमत जो वीतराग विज्ञानमय है व स्वानुभवरूप है उसमें प्रीति होती है। इसलिये सातमी बात यह चाही गई है। मुक्तिका उपाय मुनिका चारित्र है इसलिये आठमी बात चाही गई है कि परिग्रहका त्याग करूं। मुनि होकर १२ प्रकार तप करना चाहिये। क्योंकि तपके विना कर्मोंकी निर्जरा नहीं होसकी है। इनमें भी मुख्य तप ध्यान है, ध्यानहीसे केवलज्ञान होता है, ध्यानहीसे निर्वाण होता है, ध्यानहीका वेग ध्यानीको संसारसमुद्रसे पार करके शिवद्वीपमें पहुंचा देता है। इसलिये तप करनेके साधनरूप आठ बातोंकी भावना भाई गई है। वास्तवमें जो तपस्वी इन आठ गुणोंसे अलंकृत होता है वही सिद्ध होकर सम्यक्त आदि आठ गुणोंसे विभूषित होजाता है। ध्यानहीसे मुक्तिकी सिद्धि होती है। उस ध्यानके लिये श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ।। २३ ।।

भावार्थ—जब काम भोगोंसे विरक्त होकर शरीरमें भी अभिलाषाको छोड़ा जाता है तब ममता रहितपना प्राप्त होता है, तब ही ध्यानी होसक्ता है अन्यथा नहीं।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

व्यसन रहे दूरं ज्ञान उन्नति सुसंगति ।
करण विजय भव भय क्रोध मानादि निकृति ॥
जिनमत रुचि संगं त्याग औ जिनजु होवे ।
भवसागर तरना हेतु तप मोहि होवे ॥ ३१ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि संसार-वनमें वास करना दुःखदायक है—

चित्रव्याघातवृक्षे विषयसुखतृणास्वादनासक्तचित्ताः।
निर्स्त्रिंशैरारमन्तो जनहरिणगणाः सर्वतः संचरद्भिः॥
खाद्यंते यत्र सद्यो भवमरणजराश्वापदैर्भीमरूपैः।
तत्रावस्थां क्व कुर्मो भवगहनवने दुःखदावाग्नितप्ते ॥३२॥

अन्वयार्थ–(चित्रव्याघातवृक्षे) नानाप्रकारकी आपत्तिरूपी वृक्षोंसे भरे हुए (दुःखदावाग्नितप्ते) दुःखरूपी दावानलसे तप्तायमान (भवगहनवने) इस संसाररूपी भयानक जंगलमें (आरमन्तः) घूमनेवाले (विषयसुखतृष्णास्वादनासक्तचित्ताः) विषयोंके सुखरूपी तृष्णाके स्वादमें चित्तको लगानेवाले (जनहरिणगणाः) प्राणीरूपी हिरणोंके समूह (यत्र) जहां (सर्वतः) सर्व तरफ (निर्स्त्रिंशैः) निर्दयी (संचरद्भिः) घूमनेवाले (भीमरूपैः भवमरणजराश्वापदैः) भयानक जन्म जरा मरणरूपी हिंसक जीवोंके द्वारा (सद्य) निरंतर (खाद्यंते) भक्षण किये जाते हैं (तत्र) वहां (क्व अवस्थां कुर्मः) हम किस जगह रहें।

भावार्थ–जैसे कोई ऐसा सघन जंगल हो जहां बड़े टेढ़े टेढ़े वृक्षोंके समूह हों व दावाग्नि लगी हुई हो और चारों तरफ सिंह व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी घूमते हों और जहां तिनकेको चरनेवाले हिरण निरन्तर हिंसक प्राणियोंके द्वारा खाए जाते हों ऐसे वनमें कोई रहना चाहे तो कैसे रह सक्ता है? जो रहे वही आपत्तिमें फंसे। इसी तरह यह संसार भयानक है जहां करोड़ों आपत्तियां भरी हुई हैं तथा जहां निरन्तर दुःखोंकी आग जला करती है व जहां प्राणी नित्य जन्मते हैं, बूढ़े होते हैं तथा मर जाते हैं, ये प्राणी इंद्रियोंके विषयोंके सुखमें मगन होजाते हैं, बेखबर रहते हैं

बन्न शीघ्र ही कालके गालमें चबाए जाते हैं, ऐसे संसार वनमें सुखशांति कैसे मिल सक्ती है ? बुद्धिमान प्राणीको तो इससे निकलना ही ठीक है।

शुभाषितरत्नसंदोहमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं भीत जराव्याधत–
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदु:खतरुमत्संसारकान्तारगम् ।
क: शक्नोति शरीरिणम् त्रिभुवने पातुं नितान्तातुरं ।
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७॥

भावार्थ–जो प्राणी तीव्र रोगोंके अपार दुःखोंमें भरे हुए संसारवनमें हो व बुढ़ापारूपी शिकारोसे भयभीत रहता हो व भयभीतरूपी वाघके भयंकर मुखमें प्राप्त हो उस महान आकुलतामें फंसे हुए प्राणीको तीन भुवनमें जन्मजरा मरणको नाश करनेवाले जिनधर्मके सिवाय और कोई बचानेको समर्थ नहीं है।

मूल श्लोकानुसार मालिनीछंद।

भव वन भयकारी दुःख अग्नि प्रचारी।
विपति तरु भराई तृण विषय स्वादकारी ॥
जन मृग बहु घूमें जन्म अरु मृत्यु दुखमें।
हिंसक पशु खावें हों कथं शांतिसुखमें ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बुद्धिमानोंको संसारमें लिप्त न होकर आत्मकार्य कर लेना चाहिये।

भुजंगप्रयात छन्द।

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा।
न कांता न माता न भृत्या न भूपाः ॥
यमालिंगितुं रक्षितुं संति शक्ता।
विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥१३॥

अन्वयार्थ-(यमाक्रिंगितं) यमराज जो काल उससे आलिंगन किये हुए प्राणीको (न वैद्याः) न वैद्य (न पुत्राः) न पुत्र (न विप्राः) न ब्राह्मण (न शक्राः) न इन्द्र (न कांता) न स्त्री (न माता) न माता (न भृत्याः) न नौकर (न भूपाः) न राजागण (रक्षितुं) बचानेके लिये (शक्ताः संति) समर्थ हैं (इति) ऐसा (विचिन्त्य) विचार कर (आर्यैः) सज्जन पुरुषोंको (निजं कार्यं) अपना आत्मकल्याण (कार्यं) करना योग्य है ।

भावार्थ-यहांपर आचार्य यह संकेत करते हैं कि यह मानव जन्म बहुत अल्पकाल रहनेवाला है। निरंतर यहां मरणका भय है, यह नियम नहीं कि कब मरना होगा । और जब यकायक मरण आजायगा तब कोई वैद्य हकीम किसी दवासे बचा नहीं सक्ता, न तब अपने कुटुम्बी जन स्त्री पुत्र माता बहन आदि रोक सक्ते हैं न नौकर चाकर सिपाही व राजा आदि मरणको भगा सक्ते हैं । और तो क्या, बड़े २ इंद्रादि देव भी मरणसे न आपको बचा सक्ते हैं, न दूसरोंको बचा सकते हैं न किसी और पूज्यनीय देवमें शक्ति है कि किसीको मरणसे रोक सकें । जब ऐसा नाजुक मामला है तब साधु व सज्जन पुरुषोंको अपना जीवन बहुत अमूल्य समझकर इसका सदुपयोग करना चाहिये । आत्मोन्नति करना ही इस नरजन्मका कर्तव्य है । इसलिये इस कार्यमें ढील न करनी चाहिये । ढील करनेसे ही पीछे पछताना पड़ेगा । जो बुद्धिमान इस नरजन्मको संसारके मोहमें फंसकर खो देते हैं उनको पीछे बहुत पछताना पड़ता है । नर-जन्मकी सफलता करना ही बुद्धिमानी है। सुभाषित रत्नसंदोहमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं-

तीव्रत्रासप्रदायि प्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते ।
दुःखोर्वीजप्रपंचे भवगहनवनेऽनेकयोऽन्यद्विरौद्रे ॥
भ्राम्यन्प्रापि नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणोदुष्कृतस्य ।
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वंचितस्त्वं तदात्मन् ॥४२४॥

भावार्थ-यह संसारवन महा भयानक है जहां तीव्र दुःखको देनेवाले जन्म जरा मरणरूपी हिंसक जीवोंके समूह विचर रहे हैं, व जहां दुःखोंके कारणोंका ही जाल है, ऐसे वनमें घूमते हुए पाप कर्मोंके कम होनेसे बहुत ही कठिनतासे नरजन्म पाया है ऐसी स्थितिमें हे आत्मन् ! यदि तू थिर बुद्धि करके धर्मका साधन न करेगा तो तू वास्तवमें यहां ठगा गया है, ऐसा माना जायगा ।

मूल श्लोकानुसार भुजंगप्रयात छन्द ।
जवे मर्ण आवे न कोई बचावे ।
न माता न कांता न सुत इन्द्र आवे ॥
न वैद्या न विप्रा न राजा न चाकर ।
यही जान बुधजन निजातम करमकर ॥३३॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि शरीरको क्षणभंगुर जानकर मोहका त्याग करना चाहिये ।

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः ।
स्वकीयो न देहः समं यत्र याति ॥
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र ।
प्रबुद्ध्येति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ-(यत्र) जिस संसारमें (विचित्रैः) नानाप्रकारके (उपायैः) उपायोंसे (सदा) नित्य (पाल्यमानः) पालन किया हुआ (स्वकीयः) अपना ही (देहः) शरीर (समं) साथ (न

याति) नहीं जाता है (तत्र) वहां (कथं) किस तरह (बाह्य-भूतानि) बाहर ही बाहर रहनेवाली (वित्तानि) धन आदि संपत्तियां साथ जासक्ती हैं (इति) ऐसा (प्रबुध्य) समझकर (कुत्रापि) किसी भी पदार्थमें व कहीं भी (मोहः) मोहभाव (न कृत्यः) न करना चाहिये ।

भावार्थ—यहां आचार्य फिर भी समझाते हैं कि हे भव्य जीव ! तू क्यों परपदार्थके मोहमें पागल होरहा है। स्त्री, पुत्र, मित्र, माता, पिता, राजा, प्रजा, नौकर, चाकर ये चेतन पदार्थ तथा घर, वस्त्र, बासन आदि अचेतन पदार्थ ये सब मात्र इस शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं। जब शरीर ही इस जीवसे भिन्न है तब ये पदार्थ अपने कैसे हो सक्ते हैं। जगतके सर्व ही पदार्थोंकी सत्ता मेरी आत्माकी सत्तासे भिन्न है। यह भेद विज्ञान एक ज्ञानीके हृदयमें रहना योग्य है। हरएक द्रव्य अपने द्रव्यक्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है तथा पर पदार्थोंके द्रव्यक्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। आत्मामें आत्माका द्रव्य जो अनंत गुणोंका समुदायरूप अखंड पिंड है सो तो उसका अपना द्रव्य है। जितने असंख्यात प्रदेशोंको लिये हुए यह आत्मा है वह आत्माका क्षेत्र है, इस आत्माकी जो अवस्थाविशेष या पर्यायें हैं सो उसका काल है, आत्माके जो शुद्ध गुण हैं वह इसका भाव है। जब कि आत्माके सिवाय अन्य सर्व आत्माओंके व अन्य पदार्थोंके कोई द्रव्यक्षेत्र काल भाव इस आत्मामें नहीं हैं इसलिये उन सबका इस आत्मामें नास्तित्व या अभाव है। इसतरह स्याद्वाद नयके द्वारा जो अपने आत्मामें एक ही समयमें अस्तित्व नास्तित्वको व भावाभावको

समझ लेता है वही मात्र एक अपने स्वरूपको अपना मानता है और सबको अपनेसे भिन्न पर जानता है। जब कोई परवस्तु अपने आत्माकी नहीं है तब परवस्तुसे मोह करना वास्तवमें नादानी है। सुभाषितरत्नसंदेहमें यही आचार्य कहते हैं—

न संसारे किंचित् स्थिरमिह निजं वास्ति सकले।
विमुच्यार्घ्यं रत्नत्रितयमनघं मुक्तिजनकम्॥
अहो मोहार्तानां तदपि विरतिर्नास्ति भवत-
स्ततो मोक्षोपायाद्विमुखमनसां सौख्यकुशलम्॥३४०॥

भावार्थ—इस संपूर्ण संसारमें न कोई वस्तु स्थिर है न अपनी है सिवाय पूज्यनीय निर्मल शक्तिके उत्पन्न करनेवाले रत्नत्रय धर्मके। बड़े खेदकी बात है कि मोहसे दुःखी जीवोंकी विरक्ति तब भी संसारसे नहीं होती है तब फिर जो मोक्षके उपायसे विरुद्ध मनवाले हैं उनको सच्चा सुख नहीं हो सक्ता।

मूलश्लोकानुसार भुजंगप्रयात छन्द।

यतन बहु कराए सदा पालनेको।
सुनिज देह भी साथ नहिं चालनेको॥
धनादिक बहिर्वस्तु किम साथ होवे।
सुधी जानकर कौनसे मोह बोवे॥ ३४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानीको इष्ट व अनिष्ट पदार्थोंमें समताभाव रखना चाहिये।

मंदाक्रांता वृत्त।

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने कांचने लोष्ठवर्गे।
सौख्ये दुःखे शुनि नरवरे संगमे यो वियोगे॥
शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढः।
प्रौढा स्त्रीव प्रथितमहसस्तस्य सिद्धिः करस्था॥३५॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (शिष्टे दुष्टे) सज्जनमें या दुर्जनमें (सदसि विपिने) सभामें या वनमें (कांचने लोष्ठवर्गे) सुवर्णमें या कंकड़ पत्थरमें (सौख्ये दुःखे) सुखमें व दुःखमें (शुनि नरवरे) कुत्तेमें व श्रेष्ठ मनुष्यमें (संगमे वियोगे) इष्टके संयोगमें या वियोगमें (सदृशः) समानभाव रखता हुआ (शश्वत्) सदा ही (धीरः) धीर तथा (द्वेषरागव्यपोः) रागद्वेष रहित वीतरागी (भवति) रहता है (तस्य) उस (प्रथितमहसः) प्रसिद्ध तेजस्वीके पास (सिद्धिः) मुक्ति (प्रौढ़ा स्त्री इव) युवती स्त्रीके समान (करस्था) हाथमें ही आजाती है।

भावार्थ–यहां आचार्य कहते हैं कि जैसे वीरधीर तेजस्वी पुरुषको युवती स्त्री शीघ्र वर लेती है व उसके निकट आजाती है उसी तरह मुक्तिरूपी स्त्री उस महान तेजस्वी पुरुषको शीघ्र ही प्राप्त होजाती है जो समताभावके अभ्यास करनेवाले हैं। जिन्होंने ऐसा वैराग्य अपने भीतर बढ़ा लिया है कि यदि कोई सज्जन मिलें तो उनसे राग नहीं करते और दुर्जन कष्ट देवें तो उनसे द्वेष नहीं करते। यदि कभी मानवोंकी सभामें जानेका काम पड़ गया तो उससे प्रसन्न नहीं होते और यदि जंगलमें अकेले रहना हुआ तो कुछ खेद नहीं मानते हैं। जिनके आगे कोई रत्न सुवर्णोंके ढेर करदे तो उससे लोभ नहीं करते और यदि कंकड़ पत्थर रखदे तो उससे द्वेष नहीं करते। यदि साताकारी पदार्थोंका सम्बन्ध मिले तो हम सुखी हुए ऐसी कल्पना नहीं करते और यदि असाताकारी सम्बन्ध प्राप्त हो तो हम दुःखी हुए ऐसी मान्यता नहीं करते। यदि सामने कुत्ता आकर बैठ जावे तो उससे घृणा नहीं करते और

यदि कोई चक्रवर्ती राजा आजावे तो उससे मोह नहीं करते। उनको यदि सुहावने शिष्यवर्गादिका सम्बन्ध हो तो राग नहीं करते और यदि असुहावने चेतन अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध हो तो द्वेष नहीं करते। ऐसे साधु महात्मा जो जगतको एकमात्र कर्मोंका नाटक समझते हैं, जिनकी दृष्टि निश्चयनय रूप रहती है, जो जगतके नाना प्रकार जीवके भेषोंमें व अवस्थाविशेषोंमें भी शुद्ध द्रव्यको उसके अपने असली स्वरूपमें देखते हैं, उनके सामने कोई छोटा या बड़ा जीव है ही नहीं। सब ही जीव शुद्ध सिद्ध समान दिख रहे हैं। वहां राग अर द्वेष किसके साथ हो। जितने अजीव पदार्थ हैं वे अलग दिखते हैं उनसे कोई रागद्वेषका सम्बन्ध नहीं। इस तरह शुद्ध निश्चयनयके आलम्बनसे जो साधु व ज्ञानी महात्मा निरंतर विचारते रहते हैं उनका संसाररूपी स्त्रीसे राग घटता जाता है और मुक्तिरूपी परम मनोहर अनुपम स्त्रीसे राग बढ़ता जाता है। वह मुक्तिरूपी स्त्री जब जान लेती है कि मेरा उपासक बड़ा धीरवीर है, उपसर्गोंके पड़नेपर भी आत्मध्यानसे व मेरी आशक्तिसे हटता नहीं है तब ही वह स्वयं आकर इसको अपनालेती है और वह पुरुषार्थी साहसी वीर सदाके लिये मुक्ति धाममें जाकर आनंदामृतका भोग किया करता है।

श्री पद्मनंद मुनि सद्बोध चंद्रोदयमें कहते हैं—

कर्मभिन्नमनिशंस्वतोखिलम् पश्यतो विशदबोधचक्षुषा ।
तत्कृतेपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥२०॥

भावार्थ—जो निश्चयनयके जाननेवाले योगी हैं वे निर्मल ज्ञानदृष्टिसे अपने आत्मासे सर्व कर्मोंको भिन्न देखते हैं तब उनके

भीतर कर्मोंके निमित्तसे जो सुख दुःख होता भी है उसमें यह भाव नहीं करते कि मैं सुखी हुआ या मैं दुःखी हुआ। वे निरंतर समताभावका अभ्यास करते हैं—

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

रखते समभावं सज्जनों दुर्जनोंमें ।
कंचन कंकड़में, राजग्रह वा वनोंमें ॥
सुख दुख पशु नरमें, संगमें वा विरहमें ।
युवति सम स्वसिद्धो, होत वश वीरनरमें ॥३५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतरागी साधु ही मोक्षके अधिकारी होते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः ।
बाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मनः ॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्वा समाधिं बुधाः ॥३६॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजयाः) इंद्रिय विषय और कषाय वैरियोंके जीतनेका अभ्यास करनेवाले हैं, (विध्वस्तलोकक्रियाः) जिन्होंने लौकिक क्रियाकांड आरंभादिक सब त्याग दिया है (बाह्याभ्यन्तरसंगमांशविमुखाः) जो बाहरी और भीतरी परिग्रहके अंश मात्रसे भी वैरागी हैं और जो (मनः आत्मवश्यं कृत्वा) मनको अपने आधीन करके (भवभोगदेहविषयं) संसार, भोग व शरीर सम्बन्धी (श्रेष्ठं) उत्तम (वैराग्यं) वैराग्यको (अध्यासते) प्राप्त हुए हैं (ते बुधाः) वे ज्ञानी साधु (समाधिं) समाधि या आत्मीक तन्मयताको (बुद्ध्वा) अनुभव करके (विक-

लिलाः) सर्वे कर्म रहित होकर (शिवालयं) मोक्षधामको (गच्छन्ति) जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने बता दिया है कि मोक्षका उपाय अभेदरत्नत्रय या समाधि या स्वात्मानुभव है या शुक्लध्यान है। जबतक शुक्लध्यानकी अग्नि नहीं जलती है तबतक न मोहका नाश होता है और न घातिया कर्मोंका नाश होता है और न यह अघातिया कर्मोंसे छूटकर सिद्धपद पासक्ता है। उस शुक्लध्यानकी सिद्धि उसी महात्माको होसक्ती है जो शरीरके खंड खंड किये जानेपर भी ममता न लावे व वेदनासे त्रसित न हो। जिसकी ममता बिलकुल शरीरसे हट गई हो। जो शर्दी गर्मी डांस मच्छरकी बाधाएं सह सके। इसलिये साधुको वह सब कुछ वस्त्र त्याग देना पड़ता है जो उसने स्वाभाविक शरीरकी अवस्थाको ढकनेके लिये धारण कर रक्खे थे। यहांपर आचार्यने मुक्तिके योग्य जो पात्र होसक्ते हैं उन साधुओंका वर्णन किया हैं। पहली जरूरी बात तो यह बताई है कि उन्होंने इंद्रियोंकी इच्छाओंको जीतनेका व क्रोधादि कषायोंके दमनका भलेप्रकार अभ्यास कर लिया हो, क्योंकि ये इंद्रियें ही प्राणीको कुमार्गमें डाल देती हैं व कर्मोंका बंध कषायोंसे ही होता है। जिस सम्यग्दृष्टीने आत्माके वीतराग विज्ञानमय स्वभावका निश्चय कर लिया है वही आत्मीक सुखके मुकाबलेमें इंद्रिय सुखको तुच्छ जानता है, इसलिये वही इंद्रियोंका जीतनेवाला होसक्ता है जिसने अपने आत्माका स्वभाव वीतराग है ऐसा समझ लियां है, वही कषायोंके जीतनेका पुरुषार्थ करेगा। दूसरी बात साधुमें यह जरूरी है कि उसने सब लोकव्यवहार छोड़ दिये हों। अनेक प्रकार व्यापारके

आरम्भ करके पैसा कमाना, मकान मठ बनवाना, खेती कराना, शरीर रक्षार्थ सामान जोड़ना, रसोई बनाना—बनवाना, ब्याह शादीके व जीवनमरणके विकल्पोंमें पड़ना व ग्रहस्थोंके रोग, शोक आदि कष्ट मिटानेको यंत्र मंत्रादि करना आदि कार्योंको आत्मोन्नतिमें विघ्नकारक व मनको आकुलित रखनेके कारण छोड़ दिये हो। तथा आरंभके कारणभूत जो दश प्रकारके बाहरी परिग्रह हैं उनका भी जिसने त्याग किया हो। अर्थात् जिसके स्वामित्वमें न खेत हों, न मकान हो, न चांदी हो न सोना हो, न गोवंश हो न अन्नादि हो, न दासी हो न दास हो, न कपड़े हों न वर्तन हों। तथा जिसने मोह जनित सर्व परिणतियोंसे भी ममता छोड़ दी हो अर्थात् १४ प्रकारकी अंतरंग परिग्रह भी न रखता हो। अर्थात् जिसने मिथ्यात्व, क्रोध मान माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इन १४ बातोंसे ममता हटा ली हो। तथा जिसने अपना मन अपने आधीन किया हो, जिसका मन चञ्चल न हो ऐसा वशमें हो कि जब साधु चाहें तब उसे ध्यान व स्वाध्यायमें लगाया जासके तथा मनमें यह वैराग्य हो कि संसार असार है मोक्ष ही सार है। इंद्रियोंके भोग क्षणभंगुर व अतृप्तिकारक हैं व आत्म सुख ही सच्चा भोग है, शरीर नाशवंत व मलीन है, आत्मा अविनाशी व पवित्र है। ऐसे ही साधु जब स्वात्मानुभवका अभ्यास करते २ शुक्लध्यानपर पहुंचते हैं तब कर्मोंका संहार कर मुक्त होजाते हैं। श्री पद्मनंदि मुनि यत्याचार धर्ममें कहते हैं—

आचारो दशधर्मसंयमतपो मूलोत्तराख्या गुणाः ।
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः ॥

वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं ।
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानंदाय धर्मो यतेः ॥ ३८ ॥

भावार्थ—अविनाशी मोक्षपदकी प्राप्तिके लिये यतिका धर्म यह है कि वह चारित्रवाले, दशलाक्षणी धर्मको अभ्यासे, संयमी रहे, तपस्वी हो २८ मूलगुण व उत्तर गुण पाले, मिथ्यात्व, मोह, व मदको त्यागे, समभाव रक्खे इंद्रिय दमन करे, ध्यान करे, प्रमादी न हो, वैराग्य धारण करे, सिद्धांत शास्त्रका ज्ञान व दाता रहे, निर्मल रत्नत्रय पाले, अन्तमें समाधि भावसे मरण करे। वास्तवमें सच्चे ध्यानी साधु ही मोक्षके पात्र होते हैं—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जिसने अक्षकषाय शत्रु जीते, व्यवहार लौकिक तजा ।
बाह्याभ्यंतरसंग सर्व छोड़ा, मनको स्ववशमें भजा ॥
भवतन भोग विराग श्रेष्ठ धरके निजध्यान उत्तम किया ।
ते सज्जन सब कर्ममैल हरके शिवधाम वासा लिया ॥३६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीर और आत्माका भेद-ज्ञान ही लाभकारी हैं—

संघस्तस्य न साधनं न गुरवो नो लोकपूजा परा ।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणीपृष्ठैः कुतः संस्तरः ॥
कर्तात्मैव विबुध्यतायममलस्तस्यात्मतत्त्वस्थिरो ।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदां देहात्मनोः सर्वदा ॥१७॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस आत्मध्यान या आत्म शुद्धिका (साधनं) उपाय (न संघः) न तो मुनि आर्जिका श्रावक श्राविकाका संघ है (न गुरवः) न गुरु आचार्य हैं (नो परा लोकपूजा) न लोकोंसे बड़ी पूजा पाना है (नो योग्यैःतृणकाष्ठ शैलधरणीपृष्ठैः

कृतः संस्तरः) न योग्य तृण काठ पाषाण व भूमितलका बनाया हुआ संथारा है किन्तु (तस्य) उस आत्मध्यानका (कर्ता) करनेवाला (अयम्) यह (अमलः) निर्मल व (आत्मतत्वस्थिरः) आत्मतत्वमें स्थिर (आत्मा एव) आत्मा ही है। जो (जलदुग्धयोः इव) जल और दूधके समान (देहात्मनो भिदां) शरीर और आत्माके भेदको (सर्वदा) सदा (जानानः) जाननेवाला है (विबुध्यत) ऐसा समझो।

भावार्थ—यहां आचार्य बतलाते हैं कि भेद विज्ञानसे ही आत्मध्यानकी सिद्धि होती है। जो आत्मा ऐसा भलेप्रकार समझ गया है कि जैसे दूध और पानीका सम्बंध है ऐसे ही आत्मा और कार्मण तैजस व औदारिकादि शरीरोंका सम्बंध है। जैसे दूधसे पानी अलग है वैसे आत्मासे पुद्गलमयी शरीरादि अलग हैं। जो परको पर जानकर परसे ममत्व छोड देता है और निर्मल आत्माको शुद्ध चैतन्यमई सिद्ध भगवानके समान जानकर उसी आत्मीक तत्त्वमें अपने उपयोगको स्थिर कर देता है वह आत्मा आत्मध्यान करके आत्माकी सिद्धि कर सक्ता है। जिस किसीके ऐसा आत्मध्यान तो हो नहीं और वह मुनियोंके संघमें घूमा करे या आचार्योंकी पाद पूजा व भक्ति किया करे व संसारी जीवोंमें अपनी विद्याका चमत्कार दिखाकर प्रतिष्ठाको पाया करे व कभी तिनकेका कभी काष्टका कभी पाषाणका व कभी भूमितलका ही आसन बिछाकर निश्चल बैठा करे तो ये सब कार्य उसके आत्मध्यानके साधक नहीं हैं। इसलिये जो स्वहित करना चाहते हैं उनको उचित है कि इन सब कारणोंको मात्र बाहरी निमित्त कारण जाने। इनके सहारेसे जो सामायिकका अभ्यास करते हुए आत्मध्यानमें लयता प्राप्त

करते हैं वे ही सच्चे समाधि भावको पाते हैं व उनका ही साधन मोक्षका साधन है। विना शुद्ध निश्चयनयका आलम्बन पाए परसे विराग नहीं होता है परसे विराग विना स्वात्माराममें विश्राम नहीं होता। यद्यपि आत्मा अमूर्तीक है तथापि उसको निर्मल जलके समान अपने शरीररूपी घटमें देखना चाहिये और जैसे गंगानदीमें गोता लगाया जाता है वैसे अपने आत्माके जल सदृश निर्मल स्वभावमें अपने मनको डुबाना चाहिये। ॐ या सोऽहं मंत्रका आश्रय लेकर वारवार मनको आत्मारूपी नदीमें डुबानेसे मनका चंचलपना मिटता है और वीतरागताका भाव बढ़ता जाता है। आत्मध्यान ही परमोपकारी जहाज़ है। इसीपर चढ़के भव्य जीव संसार पार होजाते हैं। अतएव ज्ञानीको आत्मध्यानका ही अभ्यास करना चाहिये। श्री शुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

विरज्यकामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्व यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा॥ २३॥
भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम्॥ १२॥

भावार्थ—कामभोगोंसे वैराग्य प्राप्त करके व शरीरकी भी वांछाको छोड़कर यदि तू ममता रहित होजायगा तब ही तू ध्यान करनेवाला होगा अन्य प्रकारसे नहीं। इसलिये संसारके क्लेशोंको नाश करनेके लिये आत्मज्ञानरूपी अमृतके रसका पान कर तथा ध्यानरूपी जहाजपर चढ़कर संसार समुद्रसे पार होजा।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

नहि होवे मुनिसंग साधन कभी नहि लोक पूजा कभी।
नहि गुरु भक्ति न संस्तरं तृणमयी नहि काठधरणी कभी॥

जिन जानो निज आत्मतत्त्वनिर्मल निजमें भये तत्परं ।
जैसे दूध अलग अलग जल सदा तिम देह आतमपरं ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मज्ञानी ही मोक्ष जा सक्ते हैं—

विगलितविषयः स्वं प्रस्थितं बुध्यते यः ।
पथिकमिव शरीरे नित्यमात्मानमात्मा ॥
विषमभवपयोधिं लीलया लंघयित्वा ।
पशुपदमिव सद्यो यात्यसौ मोक्षलक्ष्मीम् ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ-(यः) जो (विगलितविषयः) इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छाओंका दमन करनेवाला (आत्मा) आत्मा (शरीरे) शरीरमें (पथिकं इव) यात्रीके समान (प्रस्थितं) प्रस्थान करते हुए (स्वं आत्मानं) अपने आत्माको (नित्यम्) अविनाशी (बुध्यते) समझता है (असौ) वही (विषमभवपयोधिं) इस भयानक संसाररूपी समुद्रको (पशुपदं इव) गायके खुरके समान (लीलया) लीला मात्रमें (लंघयित्वा) पार करके (सद्यः) शीघ्र ही (मोक्षलक्ष्मीम्) मोक्षरूपी लक्ष्मीको (याति) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ-यहांपर भी आचार्यने आत्मज्ञानीको ही मोक्षका अधिकारी बताया है । पहले तो पदार्थोंमें किंचित् भी राग नहीं रखता है, वही आत्मा आत्मध्यानके प्रतापसे बढ़ा चला जाता है उसके लिये यह संसार समुद्र जो महा भयानक व विशाल है वह गायके खुरके समान होजाता है वह उसको बहुत शीघ्र पार कर लेता है और मुक्ति द्वीपमें जाकर मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमें कहते हैं—

तत्परः परमयोगसंपदाम् पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गतः ।
नापरेण चलितः पथेप्सितः स्थानलानविभवो विभाव्यते ॥१०॥

भावार्थ–जो आत्मध्यानमें लीन है वही उत्तम योगकी संपदाका पात्र होता है। जो आत्मध्यानसे बाहर है वह योगी नहीं होसक्ता है। जो कोई आत्मध्यानके सिवाय अन्य मार्गसे चलता है वह अपने इच्छित मोक्ष स्थानके लाभको नहीं प्राप्त कर सक्ता है। अतएव आत्मध्यान हीको उत्तम कार्य मानना व इसीका अभ्यास करना हितकर है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जो विषय विकारं त्याग निज आत्म जाने।
पथिक सम विहारी देहमें नित्य माने॥
विषम भव समुद्रं तुर्ने ही पार करता।
पशुपद वत् क्षणमें मुक्तिातिय आप वरता॥ ३८॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो सांसारिक सुखसे विमुख होता है वही आत्मसुखको पाता हैः—

बाह्यं सौख्यं विषयजनितं मुंचते यो दुरन्तं।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम्॥
योऽन्यैर्जन्यं श्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते।
तस्यच्छन्नो भवति नियतः कर्णमध्येऽपि घोषः॥३९॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (दुरन्तं) दुःखदाई (बाह्यं) बाहरी (विषयजनितं) इंद्रिय जनित (सौख्यं) सुखको (मुंचते) त्याग देता है (असौ) वहो (स्वस्थं) अपने आत्मामें स्थित (स्थेयं) अविनाशी व (निरुपमम्) उपमा रहित व (पूतम्) पवित्र (सौख्यम्) सुखको (आप्नोति) पालेता है (यः) जो कोई (अन्यैः जन्यं श्रुति-

विरतये) दूसरोंसे कहे हुए शब्दोंको सुननेसे विरक्त होनेके लिये (कर्णयुग्मं) अपने दोनों कान (पिधत्ते) ढक लेता है। (तस्य) उसके (कर्णमध्येऽपि) कानोंके मध्यमें ही (छन्नः) गुप्त (घोषः) शब्दोंका उच्चारण (नियतः) सदा (भवति) होता रहता है।

भावार्थ—यहां आचार्य कहते हैं कि विषयसुखका व आत्म-सुखका विरोध है। जिसको इंद्रियोंके विषयोंके भोगोंकी लालसा है उसका लक्ष्य वही रहेगा, उसको कभी भी आत्म-सुखका लाभ नहीं होसक्ता है तथा जिसको आत्मसुखका स्वाद आजाता है वही विषयोंके स्वादको विषके समान जानता है। जिसकी वृत्ति विषय-सुखमें विरक्त होजाती है वही आत्मीक सुखको पालेता है। विषयोंका सुख, सुखसा दीखता है यह न अतमें दुःखोंका कारण है तथा बाहरी पदार्थोंके आधीन हैं। जब कि आत्म सुख स्वाधीन है अपने ही साथ है इसलिये अविनाशी है, तथा बड़ा ही पवित्र है और उपमा रहित है जिसकी मिसाल नहीं दी जासक्ती है। इसपर आचार्य दृष्टांत देते हैं कि जो जगतके लोगोंके शब्दोंको सुनता रहेगा वह अन्तरंगके छिपे हुए घोषको नहीं सुन सक्ता है परन्तु जो अपने दोनों कानोंको ढक लेवे ताकि बाहरी शब्द न सुनाई पड़े उसको अपने कानके भीतर छिपा हुआ शब्द सदा ही सुन पड़ता है। कहनेका प्रयोजन यह है जो बाहरसे विरक्त होता है वही भीतरकी संपदाको पाता है। इसलिये हमें सांसारिक सुखसे विराग भजकर निजात्मीक सुखमें रुचि बढ़ाकर उसीके लिये आत्मामें ध्यान लगाना चाहिये और सामायिकके द्वारा समताभावको बढ़ाना चाहिये। जिस किसीने अमृत फलका स्वाद नहीं

पाया है उसीको तुच्छ मीठे फल स्वादिष्ट मालूम पड़ते हैं, अमृत फल खानेवालेको वे फल स्वादिष्ट नहीं भासते हैं। आत्मीकसुखका स्वाद ही परम विलक्षण है। इंद्रिय सुखका लाभ प्राणीको महान अज्ञानी बना देता है। अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

लोकार्चितोऽपि कुलजोपि बहुश्रुतोपि,
धर्मस्थितोपि विरतोपि शमान्वितोपि ।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्य-
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निन्द्यम् ॥१००॥

भावार्थ—कोई मानव लोगोंसे पूज्यनीक हो, अत्यन्त कुलीन हो, बहुत शास्त्रका पारगामी हो, धर्ममें चलनेवाला हो, विरक्त हो व शांतभाव सहित भी हो। यदि उसके इंद्रिय विषयरूपी सर्पका विष चढ़ जावे तो वह आकुलित होकर ऐसा बावला होजाता है कि वह कौनसा निन्दनीय कार्य है जिसे वह नहीं कर डाल्ता है। वास्तवमें इंद्रियसुखमें आशक्ति मानवको धर्मभावसे गिरानेवाली है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

विषय सुख विकारं दुःखमय छोड़ता जो ।
निरुपम थिर पावन आत्मसुख वेदता सो ॥
जो दोनों कर्ण मूंदता पर न सुनता ।
सो निज कर्णोंमें, घोष प्रच्छन्न सुनता ॥३६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पर संपत्तिको अपना मानना अज्ञान है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

संयोगेन विचित्रदुःखकरणे दक्षेण संपादिता-
मात्मीयां सकलत्रपुत्रसुहृदं यो मन्यते संपदम् ॥

नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरां मन्ये ऋणोपार्जिता ।
लक्ष्मीमेष निराकृतामितगतिर्ज्ञात्वा निजां तुष्यति ॥४०॥

अन्वयार्थ-(यः) जो कोई (विचित्रदुःखकरणे दक्षेण) नाना प्रकारके दुःख उत्पन्न करनेमें प्रवीण ऐसे (संयोगेन) शरीर व कर्मके संयोगसे (संपादिताम्) प्राप्त हुई (सकलत्रपुत्रसुहृदं) स्त्री पुत्र मित्रादि सहित (संपदम्) सम्पत्तिको (आत्मीयां) अपनी ही (मन्यते) मानने लगता है । (मन्ये) मैं समझता हूं कि (एषः) यह (निराकृतामितगतिः) विशेष ज्ञान रहित या मिथ्याज्ञानी (नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरां) प्राणी तरह तरहकी आपत्तियोंको बढ़ानेवाली (ऋणोपार्जितां) कर्जसे प्राप्त होनेवाली (लक्ष्मीम्) लक्ष्मीको (निजां) अपनी लक्ष्मी (ज्ञात्वा) जानकर (तुष्यति) सुखी होरहा है ।

भावार्थ-यहां आचार्यने बताया है वह मानव महा मूर्ख है जो कर्मसंयोगसे प्राप्त पदार्थोंको अपना मान लेता है । इस जीवके साथ कर्मोंका संयोग नाना प्रकार दुःखोंको उत्पन्न करानेवाला है, कर्मोंके उदयसे ही रोग, शोक, वियोग होता है । कर्मोंके उदयसे ही क्रोध, मान, माया, लोभका विकार होता है । कर्मोंके निमित्तसे शरीरकी प्राप्ति होती है, शरीरमें इंद्रियां होती हैं। इंद्रियोंसे इच्छा-पूर्वक विषय ग्रहण करता है । विषयोंको पाकर राग करता है उनके चले जानेपर शोक करता है । पुण्यके उदयसे जब इसको मनोज्ञ स्त्री, सुन्दर पुत्र व साताकारी मित्र प्राप्त होते हैं तब उनमें राग करता है, जब वे नहीं रहते व उनपर कोई आपत्ति आती है तो इसे बड़ा खेद होता है । सांसारिक पदार्थोंका सम्बंध व रक्षण

आदिकी विधि करते हुए महान् संकटोंको सहना पड़ता है। जो कोई मूर्ख कर्मोंके उदयसे प्राप्त चेतन व अचेतन सम्पदाको अपनी मानता है वह मानों कर्ज लाकर परकी लक्ष्मीको अपनी मानता है। जो कर्ज लेकर व्याज सहित धन चुकाता नहीं है वह अंतमें राजदण्ड आदि पाता है। बुद्धिमान कर्जके धनमें कभी ममता नहीं करते हैं। वे उसको परका ही मानते हैं व शीघ्र ही उसको दे डालना चाहते हैं इसी तरह कर्मोंके उदयसे प्राप्त पदार्थोंको ज्ञानी जीव अपना कभी नहीं मानते हैं--वे कर्मोंके छूटनेपर छूट जानेवाले हैं। ज्ञानी अपनी आत्मीक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमई सम्पत्तिके सिवाय और किसीको अपनी नहीं मानता है। तत्वज्ञानीको यही भाव अपने मनमें रखकर आत्म तत्वका मनन करना चाहिये। ज्ञानी ऐसा विचारते हैं जैसा स्वामी अमितगतिजीने सुभाषित-रत्नसंदोहमें कहा हैः—

> किमिहपरमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेत-
> त्किमथ परमदुःखं सस्पृहत्वं यदेतत् ।
> इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये,
> विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ-जो मनुष्य ऐसा मनमें निश्चय करके कि इच्छा रहितपना ही परम सुख है तथा इच्छा सहितपना ही महान दुःख है परिग्रहोंको छोड़कर जिनधर्मको धार करके सेवते हैं वह ही पुण्यात्मा हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

> नाना दुःखकरकर्मसंग वशते, पाई सकलसम्पदा ।
> वनितापुत्रसुमित्र राज्यलक्ष्मी, वृष नाश करती सदा ॥

इनको अपनी मानता नर कुधी मोही महा पातकी।
सो ऋणसे धन पाय मग्न रहता नहिं लाज है बातकी ॥४०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव किसी पदार्थसे रागद्वेष नहीं करते हैं—

यत्पश्यामि कलेवरं बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम्।
तन्मे किंचिदचेतनं न कुरुते मित्रस्य वा विद्विषः॥
आत्मा यः सुखदुःखकर्मजनको नासौ मया दृश्यते।
कस्याहं बत सर्वसंगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च॥४१॥

अन्वयार्थ—(मित्रस्य) मित्रके (वा विद्विषः) वा शत्रुके (यत्) जिस (कलेवरं) शरीरको (बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम्) नानाप्रकार आरंभ करनेमें व बात करनेमें लगा हुआ (पश्यामि) देखता हूं (तत्) वह शरीर (अचेतनं) चेतनता रहित जड़ है (मे) मेरा (किंचित्) कुछ (न कुरुते) नहीं कर सक्ता है (यः आत्मा) उनका जो आत्मा (सुखदुःखजनकः) सुख तथा दुःखका स्वरूप कर्मोंको उत्पन्न करनेवाला है (असौ) वह (मया) मेरेसे (न दृश्यते) देखा नहीं जाता है तथा (अहं) मैं (सर्व-संगविकलः) सर्व कर्मादि पर वस्तुके संगसे रहित शुद्ध हूं तब (कस्य) किसपर (तुष्यामि) प्रसन्न होऊँ (रुष्यामि च) तथा रोष करूं (बत) यह विचारनेकी बात है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने रागद्वेष मिटानेकी एक रीति समझाई है। यह संसारी प्राणी उन मित्रोंसे प्रेम करता है, जो अपने वचनोंसे हमारे हितकी बातें करते हैं व अपने आचरणसे हमारी तरफ अपना हित दिखलाते हैं तथा उनको शत्रु समझकर

द्वेष करता है जो हमारे अहितकी बातें करते हैं तथा अपने व्यव-हारसे हमारी कुछ हानि करते हैं। सामायिक करते हुए प्राणीके मनसे रागद्वेष हटानेके लिये आचार्य कहते हैं कि–हे भाई! तू किसपर राग व किसपर द्वेष करेगा जरा तुझे विचारना चाहिये। यदि तू मित्रके शरीरसे राग व शत्रुके शरीरसे द्वेष करे तो यह तेरी मूर्खता ही होगी क्योंकि शरीर विचारा जड़ अचेतन है वह न किसीका बिगाड़ करता है न सुधार करता है। शरीरके सिवाय उनका आत्मा है उसको यदि सुख तथा दुःखका देनेवाला माने तो वह आत्मा बिलकुल नहीं दिखता। उसका भाव यह होगया है कि इन्द्रियोंके भोगोंसे आत्माको सुख-शांति नहीं होती है। किन्तु उलटा रागद्वेषकी मात्राएं बढ़कर मोक्ष-मार्गमें विघ्न आता है। उसकी लालसा खाने पीने देखने आदिसे हट गई हो। तथा आत्मसुखका अनुभव होने लग गया हो और यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्री अपनी यात्रामें भिन्न २ स्थानोंमें विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक यात्री है जिसकी यात्राका ध्येय मोक्ष द्वीप है सो जबतक मोक्ष न पहुंचे यह भिन्न २ शरीरमें वास करता हुआ यात्रा करता रहता है तथा यह अविनाशी है। शरीरके बिगड़ते हुए आत्मा नहीं बिगड़ता है। यह अनादिसे अनंतकाल तक अपनी सत्ता रखने-वाला है। इसतरह जिसका लक्ष्य शरीररूपी ठहरनेके स्थानपर नहीं रहता है किन्तु मुक्तिद्वीपमें पहुंचना है यह लक्ष्य रहता है तथा जिस किसी शरीरमें कुछ कालके लिये ठहरता है उसे मात्र एक धर्मशाला जानता है उस शरीरमें व उसके संबंधी चेतन व अचेतन

न जाने तबतक उसपर राग व द्वेष किस तरह किया जासक्ता है। तथा मेरा स्वभाव भी रागद्वेष करनेका नहीं है। मैं सर्व संगसे रहित हूं। न मेरेमें कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं न शरीरादि नोकर्म हैं न रागद्वेषादि भावकर्म हैं। मैं निश्चयसे सबसे निराला सिद्धके समान ज्ञातादृष्टा अविनाशी पदार्थ हूं। इसलिये मुझे उचित है कि समताभावमें रमण कर आत्मीक सुखका अनुभव करूं। जगतमें न कोई मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है। इसी तरह श्री पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मा प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

भावार्थ-मेरेको न देखता हुआ यह लोक न मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है अर्थात् चर्मकी आंखोंसे मेरे आत्माको कोई देख नहीं सक्ता है इसलिये मेरे आत्माका न कोई शत्रु है न मित्र है तथा मेरेको अर्थात् मेरे आत्माको देखनेवाला लोक है वह भी मेरा शत्रु व मित्र नहीं होसक्ता क्योंकि वीतरागी आत्मा ही आत्माको देख सक्ता है। इसलिये न मेरा कोई मित्र है न शत्रु है।

श्री शुभचंद्राचार्यने भी ज्ञानार्णवमें कहा है:—

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः।
साक्षात् सुदृष्टरूपोपि जनो नारिः सुहृन्न मे ॥३३॥

भावार्थ-जिस मानवने मेरे आत्माके स्वराजको देखा ही नहीं है वह न मेरा शत्रु है न मित्र है व जिसने प्रत्यक्ष मेरे आत्माको देख लिया है वह महान मानव भी न मेरा शत्रु होसक्ता है न मित्र।

निश्चय नयके द्वारा देखते हुए शत्रु मित्रकी कल्पना ही मिट जाती है—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

या जगमें हितकारि मित्र मेरा, वा शत्रु जो दुख करै ।
देखूं देह अचेतनं तिन्होंको, सो देह मम क्या करै ॥
सुखदुखकारी आतमा यदि कहो, सो दृष्टि पड़ता नहीं ।
मैं निश्चय परमातमा असंगो, रुष तोष करता नहीं ॥४१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरा कोई नाश कर नहीं सक्ता मैं किससे राग व द्वेष करूं ।

क्रोधाबद्धधिया शरीरकमिदं यन्नाश्यते शत्रुणा ।
सार्धं तेन विचेतनेन मम नो काप्यस्ति संबंधता ॥
संबंधो मम येन शश्वदचलो नात्मा स विध्वस्यते ।
न कापीति विधीयते मतिमता विद्वेषरागोदयः ॥४२॥

अन्वयार्थ-(क्रोधाबद्धधिया) क्रोधसे युक्त बुद्धिवाले (शत्रुणा) शत्रुसे (यत्) जो (इदं) यह (शरीरकम्) शरीर (नाश्यते) नाश किया जाता है (तेन विचेतनेन सार्धं) उस अचेतन शरीरके साथ (मम) मेरा (कापि) कुछ भी (सम्बंधता) सम्बन्ध (नो अस्ति) नहीं है । (येन) जिसके साथ (मम शश्वत् अचलः संबंधः) मेरा हमेशा निश्चल सम्बन्ध है (सः) वह (आत्मा) आत्मा (न विध्वस्यते) नहीं नाश किया जासक्ता है (इति) ऐसा समझकर (मतिमता) बुद्धिमान पुरुषके द्वारा (कापि) किसीमें भी (विद्वेष-रागोदयः) रागद्वेषका प्रकाश (न विधीयते) नहीं किया जाता है ।

भावार्थ—यहां आचार्यने शत्रु भावको मिटानेकी और एक रीति बताई है । जो कोई किसीका शत्रु बनकर उनको नाश

करता है वह मानव उस समय क्रोधरूपी पिशाचके वश होकर बावला बन जाता है । वह उन्मत्त पुरुषके समान है जिसने गाढ़ नशा पी लिया हो । बावलेकी चेष्टाका बुरा मानना मूर्खता है । तिस पर भी उस क्रोधी मानवने यदि मेरे इस शरीरको नाश किया तो मेरा क्या बिगड़ा । शरीर तो स्वयं जड़ है, नाशवंत है मेरा और उसका क्या सम्बन्ध ? यह तो मात्र मेरे रहनेका घर है घरके जलनेसे व नष्ट होनेसे घर वाला नष्ट नहीं होसक्ता । मैं चेतन अमूर्तिक अविनाशी हूं मेरा सम्बन्ध अपने इस स्वरूपसे ऐसा निश्चल है कि वह कभी छूट नहीं सक्ता । इस मेरे आत्माको नाश करनेकी किसीकी ताकत नहीं है । जब मेरे आत्माका कोई बिगाड़ या सुधार करही नहीं सक्ता है तब मैं किस मानवमें राग करूं व किस मानवसे द्वेष करूं ? यदि मैं राग द्वेष करता हूं तो मैं मूर्ख व बावला हूं । इसलिये मुझे न किसीसे राग करना चाहिये न द्वेष । मुझे पूर्ण समताभावमें ही रमण करके सुखी रहना चाहिये । निश्चयनयसे यहां भी साधकको अपने आत्माको शुद्ध अविनाशी चेतन धातुमय अमूर्तीक अनुभव कर लेना चाहिये । मेरा कोई शत्रु है व कोई मेरा मित्र है इस कल्पनाको बिलकुल मिटा देना चाहिये ।

परमार्थविंशतिमें श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा ।
प्रेमांगेपि न मेस्ति संप्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवल: ॥
संयोगेन यदत्र कष्टमभवत्संसारचक्रे चिरं ।
निर्विण्ण: खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मेरा कोई सम्बन्ध न किसी आश्रय करनेवाले इस सेवकसे है न किसी मित्रसे है। मेरा प्रेम इस शरीरपर भी नहीं है। मैं अब केवल अकेला ही सुखी हूं। इस संसारमें अनादिसे इस शरीरादिके संगसे बहुत कष्ट पाए इसलिये मैं अब इनसे उदास होगया हूं, मुझे सदा एक अपना निराला रूप ही रुचता है। वास्तवमें ज्ञानीके ऐसा ज्ञानभाव सदा रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद।

क्रोधांधो यदि शत्रुने तन यहाँ मम नाशकर दुख दिया।
सो जड़ हूं मैं चेतना गुणमई, सम्बन्ध मुझसे जु क्या॥
मेरा है सम्बन्ध नित्य जिससे सो नाश होवे नहीं।
इम लख बुधजन रागद्वेष कोई, किंचित् जु करता नहीं॥४२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरका मोह ही संकटोंका मूल है—

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता।
गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते॥
तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम्।
का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम्॥४३॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस संसारमें (एकत्रापि कलेवरे) इसी एक शरीरमें ही (स्थितिधिया) स्थिरतापनेकी बुद्धि करके (कर्माणि संकुर्वता) नाना प्रकार पाप कर्मोंको करते हुए (आत्मना) आत्माने (गुर्वी) बड़ी भारी (दुःखपरम्परानुपरता) दुःखोंकी संतानको बढ़ानेवाली अवस्था (लभ्यते) प्राप्त कर ली है (तत्र) उसी संसारमें (विनष्टममतां) ममतारहितपनेको या वीतरागभावको (स्थापयता) स्थापित करनेवाले आत्मासे (का) कौनसी (विस्तारिणीं) बड़ी भारी

(सम्पदा) सम्पदा (नहीं प्राप्यते) न प्राप्तकर ली जासक्ती है कि जिसको (शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा) इन्द्र, चक्रवती या नारायण नहीं प्राप्त कर सके हैं। अर्थात् अवश्य मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्ति की जा सकती है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि ममता ही दुःखोंको बढ़ानेवाली है व ममताका त्याग ही मुक्तिरूपी लक्ष्मीको प्राप्त करानेवाला है। इस संसारमें इस जीवने अनन्तकालसे भ्रमण करते हुए अनन्त शरीर पाए व छोड़े व हरएक शरीरमें रहकर व उसीमें लिप्त होकर बहुतसे कर्मोंका बंधन किया। जिस कर्मबंधके कारण संसारमें भ्रमण करता रहा। अब यह मानव जन्म पाया है। यदि फिर भी इस शरीरमें व शरीरके भीतर इंद्रियोंमें ममता की जावेगी तो ऐसा कर्मोका बन्ध होगा जिससे इस जीवको नर्कनिगोद आदि गतियोंमें जाकर दुःखोंकी परिपाटीको बढ़ा देना होगा। फिर मानव जन्मका मिलना ही दुष्कर होजायगा और यदि यह मानव बुद्धिमान होकर इस क्षणभंगुर व अपवित्र शरीरपर ममत्त्व न करे और अपने आत्माके स्वरूपको पहचान कर उसका ध्यान करे तो यदि शरीर उच्च स्थितिका हो व मोक्षपाने योग्य सामग्री हो तो उसी जन्मसे मोक्षकी अनुपम सम्पदाको पासकता है और यदि शरीर मोक्षके पुरुषार्थके योग्य न हो तब भी उत्तम संयोगोंके पानेका पात्र होता हुआ परम्परा मोक्षका अधिकारी होसक्ता है। मोक्षकी सम्पदा अनुपम है। वह आत्मीक है, पराधीन नहीं है। वह आत्माका ही अनंत ज्ञान, सुख, बीर्य आदि है। इस मुक्तिकी सम्प्राप्तिको इन्द्र, चक्रवर्ती व नारायण आदि भी नहीं पासक्के हैं।

वास्तवमें आत्मज्ञानी ही व आत्मध्यानी ही ऐसे सुखके अधिकारी हैं। जो शरीरके दास हैं वे ही संसारके दास हैं, वे ही अनन्तकाल भ्रमण करनेवाले हैं। इसलिये ज्ञानी जीवको इस क्षणिक शरीरमें मोह न करके नित्य निरंजन निज आत्मामें ही प्रेम बढ़ाना उचित है।

निश्चयपंचाशतमें पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

वपुरादिपरित्यक्ते मज्जत्यानंदसागरे मनसि ।
प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योतिः ॥३॥

भावार्थ—जब मनका मोह शरीरादिसे छूट जाता है और वह मन आनन्दसागरमें डूब जाता है तब मनमें जो कुछ प्रतिभास होता है वही एक परम चैतन्यमय ज्योति है वह जयवंत रहो।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो कोई इस एक देहको हो, थिर मान अघको करे ।
सो सन्तान महान दुःख लहिके चारों गतोमें फिरे ॥
पर जो ममता टाल आप माहीं, आपी रतो धारता ।
अनुपम शिव संपत् अपारलहता इन्द्रादि नहिं पावता ॥४३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिन बातोंसे शरीरका लाभ होता है उनसे आत्माका बुरा होता है इससे उनसे बचना ही हितकर है—

ये भावाः परिवर्धिता विदधते कायोपकारं पुन-
स्ते संसारपयोधिमज्जनपरा जीवापकारं सदा ।
जीवानुग्रहकारिणो विदधते कायापकारं पुन-
र्निश्चित्येति विमुच्यतेऽनघधिया कायोपकारि त्रिधा ॥४४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (परिवर्धिताः भावाः) धारण किये हुए व बढ़ाए हुए रागादि भाव व स्त्री, पुत्र, मित्र, राज्यधनसम्पदा

आदि पदार्थ (कायोपकारं) इस शरीरका भला (विदधते) करते (पुनः) परन्तु (ते) वे भाव या पदार्थ (संसारपयोधिमज्जनपराः संसारसमुद्रमें डुबानेवाले हैं इसलिये (सदा जीवापकारं) हमेश जीवका बुरा करते हैं । (पुनः) तथा (जीवानुग्रहकारिणः) ज वीतराग भाव या तप, व्रत, संयम आदि जीवके उपकार करनेवाल हैं वे (कायापकारं) शरीरका बुरा (विदधते) करते अर्थात् शरीरको संयमी व संकुचित रहनेवाला बनाते हैं (इति) ऐसा (निश्चित्य निश्चय करके (अनघधिया) निर्मल बुद्धिवान मानवको (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनों प्रकारसे (कायोपकारि) शरीरको लाभ देनेवाले और आत्माका बुरा करनेवाले पदार्थोंको या भावोंको (विमुच्यते) छोड़ देना उचित है ।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने बताया है कि शरीरका दासपना करोगे तो आत्माका बुरा होगा और जो आत्माका हित करोगे तो शरीरका दासपना छूटेगा । वास्तवमें जो मानव स्त्री, पुत्र, धनादि सम्पदामें मोही होजाते हैं अथवा अपने आत्माके भीतर कर्मोंके उदयसे पैदा होनेवाले रागादि भावोंमें तन्मय रहते हैं वे मोही जीव रातदिन अनादि सामग्रीके एकत्र करनेमें, रक्षण करनेमें व विषयभोगोंमें लगे रहते हैं । वे इन कामोंसे शरीरका रातदिन चाकरीपना करते हैं, उसको बड़े अरामसे रखते हैं । वे किंचित् भी कष्ट सहकर अपने आत्माके हितकी तरफ ध्यान नहीं देते, उनसे न जप होता न तप होता न व्रत पाले जाते न वे दर्शन पूजा स्वाध्याय करते न वे पात्रोंको दान देनेका कष्ट उठाते न वे सामायिक करते न संयम पालते न शुद्ध भोजन करते, वे हिंसादि पापोंको स्वच्छन्द

वृत्तिसे करते हुए व तीव्र विषयवासनामें लिप्त होते हुए ऐसे पाप-कर्मोंको बांध लेते कि जिनसे इस आत्माको दुर्गतिमें जाकर घोर संकट भुगतना पड़ता और उसको अपने उद्धारका मार्ग मिलना कठिन होजाता है तथा जो बुद्धिमान इस मानव देहको धर्मसाधनमें लगाते जप, तप, शील, संयम पालते, ध्यान स्वाध्याय करते वे अपने आत्माका सच्चा हित करते उसे सच्चे सुखका भोग कराते, उसे मुक्तिके मार्ग पर चलाते हैं। यद्यपि इस तरह वर्तन करते हुए शरीरको काबूमें रहना पड़ता तब शरीर अवश्य पहलेकी अपेक्षा कुछ सूखता। इतना ही नहीं ये सब कार्य जो मोक्षमार्गके साधक हैं वे वास्तवमें शरीरके नाशके ही उपाय हैं। इन साधनोंसे कुछ कालके पीछे शरीरका सम्बन्ध बिलकुल भी न रहेगा और यह शरीर ऐसा छूट जायगा कि फिर इसको यह आत्मा कभी नहीं ग्रहण करेगा। ऐसी व्यवस्था है तब ज्ञानीको यही करना उचित है कि शरीर जो पर पदार्थ है उसके पीछे अपना बुरा न कर डाले। उसे शरीरके मोहमें नहीं पड़ना चाहिये और शरीरका सम्बंध ही न मिले ऐसा ही उपाय करना चाहिये अर्थात् आत्माके हितके लिये तप आदि आत्मध्यानको बड़े भावसे करना चाहिये यही आचार्यका भाव है।

पूज्यपादस्वामीने भी इष्टोपदेशमें कहा है:—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो बातें जीवको लाभकी हैं उनसे शरीरका बुरा होता है तथा जिनसे देहका भला होता है उनसे जीवका उपकार होता है।

इसमें ज्ञानीको यही विचारना चाहिये कि कोईका घर नष्ट हो परन्तु घरमें रहनेवाला बच जाय तो वह काम करना अच्छा है कि घर तो बच जाय व रहनेवालेका नाश होजाय यह काम करना अच्छा है ? वास्तवमें घरसे घरवालेका मूल्य बहुत ज्यादा है । घर तो फिर भी बन सक्ता है । परन्तु घरवाला मर गया तो फिर जीना कठिन है । इसलिये शरीरके मोहमें न पड़कर आत्म-हित ही करना श्रेष्ठ है ।

एकत्वाशीतिमें श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

बहिर्विषयसम्बन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा ।
अतस्तद् भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ ॥१॥

भावार्थ–बाहरी शरीर आदि पदार्थोंका सम्बन्ध तो सर्व जीवोंके सदा ही होता रहता है वह तो सुलभ है । परन्तु बाहरी पदार्थोंसे भिन्न आत्माका ज्ञान व आत्माका ध्यान कठिनतासे मिलते हैं इसलिये इनका अभ्यास हितकारी है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो धन आदि पदार्थ भाव रागी, या देहको हित करें ।
सो संसार समुद्र माहिं पटकें निजको सदा दुख करें ॥
हितकर्ता तप आदि भाव जियको सो देहको दुख करें ।
निर्मलधी इम जान देह हितकर परिणाम वर्जन करें ॥४४॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्माकी आराधनासे ही आत्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती हैः–

शालिनी छन्द ।

आत्मा ज्ञानी परममलं ज्ञानमासेव्यमानः ।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव ॥

सर्वत्रेदं जगति विदितं दीयते विद्यमानं ।
कश्चित्त्यागी न हि खकुसुमं क्वापि कस्यापि दत्ते ॥४५॥

अन्वयार्थ–(आत्मा) आत्मा (ज्ञानी) ज्ञान स्वरूप है, (आसेव्यमानः) यदि इसकी सेवा की जावे तो यह (परमम्) उत्कृष्ट, (अमलं) निर्मल (ज्ञानं) ज्ञानको (वितरति) देता है (पुनः) जब कि (कायः) शरीर (अज्ञानी) ज्ञान रहित है (घोरं अज्ञानं एव) यदि इसकी सेवा की जावे घोर अज्ञानको ही देता है (जगति) इस जगतमें (इदं) यह बात (सर्वत्र) सर्व स्थानमें (विदितं) प्रसिद्ध है कि (विद्यमानं दीयते) जिसके पास जो होता है वही दिया जाता है (कश्चित्) कोई भी (त्यागी) दानी (खकुसुमं) आकाशके फूलको (क्वापि) कहीं भी (कस्यापि) किसीको भी (नहि दत्ते) नहीं देसक्ता है ।

भावार्थ–यहांपर आचार्य कहते हैं कि पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्दकी प्राप्ति करना चाहें उनको उचित है कि अपने आत्माका ही सेवन करें । क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप व वीतराग आन्दमई है । यदि आत्माका ध्यान किया जायगा तो आत्माको अवश्य ही जो उसके पास गुण हैं वे स्वयं प्राप्त होजांयगे । यदि कोई शरीरकी सेवा करे, शरीरके मोहमें रहकर उसकी सेवाचाकरीमें लगा रहे, उसके कारण जो राग, द्वेष, मोह होता है उसीको अपना स्वरूप मानता रहे, रातदिन अहंकार ममकारमें लीन रहे तो उस अज्ञानीको आत्मीक गुणोंको छोड़कर जड़ अचेतन रूप शरीर व कर्मबंध व कर्मोदय रूप रागद्वेष रस इनकी सेवा करते रहनेसे अज्ञानका ही लाभ होगा, कभी भी शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न होगी ।

क्योंकि जगतमें यह नियम है कि जो किसीकी सेवा सच्चे भावसे करता है उसको वह वही वस्तु देसक्ता है जो उसके पास है। यदि कोई उससे ऐसी वस्तु मांगे जो उसके पास नहीं है तो वह उसे कभी नहीं देसक्ता है। आकाशका फूल कभी होता नहीं, फूल तो किसी वृक्षकी शाखामें होता है। यदि कोई बड़ा भारी दाता है और उससे कोई याचक यह कहे कि तू मुझे आकाशका फूल दे तो वह कभी उसे दे नही सक्ता क्योंकि उसके पास आकाशका फूल है ही नहीं। तात्पर्य कहनेका यह है कि शरीर जड़ है इसकी पूजासे जड़-मूर्ख ही रहोगे। कभी सम्यग्ज्ञानी व केवलज्ञानी नहीं होसक्के किन्तु जब निज आत्माका ध्यान करोगे तो अवश्य सम्यग्ज्ञान व सुख शांतिकी प्राप्ति होगी।

इष्टोपदेशमें श्री पूज्यपादस्वामीने भी ऐसा ही कहा है—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः॥ २३॥

भावार्थ—अज्ञानकी सेवासे अज्ञान होगा और ज्ञानी आत्माकी सेवासे ज्ञान होगा। यह प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है वही दूसरेको उसीमेंसे कुछ दे सक्ता है।

एकत्वाशीतिमें पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

अजमेकं परं शांतं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः॥१८॥
स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः॥ १९॥

भावार्थ—जो कोई स्थिर होकर आत्माके द्वारा अजन्मा, एक रूप, उत्कृष्ट, वीतराग, सर्व रागादि उपाधि रहित अपने आत्माको

जानकर अपने आत्मामें तिष्ठता है व आत्मानुभव करता है वही मोक्षमार्गमें चलनेवाला है, वही आत्मानंदरूपी अमृतका भोग करता है, वही अर्हंत, वही जगतका स्वामी व वही प्रभु व वही ईश्वर है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो निज आतम स्वच्छ ज्ञानमयको भजता परम प्रेमसे।
पाता निर्मलज्ञान और सुखको लहता शिवं नेमसे॥
जो सेता निज तन अचेतन महा लहता न ज्ञानं कधी।
दाता देवे जो कि पास निज हो नभ फूल दे नहिं कधी॥४५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि लोग सुखकी तो इच्छा करते हैं परन्तु उपाय उल्टा करते हैं—

कांक्षन्तः सुखमात्मनोऽनवसितं हिंसापरैः कर्मभिः।
दुःखोद्रेकमपास्तसंगधिषणाः कुर्वन्ति धिक्कामिनः॥
बाधां किं न विवर्धयन्ति विविधैः कंडूयनैः कुष्ठिनः।
सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः खर्जूकषाकांक्षिणः॥ ४६॥

अन्वयार्थ—(अनवसितं) निरंतर (आत्मनः सुखं) अपनेको सुखकी (कांक्षन्तः) इच्छा करनेवाले (अपास्तसंगधिषणाः) विवेक बुद्धिसे रहित (कामिनः) कामी पुरुष (धिक्) यह बड़े दुःखकी बात है कि (हिंसापरैः कर्मभिः) हिंसामई क्रियाओंके द्वारा (दुःखोद्रेकं) दुःखोंके वेगको (कुर्वंति) बढ़ा लेते हैं। जैसे (खर्जूकषाकांक्षिणः) खुजानेकी इच्छा करनेवाले (कुष्टिनः) कोढ़ी लोग (विविधैः) नाना प्रकार (कंडूयनैः) खुजानेकी वस्तुओंसे (सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः) सारे अंगके भागोंको मलनेसे (किं) किस (बाधां) कष्टको (न विवर्धयंति) नहीं बढ़ा लेते हैं? अर्थात् अवश्य बढ़ा लेते हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि इंद्रियोंके भोगोंको

भोग कर सुखकी इच्छा करना मूर्खता है। जैसे कोढीलोग जिनको खाज खुजानेकी इच्छा इसलिये होती है कि खाज मिट जावे, सारे अंगको खुजाते हैं इससे उनकी खाज मिटती नहीं उल्टी बढ़ जाती है वैसे इंद्रियोंके भोगोंसे जो तृप्ति चाहते हैं उनको कभी तृप्ति व संतोष नहीं होता है, उल्टी तृष्णाकी ज्वाला और बढ़ जाती है। इंद्रियोंके भोगोंमें लिप्त होनेसे उस जन्ममें सुख नहीं मिलता, इतना ही नहीं, उससे आगामी जीवनको भी नष्ट करता है क्योंकि इन्द्रियभोग योग्य पदार्थों की इच्छा करके यह प्रचुर धन प्राप्त करना चाहता है या अनेक विषयोंकी सामग्रीको इकट्ठा करना चाहता है जिससे बहुत अधिक हिंसामई आरंभ करता है, असत्य बोलता है व अनेक अन्याय कर लेता है। इस कारण तीव्र पापोंको बांध लेता है उस पापके उदयसे परलोकमें महान् दुःखकी योनियोंमें पड़ जाता है व वहां भी पापके उदयसे दुःखी होजाता है व आपत्ति संकटोंमें पड़ जाता है। खाज खुजानेवालेकी खाज जैसे मिटनेके स्थानमें बढ़ जाती है तैसे इंद्रियभोगोंको भोगकर तृप्ति चाहनेवालोंकी तृष्णाकी आग और अधिक बढ़ जाती है। ऐसा समझकर जो सुखकी इच्छा हो तो आत्मीक सुखकी खोज करनी चाहिये और उस सुखके लिये अपने आत्माका ध्यान ही उपाय है इसको ग्रहण करना चाहिये।

अमितगति महाराजने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है कि सच्चा सुख वीतरागी महात्माओंको ही मिलता है—

यदिह भवति सौख्यं वीतकामस्पृहाणां।
न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणाम् ॥

इति मनसि नितान्तं प्रीतिमाधाय धर्मे ।
भजत जहित चैतान् कामशत्रून्दुरन्तान् ॥ १० ॥

भावार्थ-जो सुख इस लोकमें उन महात्माओंको होता है जिनके कामभोगोंकी इच्छा नहीं रही है वह सुख न देवताओंको और न चक्रवर्ती राजाओंको होसक्ता है। ऐसा जानकर मनमें गाढ़ प्रीतिको धारण कर धर्मकी सेवा कर और कठिनतासे छूटनेवाले इन भोगोंकी इच्छारूपी शत्रुओंको त्याग दें।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रिडित छन्द ।

जो चाहें नित सौख्यको परकृतो हिंसामई क्षति करें ।
करते बुद्धि विना जु भोग रत हो वे सुख कभी ना भरें ॥
जो कोढ़ो निज खाज टालन निमित अंगांग खुजलावता ।
साता पाता है नहीं वह कुधी बाधा अधिक पावता ॥४६॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं जो अपने आत्माको अपने आत्मामें स्थिर करता है वही अपने आपका मित्र है व जो ऐसा नहीं करता है वह अपने आत्माका शत्रु है-

व्यापारं परिमुच्य सर्वमपरं रत्नत्रयं निर्मलम् ।
कुर्वाणो भृशमात्मनः सुहृदसावात्मप्रवृत्तोऽन्यथा ॥
वैरी दुःसहजन्मगुप्तिभवने क्षिप्त्वा सदा पातय-
त्यालोच्येति स तत्र जन्मचकितैः कार्यः स्थिरः कोविदैः ॥

अन्वयार्थ-जो (सर्वं अपरं व्यापरं) सर्व दूसरे व्यापारको (परिमुच्य) छोड़ करके (निर्मलं) पवित्र (रत्नत्रयं) रत्नत्रय धर्मको (भृशं कुर्वाणः) भलेप्रकार पालनेवाला व (आत्मप्रवृत्तः) अपने आत्मामें प्रवृत्ति करनेवाला है (असौ) वही (आत्मनः सुहृत्) अपने आत्माका मित्र है। (अन्यथा) जो ऐसा नहीं करता है वह (वैरी)

अपने आत्माका वैरी है । वह अपने आपको (सदा) सदा (दुःसह-अन्मगुप्तिभवने) न सहने योग्य संसारके भयानक जेलखानेमें (क्षिप्त्वा) पटक कर (पातयति) अधोगतिमें पहुंचाता रहता है (इति) ऐसा (आछोच्य) विचार करके (जन्मचकितैः) संसारके जन्मसे भय रखनेवाले (कोविदैः) बुद्धिमानोंको (तत्र) इस संसारमें (सः स्थिरः कार्यः) वही स्थिर कार्य करना चाहिये अर्थात् अपने आत्मामें स्थिर होनेका उपाय करना चाहिये ।

भावार्थ–यहां आचार्यने बताया है कि वह आत्मा अपने आत्माका घातक तथा शत्रु है, जो संसारके अनेक व्यापारोंमें तो उलझता है परन्तु अपने आत्माके ध्यानको कभी नहीं आचरण करता है क्योंकि वह जीव नानाप्रकार पापकर्मोंको बांधकर अपने आत्माको नरकनिगोद पशुगति आदिके महान कष्टोंमें डाल देता है । फिर उसको संसारमें सुखी होनेका मार्ग कठिनतासे मिलता है और वह मोक्षमार्गसे दूर होता जाता है । परन्तु जो कोई बुद्धिमान और सब शरीर संबन्धी व्यापारोंको त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रको भले प्रकार पालता हुआ अपने आत्माके ध्यानमें लयता पाता है वह अपने आत्माका मित्र है । क्योंकि ध्यानके बलसे वह कर्मोंका नाश करता है, आत्मामें सुख शांति तथा बलको बढ़ाता है और मोक्षके मार्गको तय करता जाता है, ऐसा जानकर जो कुछ भी बुद्धि रखते हैं उनका कर्तव्य है कि रागद्वेष भूलकर सर्व ही व्यापारोंको छोड़कर ऐसा उपाय करें जिससे अपने आत्मामें स्थिरता पावें और फिर मुक्त होजावें ।

बुद्धिमानोंको आत्मघाती होना बड़ा भारी पाप है । जो

अपने आत्माकी रक्षा करता है वही सच्चा आत्माका मित्र है।

सुभाषितरत्नसंदोहमें स्वामी अमितगतिजी कहते हैं—

यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंगसौख्यं।
तद्वत्त्वं चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्याः॥
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतनवजरामृत्युदुःखप्रपंचं।
सञ्चिन्त्यैव विधिस्त्वं स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वम् ॥४०६॥

भावार्थ-जिस प्रकार तू कामदेवके बाणसे वींधा हुआ स्त्री भोगके सुखमें अपना मन लगाता है उसी तरह यदि तू श्री जिनेंद्र भगवानसे कहे हुए मोक्षके मार्गमें चित्तको जोड़ दे तो तू जन्म जरा मरणके दुःखोंके प्रपंचसे रहित क्या क्या सुखको न प्राप्त करे ? ऐसा विचार कर अपनी बुद्धिको उत्तमपने स्थिर करके उसी धर्ममें स्थिरता रखनी चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद।

जो तजके व्यापार अन्य जगके रत्नत्रयं निर्मलं।
सेवें ध्यावें आत्मको रुचि धरें सो मित्र आतमपरं॥
जो राचें संसार दुःख पावें हैं आत्म वैरी सदा।
बुधजन भवभयधार कार्य निजमें थिरता धरें सर्वदा॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मूढ़ पुरुष धनादिमें मग्न होकर मरणादि संकटोंका विचार नहीं करता है।

मूढः संपदधिष्ठितो न विपदं संपत्तिविध्वंसिनीं।
दुर्वारां जनमर्दनीमुपयतीमात्मात्मनः पश्यति॥
वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगमृगव्याधादिभिः संकुलं।
कक्षं वृक्षगतो हुताशनशिखां प्रप्लोषयन्तीमिव॥ ४८॥

अन्वयार्थ—(मूढः) मूर्ख (आत्मा) जीव (संपदधिष्ठितः) जो

संपत्तिको रखनेवाला है सो (आत्मनः) अपने ऊपर (जनमर्दनीं) मानवोंको नाश करनेवाली (संपत्तिविध्वंसिनी) तथा लक्ष्मी आदिका वियोग करानेवाली (दुर्वारां) कठिनतासे निवारने योग्य (विपदं) विपदाको (उपयतीं) आते हुए (न पश्यति) नहीं देखता है जैसा (वृक्षगतः) वृक्षके ऊपर बैठा हुआ कोई मानव या पक्षी (वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगमृगव्याधादिभिः) वृक्ष, बाघ, तरस, सर्प, मृग व शिकारी आदिसे (संकुलं) भरे हुए (कक्षं) वनको (प्रप्लोषयन्तीं) जलानेवाली (हुताशनशिखां) अग्निकी शिखाके (इव) समान नहीं देखता है। अर्थात् जैसे वह मानव आग जलती तो देखता है परंतु उठके भागता नहीं है ऐसा यह धनोन्मत्त पुरुष है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने बताया है कि यह संसाररूपी वन महा भयानक है जिसमें मरणकी आग जल रही है। जो इस वनमें रहते हैं वे मरते रहते हैं। जब प्राणीको मरण आजाता है उस समय सर्व संपत्ति धन दौलत स्त्री पुत्र मकान राज्य आदि छोड़ जाना पड़ता है। इस मरणकी आपत्तिको कोई टाल नहीं सक्ता है। अज्ञानी लोग यह देखा करते हैं कि आज यह मरा कल वह मरा था, आज यह सब छोड़के चल दिया कल वह छोड़के गया था। संसारमें मरण किसीको छोड़ता नहीं, न बालकको न वृद्धको न बुद्धिशालीको न मूर्खको न राजाको न रंकको न इंद्रको न धर्णेन्द्रको न चक्रवर्तीको न तीर्थंकरको, तौ भी लोग अपना ध्यान नहीं करते। जो मूर्ख धनके मदमें उन्मत्त है, सम्पदामें लिप्त है वह ऐसा अन्धा होजाता है कि विषयभोगोंको भोगता ही रहता है और मरण आनेवाला है इस बातको अपने लिये नहीं विचारता

है, वह मूर्ख अज्ञानसे मरकर संसारमें कष्ट पाता है। यहांपर आचार्यने उस मूर्ख मानव या पक्षीका दृष्टांत दिया है जो किसी भयानक वनके भीतर एक वृक्षपर बैठा हुआ हो और उस वनमें आग लग रही हो तथा आगसे जल न जावें इस भयसे शेर, हिरण, सर्प आदि पशु भागे जारहे हैं, अग्नि बढ़ते बढ़ते उस वृक्षपर भी आनेवाली है जिसपर वह बैठा है तथापि वह ऐसा बेखबर है कि आगको बढ़ती हुई देखकर आप उससे बचनेका प्रयत्न नहीं करता है, भागता नहीं है। यही दशा अज्ञानी और मिथ्यादृष्टी जीवकी है। तात्पर्य कहनेका यह है कि संसारमें परपदार्थके सम्बन्धको क्षणभंगुर जानकर व शरीरको कालके मुखमें बैठा हुआ मानकर हमको सदाही अपने आत्मोद्धारके प्रयत्नमें दत्तचित्त रहना चाहिये। श्री शुभचंद्र आचार्यने ज्ञानार्णवमें कहा है—

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥ २३ ॥

भावार्थ—शरीर तो गलता जाता है परंतु आशा नहीं गलती है, आयु तो कम होती जाती है परंतु पापकी बुद्धि नहीं जाती है, मोह तो बढ़ता जाता है परन्तु आत्माका हित नहीं होता है। शरीरधारी प्राणियोंका चरित्र देखो कैसा आश्चर्यकारी है। यह मोहका महात्म्य है जिससे अपने नाशको सामने देखकर भी बावला होरहा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

मूरख संपत् लीन होय रहता भावी नहीं देखता।
धन नाशक मरणादि संकट बडे आते नहीं पेखता॥
वृक्षादी मृग बाघ नागपूरित वनमाहिं अग्नी लगी।
बैठा वृक्ष सु देखता बन जले नहिं बुद्धि भागन लगी ॥४८॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि परमात्मा पदकी प्राप्ति आत्मध्यानसे ही होती है—

आत्मात्मानमशेषबाह्यविकलं व्यालोकयन्नात्मना ।
दुष्प्रापां परमात्मतामनुपमामापद्यते निश्चितम् ॥
आत्मानं घनरूढकीचकचयः किं घर्षयन्नात्मना ।
वन्हित्वं प्रतिपद्यते न तरसा दुर्वारतेजोमयम् ॥४९॥

अन्वयार्थ–(आत्मा) आत्मा (आत्मानम्) अपने आत्माको (अशेषबाह्यविकलं) सर्व बाहरी पदार्थोंसे भिन्न (आत्मना) अपने आत्माकेद्वारा (व्यालोकयन्) अनुभव करता हुआ (निश्चितम्) निश्चयसे (दुष्प्रापां) कठिनतासे प्राप्त होने योग्य (अनुपमां) तथा उपमा रहित (परमात्मतां) परमात्म पदको (आपद्यते) प्राप्त कर लेता है। (किं) क्या (घनरूढ़कीचकचयः) गाढ़ डटा हुआ बांसके वृक्षोंका समूह (आत्मना) अपनेसे (आत्मानं) आपको (घर्षयन्) घिसते घिसते (तरसा) शीघ्र ही (दुर्वारतेजोमयं) न बुझाने योग्य तेजस्वी (वह्नित्वं) अग्निपनेको (न प्रतिपद्यते) नहीं प्राप्त होजाता है।

भावार्थ–आचार्य कहते हैं कि आत्माको कर्मोंके मैलसे छुड़ानेका व इसके गुणोंको प्रकाश कर इस परमात्मपदमें पहुंचानेका उपाय इस आत्माके पास ही है। यदि यह आत्मा सर्व पुद्गलादि द्रव्योंसे सर्व कर्म बन्धनोंसे, सर्व रागादि भावोंसे भिन्न मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई अविनाशी अमूर्तीक एक द्रव्य हूं ऐसा निश्चय करके अपने आपको अपने आप हीसे विचार करे, विचारते २ उसीमें लय हो आत्मानुभव करे तो अवश्य उसके कर्म बन्ध कट जावें और वह शुद्ध परमात्मा होजावे। इसपर दृष्टांत देते हैं कि

जैसे बनमें बांसके वृक्षोंके समूह स्वयं रगड़ते रगड़ते अग्निमें बदल जाते हैं और ऐसी प्रचण्डताको धारण करते हैं कि फिर कोई भी उसको बुझा नहीं सक्ता है। इसलिये जो अपना आत्म कल्याण चाहते हैं उन्हें अपने आत्माका ध्यान ही करना उचित है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमें कहते हैं—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभि: वर्जितं किमपियत्तदेव न: ।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चय: ॥ २५ ॥

हमारा आत्मतत्व ज्ञानरूप है, सर्व रागादिकी उपाधिसे रहित है। इसके सिवाय और कोई भी जरासा भी हमारा तत्व नहीं है। ऐसा जो ध्यानका निश्चय है वही मोक्षका मार्ग है। असलमें बात यही है कि मोक्ष अपना ही शुद्ध चैतन्यरूप है, जहां अपने आपको सर्व परभवोंसे भिन्न अनुभव किया वहीं मोक्षका आनन्द आने लगता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो आतम निजआत्म आप ध्यावे परभावको टालता ।
सो निश्चय दुर्लभ अनूपम परम शुद्धात्मता पावता ॥
बनमें बांस समूह आप आपी घर्षण करें आपको ।
झटसे दुर्धर तेज धार अग्नो, होवे करे तापको ॥ ४६ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो शरीरके कार्यमें मोही है वह आत्मकार्य नहीं कर सक्ता।

व्यासक्तो निजकायकार्यकरणे यः सर्वदा जायते ।
मूढात्मा स कदाचनापि कुरुते नात्मीयकार्योद्यमं ॥
दुर्वारेण नरेश्वरेण महति स्वार्थे हठाद्योजिते ।
भीतात्मा न कथंचनापि तनुते कार्यं स्वकीयं जनः ॥५०॥

अन्वयार्थ-(यः) जो कोई (सर्वदा) सदा (निजकायकार्यकरणे) अपने शरीरके कार्यके करनेमें (व्यासक्तः) लगा हुआ (आयते) रहता है (सः) वह (मूढात्मा) मूढ़ बुद्धि (कदाचनापि) कभी भी (आत्मीयकार्योद्यमं) अपने आत्माके कार्यका उद्यम (न कुरुते) नहीं करता है। (भीतात्मा जनः) भयभीत कायर जन (दुर्वारेण नरेश्वरेण) जिसकी आज्ञा उल्लंघन करना कठिन है ऐसे राजा द्वारा (हठात्) बलात्कारसे (महति स्वार्थे) किसी महान अपने कार्यमें (योजिते) लगादिये जानेपर (स्वकीयं कार्यं) अपने स्वयंके कार्यको (कथंचनापि) कुछ भी (न) नहीं (तनुते) करता है।

भावार्थ-यहां पर आचार्य बताते हैं कि जैसे कोई मूर्ख प्राणी किसी राजाके यहां नौकर हो वह राजा उसको किसी कामको पूरा करनेकी आज्ञा देवे। वह मूर्ख राजासे डरता हुआ दिनरात राजाके ही काममें लगा रहे, अपना निजका काम करनेको समय ही न बचावे तब वह जगतमें मूर्ख ही कहलाएगा क्योंकि उसने अपने हितका काम करनेके लिये कुछ भी समय नहीं निकाला। इसी तरह जो मूर्ख शरीरमें अति आशक्ति रखता हुआ इंद्रियोंका दास होजाता है। वह निरंतर शरीरको पोषा करता है, आराम दिया करता है, शरीरके लिये धन कमाया करता है, रातदिन शरीरको आराम देनेमें लग जाता है, वह अपने आत्मीक हितको बिलकुल भूल जाता है। बुद्धिमान प्राणीको शरीरके मोहमें इतना न पड़ना चाहिये कि वह अपनी आत्मीक उन्नतिको भूल जावे। यदि वह गृहस्थ है वह धन कमावे, इंद्रियोंको न्यायपूर्वक भोगोंमें लगावें परन्तु अपने आत्माके कल्याणके लिये आत्म-धर्मको अवश्य सेवन

करता रहे। किसी भी दशामें अपने सच्चे धर्मको भूल जाना बड़ी भारी नादानी है। हरएक गृहस्थको भी सामायिक व ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। व नित्य कर्ममें सावधान रहना चाहिये। धर्मका विस्मरण किसी भी समय न करना चाहिये। श्रीपद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृतमें कहते हैं—

विहायव्यामोहं धनसदनतन्वादिविषयं।
कुरुध्वं तत्तूर्णं किमपि निजकार्यं वतबुधाः॥
नयेनेदं जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना।
पुनः स्यान्नस्याद्वा किमपरवचोऽडंबरशतैः॥ ५२॥

भावार्थ-हे बुद्धिमानो! धन, गृह, शरीरादिके सम्बन्धमें ममताको छोड़कर शीघ्र ही अपने आत्महितके कार्यको करो जिससे यह संसार न बढ़ने पावे क्योंकि फिरसे यह उत्तम मनुष्य जन्म आदिकी प्राप्ति हो वा न हो व्यर्थकी बातोंके बनानेसे क्या लाभ होगा।

प्रयोजन यह है कि कैसी भी अवस्थामें हो, धर्म साधनको सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो निज देह मयो कुभोग रत हो निज देहको पालता।
सो मूरख निज आत्म कार्य हितको कुछ भी नहीं साधता॥
जो चाकर भयभीत हो नित रहे निज स्वामि कारज करे।
सो निज हितकों भूल त्रास सहता निज जन्म पूरा करे॥५०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धनादि पदार्थोंमें लीनता मोक्षके साधनमें बाधक है—

लक्ष्मीकीर्तिकलाकलापललनासौभाग्यभाग्योदया—
स्त्यज्यन्ते स्फुटमात्मनेह सकला एते सतामर्जितैः॥

जन्मांभोधिनिमज्जिकर्मजनकैः किं साध्यते कांक्षितं ।
यत्कृत्वा परिमुच्यते न सुधियस्तत्रादरं कुर्वते ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ-(इह) इस संसारमें (लक्ष्मीकीर्तिकलाकलाप-ललनासौभाग्यभाग्योदयाः) धन, यश, कलाओंका समूह, स्त्री, सौभाग्य, भाग्यका उदय आदि (एते सकलाः) ये सब पदार्थ (आत्मना) आत्माद्वारा (स्फुटं त्यज्यन्ते) प्रत्यक्ष छोड़ दिये जाते हैं (अर्जितैः) इन पदार्थोंको उत्पन्न करनेसे (जन्मांभोधिः-निमज्जिकर्मजनकैः) संसार समुद्रमें डुबानेवाले कर्मोंका बंध होता है इसलिये इन पदार्थोंसे (सतां) सज्जन पुरुषोंका (किं) क्या (कांक्षितं) चाहा हुआ मोक्ष पुरुषार्थ (साध्यते) साधन किया जासक्ता है ? अर्थात् नहीं साधन होता है । (यत्कृत्वा परिमुच्यते) जिस वस्तु व कामको पैदा करके फिर छोड़ना पड़े (तत्र) उस काममें या पदार्थमें (सुधियः) बुद्धिमान लोग (आदरं) आदर (न कुर्वते) नहीं करते हैं ।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने बताया है कि लक्ष्मी, धन, पुत्र, राज्यपाट, संसारीक यश, कला, चतुराई, स्त्री आदि सर्व पदार्थ मात्र इस देहके साथ हैं । आत्माका और इनका साथ कभी नहीं होसक्ता है । एक दिन आत्माको छोड़ना ही पड़ता है । फिर इनके पैदा करनेमें, इकट्ठा करनेमें, प्रबंध करनेमें, बहुत रागद्वेष, मोह व बहुत पापका संचय करना पड़ता है उस पापसे इस आत्माको संसार-समुद्रमें डूबना पड़ता है, दुर्गतिके अनेक कष्टोंको सहना पड़ता है तथा जो बुद्धिमानोंके लिये इष्ट है अर्थात् मोक्ष व स्वाधीन आत्मीक सुख है वह और दूर होता चला जाता है । इन स्त्री पुत्र

धनादिके भीतर मोह करनेसे आत्मध्यान व वैराग्य नहीं प्राप्त होता जो मोक्षका साधक है।

प्रयोजन कहनेका यह है कि धनादि पदार्थोंका मोह करना वृथा है, इनको संचय करना भी वृथा है क्योंकि एक तो ये कभी आत्माके साथ २ जाते नहीं स्वयं छूट जाते हैं, दूसरे इनके मोहमें आत्माका उद्धार नहीं होता है, आत्मा पवित्र नहीं होसक्ता है। इसलिये ज्ञानीको इनमें राग ही न करना चाहिये। इनको उत्पन्न करनेका भी मोह छोड़ देना चाहिये और आत्मकार्यमें लगा देना चाहिये। जिस वस्तुको बड़े परिश्रमसे कष्ट सह करके एकत्र किया जावे और उसे फिर छोड़ना ही पड़े उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये बुद्धिमान लोग कभी भी चाह नहीं करते हैं। इसलिये हमको धनादिकी चाहको छोड़कर स्वहित ही कर्तव्य है। ऐसा ही भाव श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशके भीतर बताया है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं सपकेन स्नास्यामीति विलंपति ॥ १६ ॥
आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधी ॥१७॥

भावार्थ—कोई निर्धन मनुष्य यह विचार करता है कि धन कमाकर दान करूंगा इसलिये धनको इकट्ठा करूं वह ऐसा ही मूर्ख है जो यह विचारे कि मैं अपने शरीरको कीचड़से लिप्तकर फिर स्नान कर लूंगा इसलिये कीचड़से लीपने लगे। जिस पापको छुड़ाना ही पड़े उस पापको लगाना ही अच्छा नहीं है। यदि धन कमानेसे पाप संचय होता है तो जो मुक्ति चाहता है उसे इस जंजालमें

नहीं पड़ना चाहिये। ये इंद्रियोंके भोग आरंभमें संताप करनेवाले हैं। अर्थात् इनके प्राप्त करनेके लिये बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और जब ये मिल जाते हैं तब इनके भोगोंसे तृप्ति कभी नहीं होती है फिर ये इतना मोह बढ़ा देते हैं कि इनका छूटना कष्टप्रद होजाता है। इसलिये बुद्धिमान मानव इन भोगोंकी इच्छा नहीं करता है। यदि गृहस्थमें पुण्योदयसे मिल जाते हैं तो उनमें आसक्त नहीं होता है। उनसे मोह करके अपने आत्म कार्यको नहीं भुलाता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

लक्ष्मीकीर्तिकलासमूह ललना सौभाग्य आदिक सभो ।
छुट जाते इस जीवसे इक दिना अघ बंधकारी सभी ॥
भवदधि डूबन हेतु मुक्तिपथ रिपु नहिं चाह धारें सुधी ।
जो हो तजने योग्य लाभ उसका करते नहीं जो सुधी ॥५१॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बुद्धिमान लोग कभी भी अनर्थ कार्य नहीं करते हैं–

हेयादेयविचारणास्ति न यतो न श्रेयसामागमो ।
वैराग्यं न न कर्मपर्वतभिदा नाप्यात्मतत्वस्थितिः ॥
तत्कार्यं न कदाचनापि सुधियः स्वार्थोद्यताः कुर्वते ।
शीतं जातु नुनुत्सवो न शिखिनं विध्यापयंते बुधाः ॥५२॥

अन्वयार्थ–(यतः) जिस कार्यके करनेसे (हेयादेयविचारणा न अस्ति) ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य क्या है ऐसा विचार नहीं पैदा होवे (न श्रेयसामागमः) न मोक्ष आदि जो कल्याणकारक हैं उनका लाभ होवे (न वैराग्यं) न संसार देहभोगोंसे वैराग्य पैदा होवे (न कर्मपर्वतभिदा) न कर्मरूपी पर्वतोंका चूरा किया जासके (नापि आत्मतत्वस्थितिः) और न आत्मीक

तत्वमें स्थिति हो अर्थात् न आत्मध्यान हो (तत्कार्यं) उस कार्यको (स्वार्थोद्यताः) अपने आत्माके प्रयोजनमें उद्यमी (सुधियः) बुद्धिमान लोग (कदाचनापि) कभी भी नहीं (कुर्वते) करते हैं जैसे (शीतं नुनुत्सवः) शीतको दूर करनेकी इच्छा करनेवाले (बुधाः) बुद्धिमान लोग (जातु) कभी भी (शिखिनं) अग्निको (न विध्यापयंते) नहीं बुझाते हैं ।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो विचारके साथ इस संसारमें काम करते हैं। हरएक मानवको अपना लक्ष्यबिन्दु बना लेना चाहिये और जो लक्ष्य हो उसीके साधनकी जो क्रियाएं हों उनको मन वचन कायसे करना चाहिये। जिसको शीत लग रही है और वह शीतसे बचना चाहता है तो वह अग्निको कभी नहीं बुझावेगा क्योंकि अग्नि उसके हितमें साधक है। इसी तरह जो बुद्धिमान लोग अपने आत्माकी उन्नति करना चाहते हैं वे ऐसे ही साधनोंको करेंगे जिनसे तत्वोंका ज्ञान होकर यह विवेक होजावे कि क्या तो त्यागने योग्य है व क्या ग्रहण करने योग्य है तथा जिस चारित्रसे मोक्षका लाभ होगा उसी चारित्रको पालेंगे व जिस तरह मनमें संसार देह भोगोंसे वैराग्य रहे वह उद्यम करेंगे जिस ध्यानसे कर्म पर्वतोंका चूरा हो वैसा ही ध्यान करेंगे, जिसतरह आत्माका अनुभव होजावे ऐसा तप साधेंगे। कभी भी ऐसे प्रपंचोंमें न फंसेंगे कि जिनमें फंसनेसे तत्वज्ञान न हो, वैराग्य न हो, कर्मका नाश न हो व मोक्षकी प्राप्ति न हो।

प्रयोजन कहनेका यह है कि मानवोंको स्त्री पुत्र मित्रादि

धन परिग्रहमें ममताबुद्धि रखकर अपना अहित न करना चाहिये। सर्व पर पदार्थोंको अपनेसे भिन्न जानकर उनसे मोह निवारण कर आत्महितके लिये स्वाध्याय ध्यान सत्संगति आदिमें लगे रहना चाहिये । गृहस्थमें रहे तो जलमें कमलके समान भिन्न रहे । यदि साधु हो तो रात दिन वैराग्यमें भीजा रहकर ध्यानकी शक्ति बढ़ावे । गृहस्थमें कभी भी ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्याय आदिके कार्य न करे जिनसे विषयोंमें अन्धा होकर इस नरजन्मके अमूल्य समयको यों ही खो दे और पीछे पछताना पड़े । मानवजन्मका समय बड़ा ही अमूल्य है । जो आत्महितमें दक्ष हैं वे ही सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ व साधु हैं—

श्री पद्मनंदि मुनिने धर्मोपदेशामृतमें कहा है कि आत्मध्यान करना ही श्रेष्ठ है ।

> आत्मामूर्तिविवर्जितोपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां ।
> प्राप्तोपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः संततं ॥
> तत्किं मुह्यत शासनादपिगुरोर्भ्रांतिः समुत्सृज्यता–।
> मतः पश्यत निश्चयेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः ॥६५॥

भावार्थ—आत्मा अमूर्तीक है तौ भी शरीरमें मौजूद है, यद्यपि दिखाई नहीं पड़ता है तथापि 'मैं' इस शब्दसे निरन्तर प्रगट है तब क्यों तुम मोहित होते हो, गुरुके उपदेशसे भ्रमको छोड़ो और मनके द्वारा निश्चय करके उसी आत्माकी तरफ अपने इंद्रिय-समूहको तन्मयी करके उसीका ही अनुभव करो ।

वास्तवमें आत्मध्यान ही आत्माके कल्याणका मार्ग है इसलिये उसीका ही यत्न करना एक बुद्धिमान प्राणीके लिये हितकारी है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो बुध आतम कार्य उद्यममती सो कार्य करते नहीं ।
आसे कृत्य अकृत्य बोध नहिं हो निजमोक्ष होवे नहीं ॥
नहिं होवे वैराग्य कर्म क्षय ना ध्यानात्म होवे नहीं ।
जो जन बाधा शीत टालनमती सो अग्नि शमता नहीं ॥५२॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि ध्याता मानवको उचित है कि क्रोधादि भावोंको दूर रक्खे–

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः ।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते ॥
काठिन्यं परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव ।
त्याज्या ध्यानविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः ॥५३॥

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः) कामभाव, क्रोधभाव, शोक, ईर्षा, गर्व, द्वेष व प्रमाद आदि अशुद्ध भावोंके द्वारा (शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः) शुद्ध ध्यानको बढ़ानेवाले मनकी (स्थैर्यं) स्थिरता (परितापदानचतुरैः हुताशैः हेम्नः काठिन्यं इव) तीव्र गर्म करनेवाली अग्निके द्वारा सुवर्णकी कठिनताके समान (क्षिप्यते) नष्ट होजाती है (ततः) इसलिये (ध्यानविधायिभिः) ध्यान करनेवालोंके द्वारा (इमे कामादयः) ये काम क्रोधादि भाव (दूरतः) दूरसे ही (त्याज्याः) छोड़ने योग्य हैं।

भावार्थ–जैसे सोना कठिन होता है परन्तु यदि उसको अग्निकी ज्वालाओंका ताप लग जावे तो पतला होकर बहने योग्य होजाता है, सोनेकी कठिनता नष्ट होजाती है, इसी तरह जो मानव आत्मध्यान करना चाहते हैं और वीतरागभावोंको मनमें बढ़ाना चाहते हैं उनके मनकी थिरता काम, क्रोध, मान, माया, लोभ,

भय, प्रमाद आदि भावोंके आक्रमणसे नष्ट होजाती है। इसलिये जो ध्यानका अभ्यास करना चाहें उनको इन भावोंसे दूर रहना चाहिये तथा उन निमित्तोंसे भी बचना चाहिये जिनके द्वारा मन काम क्रोधादि भावोंमें फंस जावे। इसीलिये उनको आरम्भ परिग्रहका त्याग करना चाहिये। गृहस्थीके प्रपंचजालोंसे अलग रहना चाहिये। लौकिक जनोंकी संगतिसे बचना चाहिये। स्त्रियोंके संसर्गसे दूर रहना चाहिये। वनोंमें व एकांत स्थानोंमें बैठना, शास्त्र स्वाध्याय करना व ध्यान करना चाहिये, अल्पाहारी होना चाहिये। मिष्ट हितकारी वचन बोलने चाहिये। स्वाध्याय व ज्ञानके विचारमें नित्य अनुरक्त होना चाहिये। जिन जिन कारणोंसे मनमें चंचलता होजावे व कषायका वेग उठ जावे उन सब निमित्तोंसे परे रहकर व बिलकुल मनको निश्चिन्त करके आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

श्रीशुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं कि वीतरागीको ही आत्मध्यानकी सिद्धि होती है—

रागादिपंकविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि ।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥ १७ ॥
स कोपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥ १८ ॥

भावार्थ—रागद्वेषादि कीचड़के हट जानेसे मुनिके निर्मल मन-रूपी जलमें सम्पूर्ण वस्तुका सर्वस्व प्रगट होता है अर्थात् आत्माका ध्यान प्रकाशमान होता है। वीतरागीको ही ऐसा कोई परमानंद प्राप्त होता है जिसके सामने तीन लोकका भी अचिंत्य ऐश्वर्य तृणके समान मालूम होता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

काम क्रोध विषाद मोह मदसे द्वेष प्रमादादिसे ।
जो मन निर्मल ध्यान बीच रत हो थिरता न होवे तिसे ॥
जैसे सुवरण अग्नि ताप वश हो काठिन्य तज देत है ।
इम लख ध्यानी काम आदि सबको अति दूरकर देत है ॥५३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्यानीमन मुक्तिके लिये ही ध्यान करते हैं—

व्यावृत्त्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं ।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम् ॥
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो ।
नोपायेन विना कृता हि विषयः सिद्धिं लभंते ध्रुवम् ।५४।

अन्वयार्थ—(निर्मुक्तभोगस्पृहः) जिस महात्माने भोगोंकी इच्छाको त्याग दिया है वही (दुर्वारं) इस कठिनतासे वशमें आने-योग्य (लोलं) लोलुपी या चंचल (मनोमर्कटम्) मनरूपी बन्दरको (इंद्रियगोचरोरुगहने) जो पांचों इंद्रियोंके भोगरूपी महान वनमें (चिरं) अनादिकालसे (चरिष्णुं) क्रीड़ा कररहा है (व्यावृत्य) वहांसे हटाकर (हृदयोदरे) हृदयके भीतर (स्थिरतरं कृत्वा) पूर्ण स्थिर करके (भवततेः मुक्तये) संसारके फैलावसे छूट जानेके लिये (ध्यानं ध्यायति) ध्यानका अभ्यास करता है। (हि) यह निश्चय है कि (उपायेन विना) उपायके विना (विषयः कृताः) जो रीतियें की जावें तो वे (ध्रुवम्) खातरीसे (सिद्धिं) सफलताको (न लभंते) नहीं पाती हैं।

भावार्थ—संसार आठ कर्मोंके बंधनसे ही चलरहा है। इस-लिये इन कर्मोंका नाश होना ही संसारका नाश है और मोक्षका

काम है। कर्मोका नाश वीतरागभावसे होता है क्योंकि उनका बन्धन रागद्वेषादि भावोंसे हुआ करता है। वीतरागभावोंकी प्राप्ति तब ही होती है जब आत्माका ध्यान किया जाता है। आत्माका ध्यान उसी समय होता है जब मनरूपी बन्दरको वैराग्यके खूंटेसे बांध दिया जावे। यह मन अनादिकालसे पांचो इंद्रियोंके भोगोंकी इच्छामें उलझा हुआ रहता है और महा चंचल तथा लोलुपी हो रहा है। इस मनको बारह भावनाके चिन्तवनसे इंद्रियोंकी तरफसे हटाकर स्थिर किया जाता है तबही ध्यान होसक्ता है। इसलिये ध्यानके अभ्यासकर्ताको उचित है कि सम्यग्ज्ञान व वैराग्यके द्वारा मनकी दशाको ठीक करे। पुरुषार्थके विना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सक्ती है। लौकिक कार्यके लिये जैसे दीर्घदर्शीपनेके साथ विचार करके परिश्रम करनेकी जरूरत है ऐसे ही पारमार्थिक कार्यके लिये विचारपूर्वक परिश्रम करनेकी जरूरत है। मनके मारनेसे ही कार्यकी सिद्धि हो सकती है।

सुभाषित रत्नसंदोहमें स्वयं अमितगति महाराज कहते हैं–

नो शक्यं यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्रांगणे वर्तमानं।
सर्वे नश्यन्ति दोषा भवभयजनका रोधतो यस्य पुंसाम्॥
जीवाजीवादितत्त्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये निवेश्य।
तत्त्वे चेतो विदध्याः स्ववशसुखप्रदं स्वं तदा त्वं प्रयासि॥४०८॥

भावार्थ–जो तीन लोकके बीचमें मारा मारा फिरता है उस मनका रोकना बड़ा कठिन है तथापि इसके रुक जानेसे मनुष्योंके सर्व ही संसारमें भयको देनेवाले दोष नष्ट होजाते हैं। इसलिये तुम मनको जीव अजीव आदि तत्त्वोंके प्रगट करनेमें निपुण ऐसे जैन

वचनमें लगाकर तत्वके विचारमें इसे जमादो तब तुम आत्मीक सुखको देनेवाले अपने आत्माके स्वभावको प्राप्त कर लोगे ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छद ।

जो इन्द्रिय वनगहन मध्य रमता चिरकाल लोलुपमहा ।
दुर्जय मन कपि थांभ आप वशकर कर ध्यान आतम महा ॥
इच्छा तजकर भोग होय निस्पृह भव जाल काटो महा ।
विन पुरुषार्थ प्रधान काज कोई नहिं सिद्ध होता महा ॥५४॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि योगीको एक आत्मतत्त्वका ही ध्यान करना चाहिये–

चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयो यस्य व्यपायेऽखिलाः ।
जायंते भुवनप्रकाशकुशला ध्वांतप्रतानोपमाः ॥
यद्विज्ञानमयप्रकाशविशदं यद्ध्यायते योगिभिः ।
तत्तत्वं परिचिंतनीयममलं देहस्थितं निश्चलम् ॥५५॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस तत्वके (व्यपाये) अभावमें (भुवन-प्रकाशकुशलाः) लोकको प्रकाश करनेमें कुशल ऐसे (अखिलाः) सर्व (चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयः) चंद्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे आदिक (ध्वांतप्रतानोपमाः) अंधेरेके समूहके समान (जायंते) होजाते हैं (यत् विज्ञानमयप्रकाशविशदं) जो ज्ञानमई प्रकाशको बहुत निर्मल रखनेवाला है व (यत् योगिभिः ध्यायते) जो योगियोंके द्वारा ध्याया जाता है (तत्) उस (अमलं) निर्मल (निश्चलं) व निश्चल (तत्वं) आत्मतत्वको (देहस्थितं) अपने ही शरीरमें विराजमान (परिचिंत-नीयम) ध्याना चाहिये ।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने आत्माकी तरफ ध्यान खिंचाया है। वह आत्मा जिसका ज्ञान हमको प्राप्त करना चाहिये और ज्ञान प्राप्त

करके जिसको हमें ध्याना चाहिये वह आतमराम कहीं दूर नहीं है आपही है अपने शरीरभरमें सम्पूर्णपने व्यापक या फैला हुआ है। जैसे घड़ेमें जल भरा होता है ऐसे ही अपने शरीररूप घटमें सर्व स्थानमें फैला हुआ है। वह पूर्ण ज्ञानमय है—उसका ज्ञान ऐसा निर्मल है कि उसमें सर्व ही जानने योग्य पदार्थ दर्पणके समान झलकते हैं। इस आत्माका जबतक सम्बन्ध शरीरसे रहता है तबतक ही हम अपनी आंखोंसे चंद्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे आदि पदार्थोंको देख सक्ते हैं। यद्यपि वे लोकमें प्रकाशमान हैं और जगतके बाहरी पदार्थोंको झलकाते हैं तथापि यदि हमारे भीतर आत्मतत्व न हो तो हम उनको देख नहीं सके तब तो वे हमारे लिये मानो अंधकारके समूह ही हैं। जिस आत्माके होते हुए हम बाहर भीतर सब कुछ देख सके हैं व जान सके हैं तथा यही वह आत्मतत्व है जिसका योगीगण ध्यान करते हैं। तीर्थंकर भी इसीका ही अनुभव करते हैं। वही आत्मतत्व हमारी देहमें है वह बिलकुल निर्मल है, कर्मोंके मध्य पड़ा है तौ भी स्वभावसे उनसे भिन्न है। यह ऐसा निश्चल है कि कभी भी अपने स्वभावको त्यागता नहीं है ऐसे ही आत्मतत्वका चिंतवन हरएक गृहस्थ या मुनिको करना उचित है। यहांपर आचार्यने बता दिया है कि जिस तत्वपर पहुंचना है व जिस तत्वका ध्यान करना है वह तत्व आपही है, वह तत्व बिलकुल हमको प्रगट है। यदि वह शरीरमें न होवे तो इंद्रियां कुछ जान नहीं सक्ती हैं। वह तत्व ज्ञानस्वरूप है सो भी अच्छी तरह प्रगट है। वह निर्मल जलके समान परम शांत, परम पवित्र व परम आनन्दमई है। इस तरह जो ज्ञानके चिह्नसे उसे पकड़ेगा

उसे अवश्य वह तत्व मिल जायगा। बड़े२ साधुजनोंको यही तत्व प्यारा है, हमें भी उसे ही ध्याना चाहिये। श्री पद्मनंद मुनि सद्बोध चन्द्रोदयमें कहते हैं—

यः कषायपवनैरचुंबितो बोधवह्निरमलोल्लसद्दशः ।
किं न मोहतिमिरं विखंडयन् भासते जगति चित्प्रदीपकः ॥१७॥

भावार्थ—जो क्रोधादि कषायोंकी हवासे स्पर्शित नहीं होता है, जो ज्ञानरूपी अग्निको धारनेवाला है, जो निर्मलपने उद्योतमान है ऐसा चैतन्यरूपी दीपक जगतमें प्रकाशमान है तौ क्या वह मोहरूपी अंधेरेको नहीं खंडन करेगा? वास्तवमें वह दीपक मैं आत्मा ही हूं। वही मुनि एकत्वाशीतिमें कहते हैं—

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोहमिति मे मतिः ॥ २७ ॥

भावार्थ—जो कुछ शरीरादिका संयोग मेरे साथ चला आरहा है वह सब मुझसे पर है—भिन्न है। जब मैं उनसे मोह त्याग देता हूं मैं मानो मुक्तरूप ही हूं ऐसी मेरी बुद्धि है।

इस तरहके आत्मतत्वको ध्याना परम सुखका कारण है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

शशि सूरजग्रह तारकादि ये सब लोक प्रकाशो रहें ।
पर आतमबिन तम समूह जैसे कुछ भी न कीमत लहें ॥
जो विज्ञानमई सुनिर्मल महा यतिजन जिसे ध्यावते ।
वह निश्चल है आत्मतत्त्व बुधजन निज देहमें पावते ॥५५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी मन मरण आनेवाला है इसको नहीं देखता हुआ अधर्ममें फंसा रहता है:—

भज्येतेव शरीरमंदिरमिदं मृत्युद्विपेन्द्रः क्षणा-
दित्युच्छ्वासमिषेण मानसबहिर्निर्गत्य निर्गत्य किं ॥
पश्यंस्त्वं न निरीक्षसेऽतिचकितं तस्यागतिं चेतनां ।
वै येनामरचेष्टितानि कुरुषे निर्धर्मकर्मोद्यमम् ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ-(मानस) हे मन ! (मृत्युद्विपेन्द्रः) मरणरूपी हाथी (एत्य) आकर (क्षणात्) क्षणभरमें (इदं शरीरमंदिरम्) इस शरीररूपी घरको (भज्येत) तोड़ डालेगा (इति) ऐसा जानकर (त्वं) तू (उच्छ्वासमिषेण) श्वासोच्छ्वासके बहाने (बहिः) बाहर (निर्गत्य निर्गत्य) आआकर (अतिचकितं) अति भयभीतपनेसे (पश्यन्) देखता हुआ (वै) बड़े खेदकी बात है (तस्य आगतिं) उस मरणके आनेकी (चेतनां) चेतनाको (न निरीक्षसे) नहीं देखता है अर्थात् मरण आनेवाला है ऐसी बुद्धि अपने भीतर नहीं जमाता है (येन) यही कारण है जिससे तू (अमरचेष्टितानि) अपनेको अजरअमर मानके व्यवहार करता हुआ (निर्धर्मकर्मोद्यमम्) धर्मरहित कर्मोंका उद्यम (कुरुषे) करता रहता है ।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने संसारी जीवके मनकी मूर्खताको बताया है कि यह मन मरणसे दिनरात डरता रहता है इसके डरके दृष्टान्तको आचार्यने अलंकार देकर बताया है-कि प्राणीके जो श्वांस चला करता है सो यह श्वांस नहीं है किन्तु मन बाहर आकर बार बार डरते हुए देखता है कि कहीं मरणरूपी हाथी आ तो नहीं गया । जैसे किसीको कोई कहदे कि तुझे मारनेको कोई शत्रु आनेवाला है तो वह उस शत्रुसे बचनेका उपाय तो न करे, बारबार घरके बाहर आकर देखा करे कि कहीं शत्रु आ तो नहीं

गया। ऐसी मूर्खता यह मन कररहा है कि बारवार शंका किया करता है कि कहीं मरण न आजावे परन्तु इस बातमें अपना मन नहीं जमाता है कि मरण तो एक दिन जरूर आवेगाही मुझको सावधान होजाना चाहिये और ऐसा उद्यम करना चाहिये जिससे मेरे आत्माका कल्याण हो, मैं मरकर दुर्गतिमें न जाऊं। यह ऐसी मूर्खता करता है कि फिर भी अपनेको अजरअमर समझता है और मन चाहा अधर्म कार्य करता रहता है, यही बड़े खेदकी बात है। प्रयोजन यह है कि हे भव्य जीव! मरणरूपी हाथी किस समय इस शरीररूपी घरको तोड़ डाले इसका कोई समय नियत नहीं है। वह जब अचानक आजाता है उस समय कुछ उपाय नहीं बन सक्ता। इसलिये मरणके आनेके पहले ही तुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिये और वह उत्तम कार्य एक आत्मध्यान है। उसकी तरफ पूर्ण लक्ष्य देना चाहिये, यह तात्पर्य है।

स्वामीअमितगति सुभापितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं भीतं जराव्याधत-
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदुःखतरुमत्संसारकांतारगम् ॥
कः शक्नोति शरीरिण त्रिभुवने पातुं नितान्तातुरं ।
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥ ३१७ ॥

भावार्थ—यह शरीरधारी प्राणी ऐसे भयानक संसाररूपी बनमें पड़ा हुआ है जहां तीव्र रोग व दुःसह दुःखमई वृक्ष भरे हैं व जहां बुढ़ापारूपी शिकारी है जिससे वह डरता रहता है व जहां मरणरूपी सिंह है और यह प्राणी उसके भयंकर मुखके बीचमें आगया है। अब इस महान् व्याकुल प्राणीको तीन भुवनमें ऐसा कौन है जो

बचा सकें ? यदि कोई है तो जन्मजरा मरणको क्षयकारी श्री जिनेन्द्रका धर्मरूपी अमृत है, इसके बिना कोई बचा नहीं सक्ता है। वास्तवमें वही मानव बुद्धिमान है जो इस मानव देहको अत्यंत दुर्लभ व छूटनेवाला मानकर इसको आत्म-धर्ममें लगाकर सफल करते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

क्षणमें नाशे घर शरीर तेरा है मृत्यु हाथी खड़ा ।
भयसे श्वासें बार बार लेके क्यों है तु बाहर खड़ा ॥
श्रद्धा नहिं करता कि होय मरना माने अमर मैं रहूं ।
रे मन ! मूरख पापकर्म उद्यम करता तुझे क्या कहूं ॥९६॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो परिग्रहवान हैं वे सदा आरम्भके विकल्प किया करते हैं और जैनधर्ममें प्रीति नहीं करते।

शिखरिणी वृत्तम् ।

करिष्यामीदं वा कृतमिदमिदं कृत्यमधुना ।
करोमीति व्यग्रं नयसि सकलं कालमफलम् ॥
सदा रागद्वेषप्रचयनपरं स्वार्थविमुखं ।
न जैने शुचितत्वे वचसि रमसे निर्वृतिकरे ॥९७॥

अन्वयार्थ-(इदं) यह (करिष्यामि) मैं करूँगा (वा) अथवा (इदं कृतं) यह मैंने किया था (अधुना इदं कृत्यं करोमि) या अब मैं यह काम करता हूं (इति) इसतरह (व्यग्रं) घबड़ाया हुआ (सदा) हमेशा (रागद्वेषप्रचयनपरं) रागद्वेषके करनेमें लगा हुआ (स्वार्थविमुखं) अपने आत्माके हितसे विमुख होता हुआ तू (सकलं कालं) अपने सम्पूर्ण जीवनके समयको (अफलं) निष्फल (नयसि) गमा रहा है परंतु (शुचितत्वे) पवित्र तत्वको बतानेवाले व (निर्वृ-

तिकरे) मोक्षको प्राप्त कराने वाले (जैने वचसि) जिन वचनमें (न रमसे) रमण नहीं करता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्य इस मूर्ख मनको समझाते हैं कि तू ऐसा शरीर, स्त्री, धन, पुत्र, कुटुम्ब आदिके मोहमें पड़ा हुआ है कि रात दिन तेरे यही विचार रहा करता है कि मैंने यह काम तो कर लिया है और यह काम मैं इस समय कर रहा हूं व ऐसा ऐसा काम मुझे भविष्यमें करना है। यह तेरी विचारोंकी श्रृखला तेरी जिन्दगीभर चलती रहती है। जैसे तू विचार करता है कि अब इतना धन कमा लिया है, अब वह धन कमा रहा हूं, अभी इतना धन कमाना है। एक पुत्रका विवाह कर चुका हूं दूसरेका विवाह करना है। एक पुत्रको व्यापारमें लगा चुका हूं दूसरेको व्यापारमें लगाना है। पुत्रके पुत्रका अर्थात् पोतेका मुँह देखना है। पोता होवे तो शीघ्र बड़ा करके उसका विवाह करके उसकी वधूको भी देखना है। उसने मेरा बड़ा बिगाड़ किया है उसे इसका बदला पहुंचाना है। मेरी स्त्री बहुत वस्त्राभूषण चाहती है इसके लिये गहना बनवाना हैं। आज अमुक व्यापारीका दिवाला निकल गया। रकम डूब गई क्या करूँ। उसपर किसी तरह मुकद्दमा चलाना है इस तरह करोड़ों कामोंको तू विचार करता है। सवेरेसे शाम होती है, शामसे सवेरा होता है, तू तो संसारी काम धंधोंकी ही चिंतामें फँसा रहता है। कभी उन कामोंकी डोरी नहीं टूटती। उधर मरण निकट आजाता है, तू बावला अपने आत्माके हितके लिये कुछ भी समय नहीं निकालता है—ममता मोहमें और रागद्वेषमें फंसा हुआ सारा जीवन बिताकर इस अमूल्य नरजन्मको खो देता है। परमोपकारी

जैनधर्ममें रुचि नहीं लगाता है न जिनवाणीको पढ़ता है जिससे सच्चे आत्मतत्त्वका ज्ञान होवे और इस मोक्षमार्गको प्राप्त कर सके। अतएव आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि गृहस्थके जंजालमें बावला न होवे और जिनवाणीकी शरण लेकर अपना सच्चा हित कर डाले।

वास्तवमें जो इंद्रियोंके विषयोंमें उलझ जाता है उसका जन्म यों ही चला जाता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें स्वामी अमितगतिजी कहते हैं–

एकैकमक्षविषयं भजताममीषां
सपद्यते यदि कृतान्तगृहातिथित्वम्।
पचाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्य–
मक्षार्थमित्यमलधीरधियस्त्यजन्ति ॥ ८८ ॥

भावार्थ–एक एक इंद्रियके वशमें रहनेवाले जीवोंको यदि यमराजके घरका अतिथि होना पड़ता है तब जो जीव पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें रत होता है उसके लिये क्या कहा जावे ऐसा जानकर निर्मल और धीर बुद्धि रखनेवाले पुरुष इंद्रिय विषयोंको छोड़ देते हैं।

मूलश्लोकानुसार शिखरिणी छन्द।

करूंगा यह कारज अर कर चुका कार्य यह मैं।
अभी यह करता हूं रहत नित प्रति मोह तन्मय ॥
गमावे सब जीवन विफल कर निज हित न देवे।
शिवंकर जिन वचमें ध्यान कुछ भी न देवे ॥ ५७ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि धर्म ही प्राणीका रक्षक है–

कुर्वाणोऽपि निरंतरामनुदिनं बाधां विरुद्धक्रियां।
धर्मारोपितमानसैर्न रुचिभिर्व्यापाद्यते कश्चन ॥

धर्मापोढधियः परस्परमिमे निघ्नंति निष्कारणम् ।
यत्तद्धर्ममपास्य नास्ति भुवने रक्षाकरं देहिनां ॥९८॥

अन्वयार्थ–(कश्चन) कोई मानव (अनुदिनं) प्रतिदिन (निरंतरां) बहुतसी (बाधां) बाधा कारक (विरुद्धक्रियां) विरुद्ध क्रियाको (कुर्वाणः अपि) करता रहता है तौभी (धर्मारोपितमानसैः रुचिभिः) धर्ममें मनको जमाए रखनेवाले रुचिवान प्राणियोंके द्वारा (न) नहीं (व्यापाद्यते) पीड़ित किया जाता है । (धर्मापोढधियः) धर्ममें जिनकी बुद्धि नहीं है ऐसे मानव (परस्परम्) परस्पर (निष्कारणम्) विना कारण (निघ्नंति) घात करते रहते हैं (यत् तत् धर्मम्) ऐसा धर्म है उसको (अपास्य) छोड़कर (भुवने) इस जगतमें (देहिनां) शरीर धारियोंका (रक्षाकरं) रक्षा करनेवाला और (नास्ति) नहीं है ।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने धर्मकी महिमा बताई है कि जिनके चित्तमें धर्मभाव है, जो दयालु हैं व क्षमावान हैं वे किसीको पीड़ा नहीं देते। यदि कोई उनको बाधा देता है व उनके विरुद्ध क्रिया करता है तौभी उसपर क्षमाभाव रखके उसको कष्ट नहीं देते । वीतरागी जैन साधुओंमें धर्मभाव पूर्ण रीतिसे भरा रहता है इसलिये वे किसीको सताते नहीं हैं कोई उपसर्ग करे तौभी क्रोध नहीं लाते हैं। यह महिमा उनके भीतर शांत भावरूपी धर्महीकी है परन्तु जिनके हृदयमें दया, क्षमा, शांति आदि धर्म नहीं होते हैं वे विना कारण ही एक दूसरेसे लड़ते झकड़ते रहते हैं व कष्ट देते रहते हैं व प्राणतक लेते रहते हैं । वास्तवमें तीनलोकमें जीवोंकी रक्षा करनेवाला एक धर्म ही है । धर्म जिसके मनमें है वह प्राणियोंका रक्षक है ।

धर्म जिसके मनमें नहीं वह प्राणियोंका हिंसक है। यदि कष्ट दूंगा तो इसको वैसा ही कष्ट होगा जैसा मेरेको होता है यह भाव जिनके दिलमें होता है वे ही धर्मात्मा हैं। धर्म जिसमें नहीं है वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। स्वामी अमितगति सुभाषित-रत्नसंदोहमें कहते हैं—

> हरतिजननदुःखं मुक्तिसौख्यं विधत्ते ।
> रचयति शुभबुद्धिं पापबुद्धिं धुनीते ॥
> अवतिसकलजन्तून् कर्मशत्रून्निहन्ति ।
> प्रशमयति मनोयस्तं बुधा धर्ममाहुः ॥ ७०८ ॥

भावार्थ—जो संसारके दुःखोंको हरता है, मुक्तिके सुखको देता है, सच्ची बुद्धि बनाता है, पापकी बुद्धिको मिटाता है, सर्व प्राणियोंकी रक्षा करता है, तन तथा मनको शांत रखता है उसे ही बुद्धिमानोंने धर्म कहा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

> जो करता दिनरात कार्य उल्टे बाधा करे सर्वदा ।
> जो धर्मी रुचिवान आर्द्रचित हो वाको न मारे कदा ॥
> आपसमें कारण विना हि हिंसक जो धर्म पावे नहीं ।
> प्राणीरक्षक धर्म विन जगतमें को और भावे नहीं ॥५८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस परिग्रहको एक दिन छोड़ना पड़ेगा उसको तू अपने आप ही क्यों नहीं छोड़ता है—

> नानारंभपरायणैर्नरवरैरावर्ज्य यस्त्यज्यते ।
> दुःप्राप्योऽपि परिग्रहस्तृणमिव प्राणप्रयाणे पुनः ॥
> आदावेव विमुंच दुःखजनकं तं त्वं त्रिधा दूरत—
> श्चेतो मस्करिमोदकव्यतिकरं हास्यास्पदं मा कृथाः ॥५९॥

अन्वयार्थ—(नानारम्भपरायणैः) तरह२ के आरम्भोंमें लीन (निरवैरः) बड़े२ मनुष्योंके द्वारा (आवर्ज्य) एकत्र करके (दुःप्राप्यः अपि) कठिनतासे प्राप्त करने योग्य ऐसा भी (यः परिग्रहः) जो परिग्रह (प्राणप्रयाणे) प्राणोंके वियोग होनेपर (तृणं इव) तिनकेके समान (त्यज्यते) छोड़ देना पड़ता है (पुनः) परन्तु (त्वं) तू (दुःखजनकं तं) दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले उस परिग्रहको (आदौ एव) पहले ही (दूरतः) दूरसे (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनोंसे (विमुंच) छोड़ दे (चेतः मस्करिमोदकव्यतिकरं) तू अपने चित्तको भिष्टामें पड़े हुए लाडूको उठाकर फिर फेंककर (हास्यास्पदं मा कृथाः) हंसीका स्थान मत बन।

भावार्थ—यहांपर आचार्य कहते हैं कि राज्य लक्ष्मी आदि परिग्रह बड़ी२ मिहनतोंसे एकत्र किये जाते हैं। ऐसी भी वस्तुएं संग्रह की जाती हैं जो हरएकको मिलना दुर्लभ हैं। परंतु करोड़ोंकी संपत्ति क्यों न हो व कैसी भी कठिनतासे क्यों न एकत्र की गई हो वह सब परिग्रह बिलकुल छोड़ देना पड़ता है जब मरणका समय आजाता है। जैसे हाथसे तिनका गिर पड़े ऐसे ही सब छूट जाता है। जब परिग्रह आत्माके साथ जानेवाला नहीं है तब ज्ञानवान प्राणीको उचित है कि पहले ही उसको मन वचन कायसे छोड़ दे अर्थात् इसके पहले कि वह परिग्रह स्वयं छूटे, ज्ञानीको स्वयं मोह त्यागकर छोड़ देना चाहिये। और यदि परिग्रह नहीं हो तो नया परिग्रह एकत्र करनेकी लालसा न करनी चाहिये। परिग्रहको ग्रहण कर फिर छोड़ना वास्तवमें हंसीका स्थान है। जैसे एक फकीरको किसीने बहुतसे लड्डू दिये, उसमेंसे एक लड्डू

विष्टामें गिर पड़ा, उस लोभीने उसे उठा लिया तब किसीने कहा कि ऐसे अशुद्ध लड्डूको तुमने क्यों उठाया ? तब वह कहने लगा कि मैंने उठा लिया है परंतु घर जाकर इसे छोड़ दूंगा। तब उसने बड़ी हंसी उड़ाई कि अरे जिसको फेंकना ही है उसको उठानेकी क्या जरूरत थी ? इसी दृष्टांतसे आचार्यने समझाया है कि यह परिग्रह त्यागने योग्य है, इसे ग्रहण करना बुद्धिमानी नहीं है—यह आत्मकार्यमें बाधक है। वास्तवमें चेतन अचेतन परिग्रहका मोह आत्माको करोड़ों संकल्प विकल्पोंमें पटक देनेवाला है। इससे जो निर्विकल्प समाधिको चाहते हैं और आत्मीक आनन्दके भोगनेके इच्छुक हैं उनको यह परिग्रह त्यागना ही श्रेयस्कर है।

श्री शुभचंद्र आचार्यने ज्ञानार्णवमें कहा है—

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः ।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः सङ्गैरभिद्रुतः ॥ १८ ॥

भावार्थ—यह मानव परिग्रहोंसे पीडित होता हुआ इंद्रियोंके विषयरूपी सर्पोंसे काटा जाता है, कामके बाणोंसे भेदा जाता है तथा स्त्रीरूपी शिकारीसे पकड़ लिया जाता है।

यः संगपंकानिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते ।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात् त्रिदशाचलम् ॥१९॥

भावार्थ—जो मूर्ख परिग्रहकी कीचड़में डूबा हुआ भी मोक्षके लिये चेष्टा करता है वह मानों फूलोंके बाणोंसे सुमेरु पर्वतको तोड़ना चाहता है।

अणुमात्रादपि ग्रथान्मोहग्रंथिर्दृढीभवेत् ।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ॥२०॥

भावार्थ–जरासे भी परिग्रहसे मोहकी गांठ दृढ़ होजाती है। इससे तृष्णाकी वृद्धि ऐसी होती है कि उसकी शांतिके लिये सर्व जगत भी समर्थ नहीं होता।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

नाना उद्यम बांध बांध दुष्कर संचय परिग्रह किया।
आया जब कहिं मरण बल नहिं चला तृणवत् सु त्यागबुधिया॥
दुखकारी तिहजान बुधजन तिसे पहले हि त्यागनकरी।
मूरख मलगति मोदकं तु गहके क्यों त्याग लज्जाहरी॥५६॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो मानव भाई, पुत्र, मित्रादिमें मोह करता है वह वृथा शोक करके कष्ट पाता है।

स्वाभिप्रायवशाद्विभिन्नगतयो ये भ्रातृपुत्रादयः।
तांस्त्वं मीलयितुं करोषि सततं चित्त प्रयासं वृथा॥
गच्छन्तः परिमाणवो दश दिशः कल्पान्तवातेरिताः।
शक्यंते न कदाचनापि पुरुषैरेकत्र कर्तुं ध्रुवम्॥ ६०॥

अन्वयार्थ–(ये भ्रातृपुत्रादयः) जो भाई व पुत्र आदि कुटुम्बी (स्वाभिप्रायवशात्) अपने अपने आशयरूप भावोंके द्वारा कर्म बांधकर (विभिन्नगतयः) भिन्न२ गतिको चले गए हैं (तान्) उनसे (मीलयितुं) मिलनेके लिये (चित्त) रे मन (त्वं) तू (सततं) निरन्तर (प्रयासं) प्रयत्न (वृथा) बेमतलब (करोषि) करता है (कल्पान्तवातेरिताः) कल्पकालकी पवनकी प्रेरणासे (परिमाणवः) जो परमाणु (दश दिशः) दस दिशाओंमें (गच्छन्तः) चले गए हैं उनको (एकत्र कर्तुं) इकट्ठा करना (ध्रुवं) निश्चयसे (कदाचनापि) कभी भी (पुरुषैः) पुरुषोंके द्वारा (न शक्यन्ते) नहीं शक्य हो सक्ता है।

भावार्थ—यहां आचार्य अज्ञानी जीवकी चेष्टा बताते हैं कि वह जीव स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई आदिकोंको अपना मान लेता है। जब उनमेंसे किसीका मरण होजाता है तब उनके मिलनेके लिये शोक किया करता है। वे कभी फिर उसी शरीरमें आकर मिल नहीं सक्ते; क्योंकि उनमेंसे हरएकका जीव अपने अपने शुभ या अशुभ भावोंके अनुसार जैसा आयु कर्म बांध चुका था उस ही गतिमें चला गया है। किसीने देव आयु बांधी थी तो वह देव होगया, किसीने नरक आयु बांधी थी वह नारकी होगया, किसीने पशु आयु बांधी थी सो पशु होगया, किसीने मनुष्य आयु बांधी थी सो फिर कोई अन्य प्रकारका मनुष्य होगया। उनके शरीरोंको उनके कुटुम्बी अपने सामने दग्ध ही कर चुके हैं। इसलिये अपने मरे हुए पुत्रादिका शोच करना कि वे किसी तरह मिल जावें, महान बावलापना है। यह ऐसा ही असंभव है जैसे उन परमाणुओंको फिर इकट्ठा करना असंभव है जो कल्पकालकी पवनकी प्रेरणासे दश दिशाओंमें उड़ गए हैं। किसी मानवकी शक्ति नहीं है कि उनको संचय कर सके। इसी तरह किसी मानवकी शक्ति नहीं है कि मरे हुओंको मिला सके व उनसे मिल सके। इससे हमें व्यर्थकी चिंता छोड़कर अपने निज कार्यमें तत्पर रहना चाहिये।

श्रीपद्मनंदिस्वामीने अनित्य पंचाशत्‌में बहुत अच्छा कहा है—

एकद्रुमे निशि वसंति यथा शकुंताः ।
प्रातः प्रयांति सहसा सकलासु दिक्षु ॥
स्थित्वाकुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा ।
लोकाः श्रयंति विदुषा खलु शोच्यते कः ॥१६॥

भावार्थ—जैसे एक वृक्षपर रात्रिको बसेरा करनेवाले पक्षी सवेरा होते ही सर्व दिशाओंमें यकायक भाग जाते हैं। इसी तरह प्राणी एक कुलमें आयुपर्यंत ठहरकर फिर मरकर अपने२ कर्मानुसार अन्य कुलोंमें आश्रय कर लेते हैं विद्वान किस किसका शोच करे ? शोच करना वृथा है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

आई पुत्र कलत्र मित्र आदी निज भाव अनुसार थे ।
गतिको बांधत जात भिन्न गतिको मिलते न को काल थे ॥
तिनका शोच वृथा न बुद्ध करते परमाणु मिलना कठिन ।
जो भागे दशदिशा पवन सेती कल्पांतके अशुभ दिन ॥६०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भोगोपभोग पदार्थोंकी इच्छा करना वृथा है क्योंकि उनसे तृप्ति नहीं होती है।

भोजं भोजमपाकृता हृदय ये भोगास्त्वयानेकधा ।
तांस्त्वं कांक्षसि किं पुनः पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिणः ॥
तृप्तिस्तेषु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदयं बिभ्रतः ।
देशे चित्रमरीचिसंचयचिते वल्ली कुतो जायते ॥६१॥

अन्वयार्थ—(हृदय) हे मन (त्वया) तेरे द्वारा (ये अनेकधा भोगाः) जो अनेक प्रकारके भोग (भोजं भोजं) भोग भोग करके (अपाकृता) छोड़े जाचुके हैं (अहो) अहो बड़े खेदकी बात है कि (त्वं) तू (पुनः पुनः) वारवार (तान्) उन हीको (कांक्षसि) इच्छा करता है वे भोग (तत्र अग्निनिक्षेपिणः) तेरी इच्छामें अग्नि डालनेके समान हैं अर्थात् तृष्णाको बढ़ानेवाले हैं (तृष्णोदयं बिभ्रतः तव) तृष्णाकी बुद्धिको रखनेवाला जो तू जो है सो तेरी (तृप्तिः) तृप्ति (तेषु) उन भोगोंके भीतर (कदाचित) कभी भी

(न अस्ति) नहीं होसक्ती है। जैसे (चित्रमरीचिसंचयचिते देशे) कड़ी धूपसे तप्तायमान स्थानमें या आगमें तपाए हुए स्थानमें (कुतः) किसतरह (वल्ली) वेल (जायते) उग सक्ती है ?

भावार्थ-यहांपर आचार्यने भोगासक्त मानवकी भोगोंकी कांछाको धिक्कारा है। इस जीवने अनंतकाल होगया चारों ही गतिके भीतर भ्रमण करते हुए अनेक शरीर धारण करके उनमें अनेक प्रकार इंद्रियोंके भोग भोगे और छोड़े। उनके अनंतकाल भोग लेनेसे भी जब एक भी इंद्रिय तृप्त नहीं हुई तब अब भोगोंके भोगनेसे इंद्रियां कैसे तृप्त होंगी ? वास्तवमें जैसे अग्निमें ईंधन डालनेसे अग्नि बढ़ती चली जाती है वैसे इंद्रियोंके भोगोंके भोगनेसे तृष्णाकी आग और बढती चली जाती है। तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परंतु उसको इन भोगोंसे कभी भी तृप्ति नहीं होसक्ती है जैसे अग्निसे या धूपसे तपे हुए जलते स्थानमें कोई भी वेलका वृक्ष नहीं उग सक्ता है। इसलिये बुद्धिमानोंको बारबार भोगोंको भोगकर छोड़े हुए भोगोंकी फिर इच्छा न करनी चाहिये। क्योंकि जो तृष्णारूपी रोग भोगोंके भोगनेरूप औषधि सेवनसे मिट जावे तब तो भोगको चाहना मिलाना व भोगना उचित है परंतु जब भोगोंके कारण तृष्णाका रोग और अधिक बढ़ जावे तब भोगोंकी दवाई मिथ्या है यह समझकर इस दवाका राग छोड़ देना चाहिये। वह सच्ची दवा ढूंढ़नी चाहिये जिससे तृष्णाका रोग मिट जावे। वह दवा एक शांत रसमय निज आत्माका ध्यान है जिससे स्वाधीन आनंद जितना मिलता जाता है उतना उतना ही विषयभोगोंका राग घटता जाता है। स्वाधीन सुखके विलाससे

ही विषयभोगकी वांछा मिट जाती है। अतएव इंद्रिय सुखकी आशा छोड़कर अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्तिका उद्यम करना चाहिये।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पः ।
प्राप्नोति पापरहितं विगतान्तरायम् ॥
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्य ।
किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः ॥ ९४ ॥

भावार्थ–जिस महात्माने इन्द्रियरूपी शत्रुके घमंडको मर्दन कर दिया है वह जैसा पाप रहित तथा अपने आत्मामें ही स्थित अनात्मज्ञानी जीवोंसे न अनुभव करनेयोग्य आत्मीक सुखको पाता है वैसे सुखको वह मनुष्य कदापि नहीं पासक्ता है जिसका चित्त भयानक विषयोंकी अग्निसे जलता रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद ।

रे मन ! तूने भोग भोग छोड़े इन्द्रिय विषय बहु तरह ।
क्यों तू चाहे बारबार उनको तृष्णाग्नि वृद्धि करै ॥
जो तृष्णातुर होय भोग करते तृप्ती न होवे कभी ।
अग्नीसे जलते कुखेत माहीं नहिं वेल उगती कभी ॥ ६१ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस जीवको पर पदार्थमें अहंकार छोड़कर आत्मध्यान करना योग्य है।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं ।
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः ॥६२॥

अन्वयार्थ–(आत्मन्) हे आत्मा (अहं शुरः) मैं वीर हूं

(अहं शुभधीः) मैं शुभ बुद्धिधारी हूं (अहं सर्वाधिकश्रीः) मैं सबसे अधिक लक्ष्मीवान हूं (अहं मान्यः) मैं माननीय हूं (अहं गुणवान्) मैं गुणवान हूं (अहं विभुः) मैं समर्थवान हूं (अहं च पुंसाम् अग्रणीः) तथा मैं पुरुषोंमें मुखिया हूं (इति) इस तरहकी (दुष्कृतकरीं) पापको बांधनेवाली (कल्पनाम्) कल्पनाको व मान्यताको (सर्वथा) सब तरहसे (अपहाय) दूर करके (त्वं) तू (शश्वत्) निरंतर (तत् अमलं आत्मतत्त्वं) उस निर्मल आत्मतत्त्वको (ध्याय) ध्यान कर (यतः) जिससे (नैःश्रेयसी श्रीः) मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने बताया है कि आत्मध्यानके लिये आत्माके यथार्थ ज्ञान होनेकी आवश्यक्ता है। संसारी लोग शरीर, धन, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा, बल, बुद्धि आदि पाकर ऐसा अहंकार कर लेते हैं कि मैं सुन्दर हूं, मैं धनवान हूं, मैं बहुकुटुम्बी हूं, मैं प्रतिष्ठावान हूं, मैं बलवान हूं, मैं बुद्धिमान हूं। यह उनका मानना बिलकुल मिथ्या है क्योंकि एक दिन वह आएगा जिस दिन ये सब परपदार्थ व परभाव जो कर्मोंके निमित्तसे हुए हैं छूट जांयगे और यह जीव अपने बांधे पुण्य पापको लेकर चला जायगा। ज्ञानी जीव अपना आत्मपना अपने आत्मामें ही रखते हैं वे निश्चय नयके द्वारा अपने आत्माके असली स्वभावपर निश्चय रखते हैं कि यह आत्मा सर्व रागादि विभावोंसे रहित है। सर्व कर्मके बंधनोंसे रहित है। सर्व प्रकारके शरीरोंसे रहित है। आत्माका संबंध किसी चेतन व अचेतन पदार्थसे नहीं है। ये सब शरीरसे संबंध रखते हैं जो मात्र इस आत्माका क्षणिक घर है इसलिये उन ज्ञानी जीवोंकी अहंबुद्धि अपने ही शुद्ध स्वरूप पर रहती है। व्यवहारमें काम

करते हुए गृहस्थ ज्ञानी चाहे यह कह दें कि मैं राजा हूं, वैद्य हूं, शूर हूं, चतुर हूं, गुणवान हूं, समर्थ हूं परंतु वह अपने भीतर जानते हैं कि यह मुझे व्यवहारके चलानेके लिये व्यवहार नयसे ऐसा कहना पड़ता है परंतु मैं इन स्वरूप असलमें नहीं हूं। मैं तो वास्तवमें सिद्ध भगवानके समान ज्ञाता दृष्टा आनंदमई पदार्थ हूं। ऐसा श्रद्धान रखता हुआ ज्ञानी जीव सर्व ही व्यवहारीक कल्पना जालको जो पापबंध कारक हैं छोड़कर एक अपने आत्माको ही निश्चल मन करके ध्याता है। आत्माके ध्यानसे ही वीतरागताकी अग्नि जलती है जो कर्मोंके इंधनको जला देती है। और आत्माको सुवर्णके समान शुद्ध करती चली जाती है। इसलिये ज्ञानीको आत्मध्यान ही करना योग्य है जिससे मुक्तिकी लक्ष्मी स्वयं आकर मिल जावे और संसारके चक्रकी फिरन मिट जावे।

एकत्वाशीतिमें श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः ।
यथा कल्पनया येतद्धीनमानन्दमंदिरम् ॥ ५२ ॥

भावार्थ—"जो कोई शुद्ध चैतन्यमई पदार्थ है वही मैं हूं इसमें कोई संशय नहीं है।" यह वचनरूप व विचाररूप कल्पना भी जिसमें नहीं है ऐसा मैं एक आनन्दका घर हूं।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित् ।
संबंधोपि न केनापि दृढ पक्षो ममेदृशः ॥ ५४ ॥

भावार्थ—मैं एक चैतन्यमई हूं, और कुछ अन्यरूप कभी नहीं होता हूं। मेरा किसी भी पदार्थसे कोई संबंध नहीं है यह मेरा पक्ष परम मजबूत ऐसा ही है।

इस तरह जो दृढ़तासे आत्मज्ञानी हैं वे ही आत्मध्यान करनेको समर्थ होसक्ते हैं—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

मैं हूं शूर सुबुद्धि चातुर महा धनवान सबसे बड़ा ।
मैं गुणवान समर्थ मान्य जगमें मैं लोकमें हूं बड़ा ॥
हे आत्मन् ! यह कल्पना दुखकरी तू सर्वथा दूरकर ।
नित निज आतमतत्त्व ध्याय निर्मल श्री मोक्ष आवे सत्वर ॥६२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि क्रोधादि कषायोंके त्याग विना मोक्ष होना कठिन है ।

मालिनी वृत्तम् ।

धृतविविधकषायग्रंथलिंगव्यवस्थम् ।
यदि यतिनिकुरुम्बं जायते कर्मरिक्तम् ॥
भवति ननु तदानीं सिंहपोताविदार्य—
शशकनलकरंध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम् ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (धृतविविधकषायग्रंथलिंगव्यवस्थम्) नाना प्रकार क्रोध मानादि कषायोंको, परिग्रहको तथा भेषकी व्यवस्थाको पकड़कर रहनेवाले (यतिनिकुरुम्बं) साधुओंका समूह (कर्मरिक्तम्) कर्मोंसे खाली (जायते) होजावे अर्थात् मुक्त होजावे तो (ननु) मैं ऐसा मानता हूं कि (तदानीं) तब तो (सिंहपोताविदार्य शशकनलकरंध्रे) सिंहके बच्चेके द्वारा विदारण करनेको अशक्य खरगोशकी हड्डीके महीन छेदमें (हस्तियूथं) हाथियोंका समुदाय (प्रविष्टम् भवति) प्रवेश कर जावे ।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि जो यथाजात मुनि भेष, परिग्रह रहित पना व कषायोंकी उपशमताको ध्यानमें न

लेकर तथा मनमानी परिग्रह व मनमाने तरह २ के भेषोंको रखलें तथा क्रोध मान माया लोभादि कषायोंको भी न छोड़ें और यह मान लें कि हम मुनि हैं, हमतो जरूर कर्मोंसे छूटकर मुक्त होजावेंगे तो उनका यह मानना एक असंभव बातको सम्भव करनेकी इच्छा करना है। जैसे यह असंभव है कि खरगोशकी हड्डीके भीतर ऐसा महीन कोई छेद हो जिसको सिंहका बच्चा भी नहीं फाड़ सके उस छेदके भीतर कोई मानले कि हाथियोंके समूह घुसे चले जावेंगे तो यह मानना बिलकुल असंभव है उसी तरह यह मानना असंभव है कि अंतरंग व बहिरंगको परिग्रहको त्यागे विना कोई मुक्ति होजायगा। परिग्रह और क्रोधादि कषाय ही तो संसारके बढ़ानेवाले हैं बंधको नित्यप्रति करानेवाले हैं उनके रहते हुए मानना कि मैं मुक्त होजाऊंगा बिलकुल उन्मत्त काभाव है। प्रयोजन कहनेका यह है कि यदि मुक्तिके परमानंदको भोगना चाहते हो तो सर्व परिग्रहको व कषायादि भावोंको त्यागो। पूर्ण साम्यभाव रूपी चारित्रका आश्रय लो। तब ही वीतरागता झलकेगी। यही परिणतिकर्मोंको निर्जरा करानेवाली है तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है।

परिग्रह मोक्षमार्गमें बाधक है ऐसा श्री शुभचंद्र आचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः॥ २६॥

भावार्थ—यदि कदाचित् सूर्य तो अपना तेज छोड़ दें और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे तौ भी अंतरंग बहिरंग परिग्रह सहित मुनि कभी जितेन्द्रिय नहीं होसक्ता है।

न स्यात् ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेपि निश्चलं ।
मुनेः परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जिस मुनिका मन परिग्रह रूपी पिशाचसे अनेक तरहसे पीड़ित है उसका चित ध्यान करते समय स्वप्नमें भी निश्चल नहीं रह सक्ता है ।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

धर विविध कषाये ग्रंथ कर भेष नाना ।
यदि यति गण चाहें कर्मसे छूट जाना ॥
शशक हाड़ छिद्रं शिशु सिंह नहिं छेद पावे ।
किम हस्तो यूथं वामें प्रवेश पावे ॥ ६३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो स्त्रियोंके सुखको सुख जानते हैं उनकी समझ ठीक नहीं है ।

कष्टं वंचनकारिणीष्वपि सदा नारीषु तृष्णापराः ।
शर्माशां न कदाचनापि कुधियो मर्त्या विपर्याशया ॥
मुंचंते मृगतृष्णिकास्विव मृगाः पानीयकांक्षां यतो ।
धिक्तं मोहमनर्थदानकुशलं पुंसामवार्योदयम् ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(कष्टं) यह बड़े दुःखकी बात है कि (विपर्याशयाः) विरुद्ध अभिप्राय रखनेवाले मिथ्यादृष्टि (कुधियः) और मिथ्यात्व बुद्धिधारी (मर्त्याः) मनुष्य (वंचनकारिणीषु अपि नारीषु मानवके मनको फंसाने वाली स्त्रियोंमें भी (सदा तृष्णापराः) सदा तृष्णाको रखते हुए (कदाचनापि) कभी भी (शर्माशां) सुखकी आशाको (न मुंचंते) नहीं छोड़ते हैं (मृगाः मृगतृष्णिकासु पानीय-कांक्षां इव) जैसे हिरण मृगजलमें अर्थात् पानी केसे चमकने वाले रेतमें पानीकी इच्छाको कभी नहीं छोड़ते हैं (यतः) इसीलिये यह

कहना पड़ता है कि (पुंसाम्) जीवोंको (अनर्थदानकुशलं) संकटोंके देनेमें कुशल (अवार्योदयम्) व जिसके प्रभावको दूर करना कठिन है (तं मोहं) ऐसे मोहको (धिक्) धिक्कार हो।

भावार्थ–यहां आचार्यने बताया है कि स्त्रियोंकी तरफका मोह ऐसा भुलानेवाला है कि यह मोहित प्राणी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानसे वासित हो वार वार स्त्रियोंके फँदमें फँसता है और बारबार दुःख उठाता है अपनी तृष्णाको बुझानेके स्थानमें अधिक बढ़ा लेता है। फिर भी स्त्रियोंके भीतर सुखकी वांछासे मोह करता है। दुःख सह करके भी दुःखके कारणको बारबार ग्रहण करता है इस मोही प्राणीका हाल ठीक उस हिरणके समान है जो रेतीके जंगलमें प्यासा होकर पानीको न पाता हुआ दूरसे चमकती हुई रेतको पानीके भ्रममें फँसकर पीनेको जाता है। वहां पानी न पाकर प्यासको अधिक बढ़ा लेता है फिर भी नहीं समझता है बारबार रेतीमें जा जाकर व कष्ट उठा उठाकर आकुलित होता है। आचार्य कहते हैं कि इस मोहके नशेको धिक्कार हो जिसके कारणसे यह प्राणी व्यर्थ महान कष्ट पाता है व जिस मोहको दूर करना भी बड़ा कठिन है। तात्पर्य यह है कि हे मन ! तू सावधान रह किसी भी तरह स्त्रियोंके मोहमें न फँस नहीं तो महान आपत्तियोंमें फँस जायगा और निरन्तर तृष्णावान रहकर व्याकुल रहेगा। आत्मीक सुखका प्रेमी होना योग्य है जो स्वाधीन सुख है, पराधीन सुखमें लिप्त होकर संसारमें कष्ट पाना उचित नहीं है। स्त्री विषयका सुख सदा प्राणीको कष्टमें पटकनेवाला है। जैसा सुभाषितरत्नसंदोहमें श्रीअमितगति आचार्य कहते हैं–

एकभवे रिपुपन्नगदुःखं जन्मशतेषु मनोभवदुःखम् ।
चारुधियेति विचिन्त्य महान्तः कामरिपुं क्षणतः क्षपयंति ॥५९४॥
संयमधर्मविबद्धशरीराः साधुभटाः शरवैरिणमुग्रम् ।
शीलतपःशितशस्त्रनिपातैर्दर्शनबोधवलाद्विधुनन्ति । ५९५॥

भावार्थ–शत्रु या सर्प एक जन्ममें दुःख देते हैं। परन्तु कामदेवके द्वारा सैकड़ों जन्मोंमें दुःख प्राप्त होता है इसलिये महान पुरुष बुद्धि द्वारा विचार करके इस कामरूपी शत्रुको क्षणमें नाश कर देते हैं। जो वीर साधु संयम और धर्मके पालनेमें अपने शरीरको लगानेवाले हैं वे शील व तपरूपी तीक्ष्ण बाणोंको मारकर अपने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे इस भयानक कामरूपी वैरीका संहार कर डालते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

मिथ्याती अज्ञान भावधारी नारीनमें कर रती ।
पुन पुन लह भव कष्ट आशासुखको तजता नहीं दुर्मती ॥
जिम मृगतृष्णा बीच चाह जलकी तजतो नहीं मृग कभी ।
धिक् धिक् प्राणी कष्टकार मोहं जीता न जाता कभी ॥६४॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि भव्य जीवको उचित है कि आत्माके वैरी जो विषय कषाय हैं उनको नाश करें।

पापानोकहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे ।
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा ॥
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाशेषतो ।
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनहत्वा स्फुटं ॥६५॥

अन्वयार्थ–(पापानोकहसंकुले) हिंसादि पापरूपी वृक्षोंसे गाढ़ भरे हुए तथा (दुःखादिभिः दुर्गमे) दुःख शोक आदि कष्टोंसे

कठिनतासे बचने योग्य ऐसे (भवबने) संसाररूपी वनमें (यैः) कषायविषयैः) जिन इंद्रियोंके विषय और क्रोधादि कषायोंके द्वारा (त्वं अज्ञानवशः) तू अज्ञानके फंदमें पड़ा हुआ (अनेकधा) अनेक तरहसे (पीड़ितः) दुःखी किया गया है (रे) रे चतुर पुरुष तू (अधुना) अबनो (पूतं) पवित्र (ज्ञानं) ज्ञानको (उपेत्य) पाकर (तान्) इन विषय कषायोंको (अशेषतः) सम्पूर्णपने (विध्वंसय) नाश कर। (स्फुटं) यह बात साफ है कि (विद्वांसः) विद्वान पुरुष (समये) अवसर पाकर (शत्रून्) शत्रुओंको (अहत्त्वा) विना मारे (न परित्यजंति) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि इस संसार वनमें कषाय और विषय बड़े भारी लुटेरे हैं। अज्ञानी प्राणी इनके मोहमें फँसकर वनमें भ्रमता फिरता है हिंसादि क्रूर कर्मोंको करता है फिर उन पापोंके फलसे अनेक प्रकारके दुःखोंको उठाता है। इनके फँदेसे बचना चाहिये। उपाय यह है कि इन शत्रुओंको इसने अज्ञानसे मित्र मान लिया है सो अब यह उस अज्ञानको छोड़े और यह ठीक २ समझे कि ये मित्र नहीं हैं किन्तु बड़े प्रबल शत्रु हैं। इनके मोहमें पड़कर मैं दिनरात अपनी ज्ञानानन्दमई संपदाको लुटा रहा हूं। जिस समय यह पवित्र ज्ञान हो जायगा कि मैं मोक्ष महलका रहनेवाला त्रिलोकज्ञ, त्रिकालज्ञ, अविनाशी, परम वीतरागी, स्वाधीन आनंदका भोगी परमात्मा हूं मेरा और इन पौद्गलिक रागादि भावोंका क्या सम्बन्ध है। ये कलुषता लिये हुए हैं मैं शान्त रूप हूं—ये दुःखदायी हैं मैं सुखरूप हूं—ये जड़ हैं व ज्ञानके निरोधक हैं मैं चेतन हूं—ये अनित्य हैं मैं अविनाशी हूं—ये आकु-

कर्ताकारी हैं मैं आकुलता रहित हूं। जिस समय यह भेदविज्ञान उत्पन्न होगा और यह सम्यक्दृष्टि होकर अपने आत्मसम्पदाको देखता हुआ वहांसे ज्ञान वैराग्य शस्त्रोंको उठावेगा और अपने आत्मानुभव रूपी वीर्यको सम्हारेगा तो यह इन शत्रुओंको अवश्य भगा देगा। आचार्य कहते हैं कि मनुष्य जन्म, उत्तम बुद्धि, जिन धर्मका समागम आदि सामग्री बहुत दुर्लभ हैं इन सबको पाकर यही अवसर है जो इन अनादि कालीन शत्रुओंका संहार किया जावे यदि इस अवसरको चूका जायगा तो फिर इनके नाशका अवसर मिलना कठिन होजायगा। बुद्धिमानोंका कर्तव्य यही है कि जब मौका आजाय और शत्रु अपने वशमें आजावे तब उसको बिना मारे या बिना अधिकारमें किये हुए न जाने दें। नहीं तो शत्रुसे सदा ही कष्ट मिलता रहेगा। इसलिये यही उचित है कि भेदविज्ञानके द्वारा आत्मध्यानका अभ्यास करके विषयकषायोंको जीता जावे।

स्वामी अमितगतिजी सुभाषित रत्नसंदोहमें कहते हैं—

यदि कथमपि नश्येद् भोगलेशेन नृत्वं ।
पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखतो देहिनां स्यात् ॥
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं ।
यदि भवमृतिमुक्ते मुक्तिसौख्येऽस्ति वांछा ॥ ११ ॥

भावार्थ—यदि किसी भी तरह इस मनुष्य जन्मको अल्प भोगोंमें फंसकर नाश कर डाला जायगा तो फिर प्राणियोंको बड़े कष्टसे इस मनुष्य जन्मका लाभ होगा इसलिये इस अपूर्व अवसरको पाकर इंद्रियोंके विषयोंकी आशाको छोड़कर धर्म कार्योंमें यतन कर यदि तेरी यह इच्छा है कि तू जन्ममरणसे रहित मुक्तिके सुखको पाले।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

हिंसादिक तरुधार कष्टकारी भववन महा दुर्गमं ।
इन्द्रिय विषय कषाय दुःख देते तू मूर्ख सहतापरं ॥
अब तो निर्मल आत्मज्ञान लहिके इन सर्वका नाशकर।
अवसर या निज शत्रु मार देते छोडे नहीं ज्ञानधर ॥६५॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जितना परिश्रम यह संसारी प्राणी धनादिके लिये करता है उतना यदि मोक्षके लिये करें तो अनन्त सुखको पावे ।

मालिनी वृत्तम् ।

असिमषिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्योगैः ।
तनुधनसुतहेतोः कर्म यादृक्करोषि ॥
सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से ।
सुखममलमनंतं किं तदा नाश्नुषेऽलम् ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ–(असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः) शास्त्र-कर्म, लेखन कर्म, कृषिकर्म, विद्याकला, सुदर्शन कर्म, व्यापार कर्म व शिल्प इन छः प्रकार आजीविकाके साधनोंके द्वारा (तनुधनसुतहेतोः) शरीर धन व पुत्रके लाभके लिये (यादृक् कर्म) जिस तरहका परिश्रम (करोषि) तू करता है (यदि) यदि (संयमार्थं) संयमके लिये (सकृदपि) एक दफे भी (तादृक्) वैसा परिश्रम (विधत्से) करे (तदा) तो (किं) क्या (अमलं) निर्दोष (अनंतसुखं) अनंत सुखको (न अश्नुषे) नहीं भोग सके ? (अलं) अवश्य तू भोग सकेगा ।

भावार्थ–आचार्य कहते हैं कि गृहस्थजन इस शरीरमें मोही होकर इस शरीरकी रक्षा व धन व संतानकी प्राप्तिके लिये दिनरात

उद्यम किया करते हैं कोई शस्त्रविद्या द्वारा सिपाही बनकर कोई लिखनेके कामसे, कोई किसानीको, कोई कारीगरीको कोई व्यापारको, कोई कला चतुराईको ऐसे नानाप्रकार द्रव्यकी प्राप्तिके उपायोंको करते हुए आकुल व्याकुल रहते हैं। द्रव्यके लिये देश परदेश जाकर बहुत कष्ट उठाते हैं। तौभी उससे क्षणिक सुख प्राप्त होता है जिससे प्राणीको सन्तोष नहीं होता। तथा संसारका भ्रमण बढ़ता जाता है। इसलिये जो बुद्धिमान अविनाशी आत्मीक सुख प्राप्त करना चाहें उनको उचित है कि जितना परिश्रम वे लौकिक उन्नतिके लिये करते हैं उतनी मिहनत वे अनन्त सुखके लिये मोक्षमार्गपर चलनेके लिये व आत्मध्यानके लिये करें तो अवश्य उनको ऐसी तृप्ति प्राप्त हो कि वे फिर कभी भी संसारमें दुःखी न हों। भवसागरसे पारही होजावे। इसलिये संसारके पदार्थोंको नाशवंत समझकर उनसे मोह न करना चाहिये।

सुभाषित रत्नसंदोहमें अमितगति महाराज कहते हैं—

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता ।
सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतयः ॥
मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वमविना–
महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमनाः ॥३२९॥

भावार्थ—सर्व प्राणियोंके ये रूप, स्थान, स्वजन, पुत्र, सामान, स्त्री, कन्या, लक्ष्मी, कीर्ति, चमक, रति, बुद्धि, प्रीति, धैर्य आदि सब ही मदमें अन्ध स्त्रीके नेत्रके समान चंचल हैं तब भी यह बड़े कष्टकी बात है कि यह मानव इन इंद्रियोंके विषयोंके सेवनेका मन किया करता है।

अर्थात् स्वयं चंचल व अनिष्ट पदार्थोंमें लुभानेसे दुःख ही प्राप्त होगा ।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

असि मसि कृषि विद्या शिल्प वाणिज्य करके ।
वपु धन सुत अर्थे श्रम करे मोह करके ॥
असश्रम इक बारं संयमार्थं करै तू ।
शुचि सौख्य अनंतं भोग कर ही रहे तू ॥ ६६ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं जो संयमका साधन करते हैं वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं—

सुखजननपटूनां पावनानां गुणानाम् ।
भवति सपदि कर्ता सर्वलोकोपरिस्थः ॥
त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्येह पुंसः ।
स्वयमवनिरधस्ताज्जायते नाखिला किं ॥६७॥

अन्वयार्थ–जो संयम पालन करता है वह (सपदि) शीघ्र (सर्वलोकोपरिस्थः) सर्व लोकके ऊपर सिद्ध क्षेत्रमें विराजमान होता हुआ (सुखजननपटूनां) आत्मीक आनन्दको पैदा करनेमें कुशल ऐसे (पावनानां गुणानां) पवित्र गुणोंका (कर्ता) करनेवाला अर्थात् अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुणोंमें परिणमन करनेवाला (भवति) रहता है। (इह) इस जगतमें (त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्य पुंसः) सुमेरु पर्वतके मस्तकपर बैठे हुए पुरुषके लिये (किं) क्या (अखिला अवनिः) यह सकल पृथ्वी (स्वयं) अपने आप ही (अधस्तात्) नीची (न जायते) नहीं होजाती है ? अर्थात् अवश्य होजाती है ।

भावार्थ–यहां आचार्यने दिखलाया है जो मुनि संयमका भले-

प्रकार अभ्यास करते हैं वे शुक्लध्यानके प्रतापसे सर्व कर्मबंधनोंको नाशकर व शरीरसे रहित होकर मात्र एक अपने आत्माकी सत्ताको स्थिर रखते हुए स्वभावसे ऊपर जाकर तीन लोकके ऊपर सिद्ध-क्षेत्रमें अनंतकालके लिये ठहर जाते हैं। वहांपर सर्व आत्माके गुण पवित्र होजाते हैं और सर्व गुण अपने स्वभावमें सदृश परि-णमन किया करते हैं। वहां न कोई ज्ञानमें बाधा होती है न वीतरागतामें बाधा होती है न वीर्यमें बाधा होती है। इसलिये वह आत्मा परम स्वतंत्रतासे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिको भोग करता हुआ अपने आनन्दमें तृप्त रहता है तथा त्रिलोक पूज्य होजाता है। तीन लोकके प्राणी उसकी पूजा करते हैं उसीको परमात्मा, परब्रह्म व परमेश्वर मानते हैं। यहांपर आचार्यने दृष्टान्त दिया है कि जो पुरुष परिश्रम करके सुमेरु पर्वतकी चोटीपर चढ़ जाता है वह स्वयं ही सर्व जगतके प्राणियोंसे ऊंचा होजाता है। उस पुरुषके लिये सारी पृथ्वी नीचे होजाती है। यहां यह भी भाव है कि जैसे उद्यमी पुरुष सुमेरु पर्वतपर चढ़नेसे सर्वोच्च होजाता है इसी तरह जो मोक्षमार्गपर चढ़ता चला जाता है और गुणस्थानोंके क्रमसे उन्नति करता जाता है वह स्वयं ही अपने गुणोंकी वृद्धिके कारण औरोंसे ऊँचा होता जाता है। इसी तरह जब वह चढ़ते २ मुक्त होजाता है तब वह परमात्मा होकर लोकाग्रमें विराजमान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि क्षणिक संसारकी संपदाके लिये अपना नर जन्म न खो देवें किंतु इस देहमें संयम पालनके लिये खूब परिश्रम करे तौ यह श्रम ऐसा सफल होगा कि इसे परमात्मा बना देगा और अधिक क्या चाहिये?

श्री पद्मनंदि मुनि यतिभावनाष्टकमें कहते हैं—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुध्वा श्रुतं पुण्यतो ।
वैराग्यं च करोति यः शुचितपो लोके स एकः कृती ॥
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते ।
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः ॥ ५ ॥

भावार्थ–पुण्यके उदयसे पवित्र कुलमें जन्म पाकर व उत्तम शरीरका लाभकर जो कोई शास्त्रको समझकर व वैराग्यको पाकर पवित्र तप करता है वही इस लोकमें एक कृतार्थ पुरुष है यदि वह तपस्वी होकर मदको छोड़कर ध्यानरूपी अमृतका पान करता रहे तो मानो उसने सुवर्णमई महलके ऊपर मणिमई कलश ही चढ़ा दिया है। अर्थात् आत्मध्यानी ही सच्चे तपस्वी हैं और वे ही कर्मोंको काटकर मोक्षके अधिकारी होते हैं।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

जो संयम पाले लोकके अग्र जावे ।
सुखकृत शुचि गुणका, परिणमन नित्य पावे ॥
जो जन श्रम करके मेरु ऊपर सिधारे ।
सब ही पृथ्वीको आप हो निम्न डारे ॥ ६७ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस संसारचक्रमें सच्चा सुख नहीं मिल सक्ता ।

मालिनी वृत्तम् ।

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिंदोः ।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जंगमत्वम् ॥
न पुनरिह कदाचिद्घोरसंसारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म पुंसा ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ–यदि (दिनकरकरजाले) सूर्यकी किरण समूहमें कदाचित् (शैत्यम्) ठंडकपना होजावे तथा (इंदोः) चन्द्रमाके (उष्णत्वं) गर्मी होजावे व (जातु) कदाचित् (सुरशिखरिणि) सुमेरुपर्वतमें (जंगमत्वम्) जगमपना या हलन चलनपना (प्राप्यते) प्राप्त होजावे तो होजावो (पुनः) परन्तु (कदाचित्) कभी भी (असुखनिधाने) दुःखोंकी खान (इह घोर संसारचक्रे) इस भयानक संसारके चक्रमें (भ्राम्यता) भ्रमण करते हुए (पुंसा) पुरुषको (स्फुटम्) प्रगटपने (शर्म) सुख (न) नहीं प्राप्त होसक्ता है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने दिखाया है कि मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा आत्मज्ञान रहित ही जीव चारों गति मई संसारके चक्रमें नित्य भ्रमण किया करता है। अज्ञानीको संसार ही प्यारा है। वह संसारके भोगोंका ही लोलुपी होता है। इसलिये वह गाढ़े कर्मोको बांधकर कभी दुःख कभी कुछ सांसारिक सुख उठाया करता है। उसको स्वप्नमें भी आत्मीक सच्चे सुखका लाभ नहीं होता है। आचार्यने यहांतक कह दिया है कि असम्भव बातें यदि होजावें अर्थात् सूर्यकी किरणें गरम होती हैं वे ठंडी होजावें व चन्द्रमामें ठण्डक होती है सो गर्मी मिलने लगे तथा सुमेरुपर्वत सदा स्थिर रहता है सो कदाचित् चलने लग जावे परन्तु मिथ्यादृष्टी जीवको कभी भी आत्म सुख नहीं मिल सक्ता है। इसलिये हमें उचित है कि मिथ्यात्वरूपी विषको उगलनेका उद्यम करें और सम्यग्दर्शनको प्राप्त करें। भेद विज्ञानको हासिल करें व आत्माके विचार करनेवाले होजावें इसी ही उपायसे मुक्तिके अनन्त सुखका लाभ होता है। श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशतिमें कहते हैं—

दु:खव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे ।
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यंति सर्वेगिनः ॥
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो ।
यात्यानंदकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं पुरं ॥१०॥

भावार्थ—इन दुःखों रूपी हाथियोंसे भरे हुए व हिंसादि पापोंके वृक्षोंको रखनेवाले तथा खोटी गतिरूपी भीलोंको पल्लियोंके खोटे मार्गमें नित्य पटकनेवाले संसार वनमें सर्व ही प्राणी भटका करते हैं। इस वनके बीचमें जो चतुर पुरुष सुगुरुके दिखाए हुए मार्गमें चलना शुरू कर देता है वह परमानन्द माई उत्कृष्ट व स्थिर एक निर्वाण रूपी नगरमें पहुंच जाता है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

सूर्यकिरण ठंढी उष्ण हो चंद्र बिम्बं ।
यदि सुरगिरि थिर भी हो या अथिर और कम्बं।
पर कभी न पावे आत्मसुख मूढ़ जीवा ।
दुखमय भववनमें जो भटकता अतीवा ॥ ६८ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्माका स्वभाव शुद्ध है इसका सम्बंध संसार वासनाओंसे नहीं है।

शार्दूलविक्रीडितं ।

कायैः कर्मविनिर्मितैर्बहुविधैः स्थूलाणुदीर्घादिभिः ।
नात्मा याति कदाचनापि विकृतिं संबध्यमानः स्फुटं ॥
रक्तारक्तसितासितादिवसनैरावेष्ट्यमानोऽपि किं ।
रक्तारक्तसितासितादिगुणितामापद्यते विग्रहः ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—(कर्मविनिर्मितैः) कर्मोंके उदयसे रची हुई (बहुविधैः) नाना प्रकारकी (स्थूलाणुदीर्घादिभिः) मोटी, पतली,

ऊंची, छोटी आदि (कायैः) देहोंके द्वारा (स्फुटं संबध्यमानः) प्रगटपने सम्बन्ध रखता हुआ (आत्मा) यह जीव (कदाचनापि) कभी भी (विकृतिं न याति) विकारी नहीं होजाता है अर्थात् अपने स्वभावको नहीं त्यागता है (किं) क्या (विग्रहः) यह शरीर (रक्तारक्तसितासितादिवसनैः) लाल, पीले, सफेद, काले वस्त्रोंसे (आवेष्टयमानोऽपि) ढका हुआ भी (रक्तारक्तसितादिगुणितां) लाल, पीले, सफेद, काले रंग पानेको (आपद्यते) प्राप्त हो जाता है ?

भावार्थ—यहां आचार्य यह दिखलाते हैं कि निश्चयनयसे अर्थात् वास्तवमें यह आत्मा शुद्ध है। इसने अज्ञानसे जो कर्म बांधे हैं उन कर्मोंके उदयसे इसके साथ कार्मण, औदारिक और तैजस शरीरोंका सम्बन्ध है। ये शरीर भी पुद्गल द्रव्यके रचे हुए हैं। इनमें मोह कर्मके उदयसे रागद्वेष, मोह भाव होते हैं। तथा नाम कर्मके उदयसे शरीर मोटा, पतला, लंबा, व छोटा होता है। शरीरोंके सम्बन्धसे आत्माको दुबला, मोटा, बलवान, निर्बल व क्रोधी, मानी, लोभी आदिके नामसे पुकारते हैं। असलमें देखो तो आत्मा अपने स्वभावसे असंख्यात प्रदेशी ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमय अविनाशी है। आत्मा पुद्गलके सम्बन्ध होनेपर भी आत्मा ही रहता है कभी भी पुद्गलमई नहीं होजाता है। यहां दृष्टांत देते हैं कि जैसे शरीरपर लाल, पीले, नीले, सफेद, कैसे भी रंगके कपड़े पहनो वे कपड़े शरीरके ऊपर ही ऊपर हैं। शरीर लाल पीला काला सफेद नहीं होता है। इसी तरह कर्मोंके नानाप्रकारके संयोग होनेपर भी आत्मा वास्तवमें किसी भी कर्मकृत विकारोंसे विकारी

नहीं होजाता है । निश्चयसे आत्मा शुद्ध स्वभावमें ही रहनेवाला है ऐसा विचारवानको विचारना चाहिये ।

ऐसा ही श्री पद्मनंदिमुनिने एकत्वाशीतिमें कहा है—

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभो भवेत् ॥ ३५ ॥
नाम हि परं तस्मान्निश्चयात्तदनात्मकम् ।
जन्ममृत्यादि चाशेष वपुधर्मं विदुर्बुधाः ॥

भावार्थ—जैसे विकारी होनेवाले मेघोंसे आकाशका स्वभाव विकारी नहीं होता है वैसे क्रोधादिक कर्मोका संयोग होनेपर भी उत्कृष्ट तेजवाला आत्मा भी क्रोधी मानी आदि रूप नहीं होता । इस आत्माके स्वभावसे तो नाम भी भिन्न है क्योंकि चैतन्यप्रभुका कोई नाम नहीं है । जन्म मरण रोग आदि ये सर्व स्वभाव शरीरके हैं ऐसा ज्ञानीलोग मानते हैं ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

मोटे सूक्षम दीर्घ देह बहुविध हैं कर्मने जो रचे ।
इनमें बसता आत्म हो न उनसा निजभाव आतम नचे ॥
काला पीला लाल श्वेत कपड़ा, जो देहको ढाकता ।
काला पीला लाल श्वेत तनको, कबहूं न कर डालता ।६६॥

उत्थानिका—आचार्य और भी आत्माका स्वरूप कहते हैं—

गौरो रूपधरो दृढः परिदृढः स्थूलः कृशः कर्कशः ।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना ॥
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढो विबुध्यात्मनो ।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतम् ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ—(त्वं) तू (आत्मनः) आत्माके (नित्यं) अविनाशी

(अमलं) निर्मल (सर्वव्यपायच्युतम्) सर्व संसारिक दुःख जालोंसे रहित (ज्ञानमयस्वभावं) ज्ञानमई स्वभावको (विबुध्य) जानकरके भी (मूढ़ः) मूर्ख होकर (इदं) इस (मिथ्या) झूठी (कल्पनम्) कल्पनाको (विदधासि) किया करता है कि मैं (गौरः) गोरा हूं (रूपधरः) मैं सुन्दर हूं (दृढः) मैं मजबूत हूं (परिवृढ़ः) मैं श्रीमान् हूं (स्थूलः) मैं मोटा हूं (कृशः) मैं दुर्बल हूं (कर्कशः) मैं कठोर हूं (गीर्वाणः) मैं देव हूं (मनुजः) मैं मनुष्य हूं (पशुः) मैं पशु हूं (नरकभूः) मैं नारकी हूं (षंढः) मैं नपुंसक हूं (पुमान्) मैं पुरुष हूं (अंगना) तथा मैं स्त्री हूं।

भावार्थ–यहां आचार्यने दिखलाया है कि आत्माका स्वभाव अविनाशी है जब शरीरादि पदार्थ नाशवंत हैं, आत्मा ज्ञानमई है जब शरीरादि जड़ हैं, आत्मा निर्मल वीतराग है, जब क्रोधादि कर्म विकाररूप जड़ हैं, आत्मा सर्व आकुलता व दुःखोंसे रहित परमानन्दमई है जब कि शरीरादि व क्रोधादि सम्बंध जीवको आकुलित व दुःखी करनेवाला है। इस तरह आत्मा व अनात्माका सच्चा स्वरूप जानकर भी मोही जीव मिथ्यादृष्टी होता हुआ मिथ्याश्रद्धानके नशेमें अपनेको नाना भेषरूप माना करता है। जो अवस्थाए कर्मके निमित्तसे हुई हैं उनको ही अपना माना करता है अपने आत्माके असली स्वभावसे गिर जाता है। देव, मनुष्य, नारकी, पशु, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, गोरा, सुन्दर, बलिष्ट, मोटा, दुबला, कठोर, आदि सब पुद्गलकी अवस्थाएं हैं। जिस घरमें आत्मा रहता है उस घरकी अवस्थाएं हैं। तौभी मोही जीव अपनेको उस रूप मान लेता है उसे आत्मज्ञानका श्रद्धान नहीं है।

तात्पर्य कहनेका यह है कि जो मानव आत्मोन्नति चाहता है उसका यह कर्तव्य है कि भेद विज्ञानके द्वारा अपने शुद्ध स्वरूपको अलग छांट ले और जो अनात्मा है उसको अलग करदे । इसी प्रकारके विचारसे स्वानुभवकी प्राप्ति होती है। यही स्वानुभव मोक्षका बीज है।

पद्मनंदि मुनि एकत्वाशीतिमें कहते हैं–

एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा ।
नावकाशो विकल्पानां तत्राखंडैकवस्तुनि ॥१५॥

भावार्थ–शुद्ध निश्चयसे देखा जावे तो यह आत्मा एक ही चैतन्यरूप है तथा इस अखंड पदार्थमें अनेक दूसरे विकल्पोंके उठानेकी जगह ही नहीं हैं कि मैं देव हूं या नारकी हूं। इत्यादि।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद ।

गोरासुन्दर वीर और श्रीमान् हूं थूल पतला कड़ा ।
हूं पशु नारक देव और मानव नारी पुरुष षंढ वा ॥
मूरख मिथ्या कल्पना जु करता निज आत्म नहिं वेदता ।
जो है नित्य पवित्र ज्ञानरूपी जहं कछको शून्यता ॥ ७० ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मुमुक्षु जीवको नित्य ही परमात्माका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये—

सर्वारंभकषायसंगरहितं शुद्धोपयोगोद्यतम् ।
तद्रूपं परमात्मनो विकलिलं बाह्यव्यपेक्षातिगं ॥
तन्निःश्रेयसकारणाय हृदये कार्यं सदा नापरम् ।
कृत्यं क्वापि चिकीर्षवो न सुधियः कुर्वन्ति तद्ध्वंसकं ॥७१

अन्वयार्थ–(सर्वारम्भकषायसंगरहितम्) जो सर्व आरम्भ, क्रोधादि कषाय, तथा परिग्रहसे रहित है (शुद्धोपयोगोद्यतम्) जो शुद्ध ज्ञानदर्शनमई उपयोगसे पूर्ण है (विकलिलं) जो सर्व कर्ममैलसे

रहित है (बाह्यव्यपेक्षातिगं) जिसको किसी भी बाहरी पदार्थकी अपेक्षा या गरज नहीं है (तत्) वही (परमात्मनः) इस उत्कृष्ट आत्माका (रूपं) स्वभाव है। (तत्) इसी स्वरूपको (निःश्रेयस-कारणाय) मोक्ष प्राप्तिके लिये (हृदये) मनमें (सदा) हमेशा (कार्यं) ध्याना चाहिये (न अपरां) इसके सिवाय अन्य किसी स्वभावको न ध्याना चाहिये (कृत्यं) करने योग्य कामको (चिकीर्षवः) पूरा करनेकी इच्छा करनेवाले (सुधियः) बुद्धिमान लोग (तद्ध्वंसकं) उद्देश्यके नाश करनेवाले कार्यको (क्व अपि) कहीं भी व कभी भी (न कुर्वंति) नहीं करते हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने दिखाया है कि जो भव्य जीव अपने आत्माको स्वाधीन करना चाहते हैं उनका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह अपने ही आत्माको परमात्माके समान जाने, श्रद्धामें लावें तथा अनुभव करें। आत्माका स्वभाव किसी शुभ व अशुभ आरंभ करनेका नहीं है। जितने भी काम होते हैं वे इस जगतमें मन, वचन कायके हिलनेसे होते हैं। आत्माके जब मन वचन काय ही नहीं हैं तब उनके द्वारा वर्तना या आरंभ किस तरह होसक्ते हैं। इस आत्मामें क्रोधादि कषायकी कलुषता भी नहीं है क्योंकि यह चारित्र मोहनीय कर्मका रस है, जैसे नीमका स्वाद कड़वा, ईखका स्वाद मीठा। यह आत्मा सर्व पर पदार्थोंके संगसे शून्य है। इसके पास न किसी शरीरका परिग्रह है, न धन-धान्यका है न क्षेत्र मकानका है न रुपये पैसेका है न स्त्री पुत्रादिका है। वह आत्मा सर्व प्रकारके पौद्गलिक मैलसे शून्य है यह अमूर्तीक है। इसके गुण इसके भीतर स्वतंत्र हैं उनके विकाशके लिये किसी

बाहरी प्रकाशकी व अन्य किसीकी सहायताकी जरूरत नहीं है। यह आत्मा पूर्णपने शुद्ध अनंतज्ञान व अनंतदर्शनसे भरा हुआ है। मैं ऐसा ही हूं इस प्रकारका अनुभव सदा करना योग्य है। यह स्वात्मानुभव ही आत्माको परमात्मा पदमें लेजानेवाला है। जो बुद्धिमान भेदविज्ञानी निपुण पुरुष हैं वे आत्मचिंतवनको छोड़कर और कोई रागद्वेषवर्द्धक चिन्तवन नहीं करते हैं; क्योंकि परकी चिंता बन्धनको करनेवाली है, जो आत्माको मुक्तिमार्गमें विघ्नकारक है। लौकिकमें भी बुद्धिमान लोग अपना जो उद्देश्य स्थिर कर लेते हैं उसके अनुकूल ही कार्य करते हैं उसके विरुद्ध कार्यसे सदा बचते रहते हैं।

श्री पद्मनंदि मुनि निश्चय पंचाशतमें कहते हैं—

अहमेवचित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।
नान्यत्किमपि जड़त्वात् प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी ॥४१॥
स्वपरविभागावगमे जाते सम्यक्परे परित्यक्ते।
सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं सिद्धः ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मैं ही चैतन्य स्वरूप हूं तथा मेरेको चैतन्यका ही आश्रय है मैं और किसीका आश्रय नहीं लेता हूं क्योंकि मेरे सिवाय अन्य पदार्थ सब जड़ हैं तथा यह भी न्याय है कि समान स्वभाववालोंमें ही प्रीति करनी योग्य है। जिस समय इस आत्माको अपना और परका स्वरूप अलग २ भलेप्रकार समझमें आजाता है तब यह स्वयं सिद्ध आत्मा पर पदार्थको छोड़कर अपने ही स्वाभाविक एक ज्ञान स्वभावमें लवलीन होजाता है।

वास्तवमें आत्मलीनता ही सच्ची सामायिक है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

परमात्मा है सर्व मैल दूर नहिं चाह परकी करै ।
शुद्धपयोगमई कषाय रहितं नारंभ परिग्रह धरै ॥
सो ही शिवके हेतु नित्य चितमें ध्याओ नहीं और कुछ ।
बुधजन निज उद्देश्य घातकारक करते नहीं कार्य कुछ ॥७१॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि शरीरसे प्रीति करना है सो आत्माकी उन्नतिसे बाहर रहना है ।

यो जागर्ति शरीरकार्यकरणे वृत्तिं विधत्ते यतो ।
हेयादेयविचारशून्यहृदयो नात्मक्रियायामसौ ॥
स्वार्थं लब्धुमना विमुंचतु ततः शश्वच्छरीरादरम् ।
कार्यस्य प्रतिबंधके न यतते निष्पत्तिकामः सुधीः ॥७२॥

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (यः) जो कोई (शरीरकार्यकरणे) शरीरके कामके करनेमें (जागर्ति) जाग रहा है (असौ) वह (हेयादेयविचारशून्यहृदयः) त्यागनेयोग्य व करने योग्यके विचारसे शून्य मनवाला होता हुआ (आत्मक्रियायाम्) आत्माके कार्यमें (वृत्तिं न विधत्ते) अपना वर्तन नहीं रखता है (ततः) इसी लिये (स्वार्थं लब्धुमना) अपने आत्माके प्रयोजनको जो सिद्ध करना चाहता है उसको (शश्वत्) सदा ही (शरीरादरम्) शरीरका मोह (विमुंचतु) छोड़ देना चाहिए (निष्पत्तिकामः) अपनी इच्छाको पूर्ण करनेवाला (सुधीः) बुद्धिमान पुरुष (कार्यस्य) अपने कामके (प्रतिबंधके) रोकनेवाले कार्यमें (न यतते) उद्यम नहीं करता है।

भावार्थ–यहां आचार्य कहते हैं कि शरीर और आत्मा दो भिन्न२ पदार्थ हैं। जिसको शरीरका मोह है वह रातदिन शरीरकी शोभा करनेमें उसको पुष्ट करनेमें व उसको आराम देनेमें अपना

समय व बल नष्ट किया करता है उसको आत्मोन्नतिकी तरफ ध्यान नहीं रहता है। उसका हृदय विषयभोगोंमें ऐसा अन्धा हो जाता है कि उसको कर्तव्य अकर्तव्यका व त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्यका विवेक नहीं रहता है। इसलिये जो अपने आत्माकी उन्नति करना चाहें उनको उचित है कि वे शरीरका मोह छोड़े उसका आदर न करें उसको चाकरके समान रखकर उससे तपादिका साधन करे और अपना कार्य बनालें। जो बुद्धिमान पुरुष होने हैं वे सदा इस बातकी सम्हाल रखने हैं कि जो कार्य करना निश्चय किया गया है उसकी सफलताका ही उद्योग करे तथा उस कार्यके विरोधी किसी उद्यमको न करें। जब यह निश्चय है कि शरीरका मोह मनको आत्म कार्यसे हटानेवाला है तो विवेकीको आत्माके काम बनानेका ही ध्यान रखना चाहिये और इसलिये आत्म मनन करके स्वानुभव प्राप्त करना चाहिये, विना आत्मध्यानके कभी भी आत्माकी शुद्धि नहीं होसक्ती है।

जबतक शरीर सम्बन्धी मोह नहीं छूटता तबतक आत्महित नही हो सक्ता। श्री अमितगति आचार्य सुभाषित रत्नसंदोहमें कहते हैं—

मदमदनकषायारातयो नोपशान्ता
न च विषयविमुक्तिर्जन्मदुःखान्न भीतिः।
न तनुसुखविरागो विद्यते यस्य जन्तो-
र्भवति जगति दीक्षा तस्य भुक्त्यै न मुक्त्यै ॥१७॥

भावार्थ—जिस मानवके घमंड व कामभाव व क्रोधादि शत्रु शांत नहीं हैं व जिसका मन विषयोंसे विरक्त नहीं हुआ है व

जिसको संसारके दुःखोंसे भय नहीं है तथा जिसके चित्तमें शरीरके सुखसे वैराग्य नहीं भया है उसकी दीक्षा भी इस जगतमें भोगके लिये हैं मुक्ति पानेके लिये नहीं है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो जाने निज तन विलासपथमें सो मूर्ख जाने नहीं ।
क्या हितकर क्या नाशकर सुकर्तव निजआत्म करता नहीं ॥
जो चाहे परमात्म धाम अपना तन मोह करता नहीं ।
बुध निजकारज सिद्धकाज उल्टा कब ही जु चलता नहीं ॥७२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमानको व्यर्थ कार्य न करना चाहिये ।

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा ततः ।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं ॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः ।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम् ॥७३॥

अन्वयार्थ—(गतघृणः) दया रहित (अंतकः) यमराज (भीतं) जो मरणसे डरता है उसको (न मुंचति) छोड़ता नहीं है (ततः) इसलिये (वृथा) बेमतलब (मा भैषीः) डर न कर (अभिलाषितं) अपना चाहा हुआ (सौख्यं) सुख (जातु) कभी (न लभ्यते) नहीं प्राप्त होता है इसलिये (त्वं) तू (इदं) इस सुखकी (मा अभिलाषीः) इच्छा न कर (विगतं) जो मर गया नष्ट होगया (शोचितं) उसका शोच करने पर (न प्रत्यागच्छति) लौटकर नहीं आता है इसलिये (वृथा) बेमतलब (शोकं मा कृथाः) शोक न कर (प्रेक्षापूर्वविधायिनः) समझकर काम करने वाले विद्वान (निरर्थम्) बेमतलब (कृत्यं) काम (कथम्) किसलिये (विदधते) करेंगे ?

भावार्थ-यहां आचार्यने बड़ी ही सुन्दर युक्तिसे यह समझा दिया है कि बुद्धिमान प्राणीको न तो मरणसे डरना चाहिये, न भोगोंकी इच्छा करनी चाहिये और न वियोग हुई वस्तुका शोक करना चाहिये। जगतके प्राणी इन्हीं भूलोंमें फंसे रहते हैं। यह बात जब निर्णयकी हुई है कि जब आयुकर्म समाप्त हो जायगा तब इस शरीरको आत्मा अवश्य छोड़ जायगा तब यह भय करना कि कहीं मरण न हो बड़ी भारी मूर्खता है। व कायरपना है। बुद्धिमान प्राणी कभी भी वे मतलब मौतसे डरता नहीं किन्तु वीर पुरुषकी तरह जब मरण आवे तब मरनेको तैयार रहता है। जब यह देखा जाता है कि संसारमें अधिकतर चाहे हुए इंद्रियके विषय नहीं प्राप्त होते हैं किन्तु जैसा न चाहो वैसा पदार्थ प्राप्त होजाता है तब फिर वृथा पदार्थोंके लिये तृषातुर व अभिलाषावान रहना अपने मनको क्लेशित रखना है। बुद्धिमान मनुष्य आगामी भोगोंकी तृष्णासे क्लेशित नहीं होता है जो पुण्यके उदयसे पदार्थ प्राप्त होता है उसीमें सन्तोष कर लेता है। यह जब पक्का निश्चय है कि जो प्राणी मर गया वह फिर उसी शरीरमें आ नहीं सक्ता तब बुद्धिमान कभी भी अपने मरण प्राप्त माता, पिता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, मित्र आदिका शोक नहीं करता है। शोक करनेसे परिणामोंमें क्लेश होता है वह क्लेश यहां भी दुःखी करता है व आगामीके लिये असातावेदनीयका बंध करा देता है। इत्यादि बातोंको विचार कर जो चतुर मानव हैं वे कभी भी निरर्थक काम नहीं करते हैं वे जिस कामको करते हैं उसका फल पहले ही विचार लेते हैं जिसका फल पहले ही विचार लेते हैं।

जिसका फल होना निश्चय है उस ही कामको करते हैं ।

सज्जनपुरुष सदा उत्तम फलदायी कार्योंको ही करते हैं ।

ऐसा अमितगतिमहाराजने सुभाषित रत्नसंदोहमें कहा है—

> चित्ताह्लादिव्यसनविमुखः शोकतापापनोदि ।
> प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्यायमार्गानुयायि ॥
> तथ्यं पथ्यं व्यपगतमलं सार्थकं मुक्तबाधं ।
> यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः सन्तमाहुः ॥४६१॥

भावार्थ—जो कोई बुरी आदतोंसे अलग रहता हुआ ऐसा वचन कहता है जो चित्तको प्रसन्न करनेवाला हो, शोक संतापको हटानेवाला हो, बुद्धिसे उत्पन्न हुआ हो, कानोंको प्रिय मालूम हो, न्यायमार्गपर लेजाने वाला हो, सत्य हो, हजम होनेयोग्य हो, दोष रहित हो, अर्थसे भरा हो व बाधाकारक न हो उसीको बुद्धिमानोंने सन्तपुरुष कहा है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

> निर्दय यम क्रयमति जंतु मारे इससे जु डरना वृथा ।
> इच्छित सुवस्तन प्राप्त होय कब हा अभिलाष करना वृथा ॥
> मृतगत शोच किये न लौट आता है शोक करना वृथा ।
> विद्वज्जन सुविचार कार्य निष्फल करते नहीं सर्वथा ॥७३।

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मीक सुखके लिये प्रयत्न कर, संसारिक सुखके लिये वृथा क्यों इच्छा करता है ।

> स्वस्थेऽकर्मणि शाश्वते विकलिले विद्वज्जनप्रार्थिते ।
> संप्राप्ये रहसात्मना स्थिरधिया त्वं विद्यमाने सति ॥
> बाह्यं सौख्यमवाप्तुमंतविरसं किं खिद्यसे नश्वरम् ।
> रे सिद्धे शिवमंदिरे सति चरौ मा मूढ भिक्षां भ्रमः ॥७४॥

अन्वयार्थ-(स्वस्थे) जो सुख अपने आत्मामें ही स्थित है (अकर्मणि) जो कर्मोंके उदयसे प्राप्त नहीं होता अथवा जो कर्मोंके नाशसे प्रगट होता है (शाश्वते) जो अविनाशी है (विकलिले) व जो मल रहित निर्मल है (विद्वज्जनप्रार्थिते) जिस सुखकी विद्वान लोग सदा इच्छा किया करते हैं तथा जो (स्थिरधिया आत्मना) स्थिर भाव करनेवाले आत्माके द्वारा (रहसा संप्राप्ये) सहजहीमें प्राप्त होने योग्य है (विद्यमाने सति) ऐसा सुख अपने पास होते हुए (त्वं) तू (अंतविरसं) जो अंतमें रस रहित है (नश्वरं) व नाशवंत है ऐसे (बाह्यं सौख्यम्) बाहरी इंद्रियजनित सुखको (अवाप्तुं) प्राप्त करनेके लिये (किं) क्यों (खिद्यसे) खेद उठाता है (रे मूढ़) रे मूर्ख (शिवमंदिरे चरौ सिद्धे सति) महादेवजीके मंदिरमें खानेको नैवेद्य मिलते हुए (भिक्षां मा भ्रमः) भिक्षाके लिये मत भ्रमणकर।

भावार्थ-यहांपर अचार्य कैसा सुन्दर कहते हैं कि जो वस्तु अपने पास ही हो उसको न जानकर उस वस्तुके लिये बाहर ढूंढते हुए खेद उठाना नितान्त मूर्खता है। कोई साधु महादेवजीके मंदिरमें रहता था वहीं जब उसको पेटभर खानेको मिष्टान्न आदि मिल जावे तब उसको भिक्षाके लिये भ्रमण करना वृथाही कष्ट उठाना है। आत्माका स्वभाव आनंद है यह आनंद अविनाशी है। पापरहित है। कर्मोंके नाशसे प्रगट होता है। इसी आनंदको सदा साधुजन चाहा करते हैं तथा यह आनन्द मात्र अपने उपयोगको अपनेमें स्थिर करनेसे ही अपनेको प्राप्त होजाता है। जो अपने ही पास है व जिसके लिये किसी दूसरे पदार्थकी जरूरत नहीं है व जो सदा ही तृप्तिकारक है, जो ऐसे सच्चे सुखको मूर्ख जन नहीं

पहचानते हैं और उस सच्चे सुखके लाभके लिये अपने आत्माके भीतर प्रवेश नहीं करते हैं तथा बाहरी इंद्रियजनित नीरस और अतृप्तिकारी सुखकी प्राप्तिके लिये चेष्टा किया करते हैं वे वृथा ही कष्ट उठाते हैं। क्योंकि यदि परिश्रम करनेसे कदाचित् इच्छित बाहरी सुख प्राप्त भी होजावे तौभी उससे तृप्ति नहीं होती तथा वह ठहरता नहीं है, वह शीघ्र नाश होजाता है। जिस किसीको अपने स्थानमें ही मनमोहन खानेको मिले और वह उसको तो न खावे किन्तु भीख मांगता फिरे उसे भीखमें तो पूरा भोजन भी मिलना कठिन होगा और वह वृथाही खेद सहेगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीवको अपने ही भीतर भरे हुए सुखसमुद्रकी खोज करके उसमें ही स्नान करना चाहिये व उसीके जलको पीना चाहिये। उसीसे ही तृप्ति होगी और वही सदा पीनेमें भी आयगा-उस जलका कभी वियोग नहीं होगा क्योंकि वह सुखसमुद्र अपने ही पास है और अपनेको अपनेसे मिल जाता है। इसलिये इंद्रियोंके सुखकी वांछा छोड़ आत्मिक सुखके लिये अपने आपमें रचना ही हितकर है।

श्री शुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

अतृप्तिजनकं मोहदाववह्नेर्महेन्धनम्।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः॥ १२॥
अध्यात्मजं तदत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम्।
आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिना मतम्॥२३॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोंने कहा है कि जो सुख इंद्रियोंसे पैदा होता है वह तृप्ति करनेवाला नहीं है तथा वह सुख मोहरूपी दावानलको बढ़ानेके लिये महा ईंधनके समान है तथा दुःखोंकी परिपाटीका बीज है। जबकि अध्यात्मिक सुख इंद्रियोंकी पराधीनतासे रहित

है। मात्र अपने ही अनुभव गोचर है, अविनाशी है, स्वाधीन है, बाधारहित है तथा अनन्त है, योगियोंके द्वारा माननीय है।

वास्तवमें आत्मीक सुख जब अमृत है तब इंद्रियसुख खारे पानीके समान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो सुख अपने आतम बीच बसता है मलरहित शाश्वता।
थिरभावोंसे आपमें सु मिलता विद्वान नित चाहता॥
फिर क्यों नीरस बाहरी क्षणिक सुख अर्थ जु कष्ट सहे।
शिवमंदिरमें भोज्य सहज मिलते भिक्षार्थ भ्रम दुख सहे॥७४॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो थिर सुख पाना तो चाहें पर उपाय उल्टा करे उसको वह सुख कैसे मिल सक्ता है?

मालिनी वृत्तम् ।

अभिलषति पवित्रं स्थावरं शर्म लब्धुं।
धनपरिजनलक्ष्मीं यः स्थिरीकृत्य मूढः॥
जिगमिषति पयोधेरेष पारं दुरापं।
प्रलयसमयवीचिं निश्चलीकृत्य शंके॥ ७९॥

अन्वयार्थ–(यः मूढः) जो मूर्ख (धनपरिजनलक्ष्मीं) धन, बंधुजन व सम्पत्तिको (स्थिरीकृत्य) स्थिर रख करके (पवित्रं) निर्मल (स्थावरं) अविनाशी (शर्म) सुख (लब्धुं) पानेकी (अभिलषति) इच्छा करता है (शंके) मैं ऐसी आशंका करता हूं कि (एषः) यह मूर्खजन (प्रलयसमयवीचिं) प्रलयकालकी उठनेवाली तरंगोंको (निश्चलीकृत्य) निश्चल करके (पयोधेः) समुद्रके (दुरापं पारं) नपारहोनें योग्य पारको (जिगमिषति) जाना चाहता है।

भावार्थ–आचार्य कहते हैं कि वह मानव महा मूर्ख है जो

अविनाशी व पवित्र सुख तो चाहे परन्तु उसके लिये अपने आत्मामें ध्यान करना छोड़कर धनपरिवार परिग्रहको संचय करे और इन चंचल वस्तुओंको थिर रखना चाहे और यह भी चाहे कि थिर सुख मिल जावे। यह ऐसी ही मूर्खताकी बात है कि जैसे कोई प्रलय-कालकी पवनसे उद्धत समुद्रको उसकी न निश्चल रहनेवाली तरंगोंको स्थिर करके उसे पार करना चाहे। थिर पवित्र सुख कभी भी इंद्रियोंके भोगोंसे प्राप्त नहीं होसक्ता इंद्रियभोगसे जो कुछ सुख होगा वह मात्र क्षणिक होगा व तृप्तिकारी न होगा तथा मला होगा। क्योंकि जिस धन परिवार व परिग्रहके आश्रयसे यह इन्द्रियसुख होता है वे सब पदार्थ चंचल हैं व नाशवंत हैं इसलिये इन्द्रियसुख भी चंचल व नाशवंत है। तृप्तिकारी अविनाशी सुख तो मात्र अपने आत्माके स्वभावमें है, वह तब ही प्राप्त होगा जब जगतके पदार्थोंसे मोह छोड़के निज आत्माका अनुभव किया जायगा। इन्द्रियोंको भोगते हुए कभी भी थिर व पवित्र सुख नहीं मिल सक्ता है, वह तो आत्मसन्मुख होने ही पर मिलेगा। तात्पर्य यह है कि सच्चे सुखके लिये अपने आपमें ही खोज करना चाहिये। ऐसा ही श्री शुभचन्द्रमुनिने श्री ज्ञानार्णवमें कहा है—

अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम् ।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ॥२४॥

भावार्थ—इन्द्रियोंके ग्रामोंको रोककर जो सुख स्वयम् आत्मामें ही आत्माके ही द्वारा योगियोंको प्राप्त होता है वही आत्मीक सुख है। इन्द्रियोंका सुख तृष्णाके दुःखोंको बढ़ानेवाला है जैसा यहीं कहा है—

अपि संकलिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे२ इच्छित भोग मिलते जाते हैं वैसे वैसे मनुष्योंकि चित्तकी तृष्णा जगतमें फैलती जाती है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

शुचि थिर सुख पाऊं चाह ऐसा करे है ।
धन सुत तिय पुर्वा भोगमें मति धरे है ॥
मानूं मूरख सो उदधिका पार चाहे ।
प्रलय समय लहरं थिर करूं बुद्धि गाहे ॥७५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान पुरुष इंद्रियविषयोंसे दूर रहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

ये दुःखं वितरंति घोरमनिशं लोकद्वये पोषिताः ।
दुर्वारा विषयारयो विकरुणाः सर्वांगशर्माश्रयाः ॥
प्रोच्यंते शिवकांक्षिभिः कथममी जन्मावलीवर्द्धिनो ।
दुःखोद्रेकविवर्धनं न सुधियः कुर्वन्ति शर्मार्थिनः ॥७६॥

अन्वयार्थ—(ये) जब ये (दुर्वाराः) कठिनतासे दूर होने योग्य (विकरुणाः) और निर्दयी (विषयारयः) इंद्रिय विषयरूपी शत्रु (पोषिताः) पुष्ट किये जानेपर (लोकद्वये) इस लोक व परलोक दोनोंमें (अनिशं) रात्रदिन (घोरं दुःखं) भयानक कष्टोंको (वितरंति) विस्तारते हैं तब (शिवकांक्षिभिः) मोक्षके आनंदको चाहनेवाले (कथं) किस तरह (जन्मावलीवर्द्धिनः) संसारकी परिपाटीको बढ़ानेवाले (अमी) इन विषयरूपी शत्रुओंको (सर्वांगशर्माश्रयाः) सर्व प्रकार शरीरको सुख देनेवाले हैं ऐसा (प्रोच्यन्ते) कह सक्ते हैं। (शर्मार्थिनः) जो

सुखके अर्थी हैं वे (सुधियः) बुद्धिमान प्राणी (दुःखोद्रेकविवर्धनं) दुःखके वेगको बढ़ानेवाले कार्यको (न कुर्वन्ति) नहीं करते हैं ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियोंके भोगोंकी चाहनाएं इस जीवके लिये महान शत्रुताका काम करती हैं । ये चाहनाएं ऐसी प्रबल होती हैं कि इनको दूर करना कठिन होता है । तथा इनको जरा भी दया नहीं होती है, इनके कारण रात्रिदिन इस लोकमें भी आकुलता व शोक आदिके दुःख सहने पड़ते हैं । व तीव्र कर्म बांधकर परलोकमें दुर्गतिके कष्ट भोगने पड़ते हैं । जो इनको पुष्ट करते हैं उनको अधिक२ दुःख देती हैं। ये विषयरूपी शत्रु वास्तवमें इस जीवकी जन्म मरणरूपी परिपाटीको बढ़ानेवाले हैं तब मोक्षके आनन्दको चाहनेवाले इन इंद्रियोंके विषयोंको किस तरह ऐसा कह सक्ते हैं कि ये सर्व प्राणियोंको सुखके देनेवाले हैं ? । इनको सुखदायी कहना नितान्त भूल है । जिनसे उभयलोकमें कष्ट मिलें उनको कोई भी बुद्धिमान सुखदायी नहीं मान सक्ता है । इसीलिये जो सुखके अर्थी बुद्धिमान हैं वे कभी भी ऐसा काम नहीं करते जिससे उल्टा दुःख बढ़ जावे । अर्थात् वे इन इंद्रिय विषयोंको बिलकुल मुंह नहीं लगाते हैं। किन्तु इनसे विरक्त हो आत्मसुखके लिये आत्मानुभवका ही प्रयत्न करते हैं ।

सुभाषित रत्नसंदोहमें स्वामी अमितगति कहते हैं—

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतुं ।
किंपाकपाकफलतुल्यमयो विपाके ।।
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विदित्वा ।
पंचेन्द्रियार्थसुखमर्थधियस्त्यजंति ।। ९८ ।।

भावार्थ—ये पांचों इंद्रियोंके सुख भोगते समय तो सुन्दर भासते हैं परन्तु ये अतृप्तिके ही बढ़ाने वाले हैं। जैसे इन्द्रायणका फल खाते समय मीठा होता है परन्तु उसका फल प्राणोंका हरनेवाला है। ये इंद्रियसुख नित्य नहीं रहते तथा अनेक दोषोंको पैदा करनेवाले हैं ऐसा जानकर बुद्धिमान लोग इन इंद्रियोंके सुखोंकी इच्छाको ही छोड़ देते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रिडित छन्द।

जो नित दुस्सह दुःख लोकद्वयमें पोषण किये देत हैं।
निर्दय हैं दुर्वार अरि विषय ये मन वृद्धि कर देत हैं॥
शिव सुख इच्छुक किस तरहसे कहे सर्वाङ्ग सुखदाय ये।
सुखअर्थी बुधजन न कार्य करते जो कष्ट देते नये॥ ७६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि निर्मल भावोंका और मलीन भावोंका क्या क्या फल होता है—

कुर्वाणः परिणाममेति विमलं स्वर्गापवर्गश्रियं।
प्राणी कश्मलमुग्रदुःखजनिकां श्वभ्रादिरीतिं यतः॥
गृह्णानाः परिणाममाद्यमपरं मुंचंति सन्तस्ततः।
कुर्वन्तीह कुतः कदाचिदहितं हित्वा हितं धीधनाः॥७७॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (प्राणी) यह प्राणी (विमलं परिणामं) निर्मल भावको (कुर्वाणाः) करता हुआ (स्वर्गापवर्गश्रियं) स्वर्ग व मोक्षकी लक्ष्मीको (एति) प्राप्त कर लेता है तथा (कश्मलं) मलीन भावको करता हुआ (उग्रदुःखजनिकां) भयानक दुःखोंको पैदा करनेवाली (श्वभ्रादिरीतिं) नर्क आदिकी अवस्थाको पाता है। (ततः) इसलिये (सन्तः) सन्तजन (आद्यं) पहले (परिणामं) भावको (गृह्णानाः) ग्रहण करते हुए (अपरं) दूसरे अशुभ भावको (मुंचति)

त्याग देते हैं (इह) इस लोकमें (धीधनाः) बुद्धिमान प्राणी (हितं हित्वा) अपने हितको छोड़कर (कुतः) किस तरह (कदाचित्) कभी भी (अहितं) दुःखदाई कामको (कुर्वन्ति) करेंगे ?

भावार्थ–यहां आचार्य कहते हैं कि यह जीव अपने भावोंसे ही अपना कल्याण कर लेता है तथा भावोंसे ही अपना बिगाड़ कर लेता है। जैसे भाव होते हैं वैसा कार्य होता है। शुद्ध भावोंसे कर्मोंकी निर्जरा होकर मोक्ष होजाता है तथा शुभ भावोंसे पुण्यबंध होकर स्वर्गादिक शुभ गति प्राप्त होती है तथा अशुभ भावोंसे पाप बंधता है जिससे नरक आदिकी खोटी गति प्राप्त होती है। ऐसा जानकर सन्त पुरुष सदा ही शुद्ध भावोंमें रहनेका उद्यम करते हैं। जब शुद्ध भावोंमें परिणाम नहीं ठहरता है तब शुभ भावोंमें जम जाते हैं परन्तु वे अशुभ मलीन भावोंको कभी नहीं ग्रहण करते हैं। उनको तो दूरसे ही त्यागते हैं। बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो अपने हित अहितका विचार करें। जिन कार्योंसे अपना बुरा होता जाने उनको तो छोड़दें व जिनसे अपना भला होता जाने उनको साधन करें। तात्पर्य यह है कि सुख शांतिकी प्राप्ति अपने आत्मानुभवसे ही होगी इसलिये विषयोंकी खोटी वासनाको त्यागकर बुद्धिमानको सदा आत्ममननमें ही उद्योगी रहना योग्य है।

सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र मुनि कहते हैं–

आत्मकार्यं परित्यज्य परकार्येषु यो रतः ।
ममत्वरतचेतस्कः स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥१५७॥
स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चरित्रं दर्शनं तथा ।
तपः संरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५८॥

यथा च जायते चेतः सम्यक्शुद्धिं सुनिर्मलाम् ।
तथा ज्ञानविदा कार्यं प्रयत्नेनापि भूरिणा ॥१६१॥

भावार्थ--जो अपने आत्माके कामको छोड़कर शरीरादि परके कार्यमें लीन है वह ममता सहित चित्तवाला होकर अपने आत्म-हितका नाश कर डालता है। अपने आत्माका हित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रका साधन तथा तपका भले प्रकार रक्षण है ऐसा सर्वज्ञोंने कहा है। जिस तरह यह मन भले प्रकार ऊंची शुद्धताको प्राप्त करले उसी तरह ज्ञानियोंको बहुत प्रयत्न करके उद्यम करना चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो करता शुचि भाव प्राप्त करता शिव स्वर्ग लक्ष्मी सही।
जो करता मलभाव सोहि लहता नरकादि दुखकर मही ॥
सज्जन निर्मल भाव नित्य ग्रहते मल भावको त्यागते।
बुधजन हितकर कार्य छोड़कवह दुखकर नहीं साधते ॥७७॥

उत्थानिका—आगे इस परिणामकी महिमाको और भी बताते हैं—

नरकगतिमशुद्धैः सुंदरैः स्वर्गवासं।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा ॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाणै-
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धैः) अशुद्ध (परिणामैः) भावोंसे (नरकगतिं) नरकगतिको (सुंदरैः) शुभ भावोंसे (स्वर्गवासं) स्वर्ग निवासको तथा (चेतनः पोष्यमाणैः शुद्धैः) चेतनको पुष्ट करनेवाले शुद्ध भावोंसे (अकर्मा) यह जीव कर्म रहित होकर (अनवद्यं) निर्दोष

(शिवपदम्) मोक्षपदको (याति) प्राप्त करता है (इति) ऐसा समझकर (शिवपदकामैः) जो मोक्षपदकी इच्छा रखते हैं उनको (ते विशुद्धाः) उन विशुद्ध भावोंको (विधेयाः) करना योग्य है ।

भावार्थ—संसारी जीवोंके भाव तीन प्रकारके होते हैं एक शुद्ध, एक शुभ एक अशुभ। जहां वीतरागभाव, समताभाव व शुद्ध आत्माकी तरफ सन्मुख भाव होता है वहां शुद्ध भाव होता है। यह भाव रागद्वेषके मैलसे शून्य होता है इसलिये कर्मोंकी निर्जराका कारण है इसलिये यही वास्तवमें मोक्ष मार्ग है। यहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता होती है। मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये यही भाव ग्रहण करने योग्य है। अशुद्ध भाव वे कहलाते हैं जहां कषायोंका उदय होकर कषायसहित भाव हों। कषायसहित भाव आत्मस्थ नहीं होते किन्तु परपदार्थके सन्मुख होते हैं। इनही अशुद्ध भावोंके दो भेद हैं एक शुभ दूसरे अशुभ। जहां कषायमंद होती है व भावोंमें प्रशमता, धर्मानुराग, भक्ति, सेवाधर्म, दयाभाव, परोपकार, सन्तोष, शील, सत्य वचनमें प्रेम, स्वार्थत्याग आदि मंद कषायरूप भाव होते हैं उनको शुभ भाव कहते हैं। इन शुभ भावोंसे मुख्यतासे पुण्यकर्मोका बंध होता है। जहां कषाय तीव्र होती है वहां भावोंमें दुष्टभाव, अपकारके भाव, हिंसकभाव, असत्यपना, चोरीपना, कुशीलपना, असन्तोष, इंद्रियविषयकी लम्पटता, मायाचार, अति लोभ, व्यसनोंमें लीनता, परनिन्दामें प्रसन्नता आदि भाव होते हैं उनको अशुभ भाव कहते हैं। इनसे पापकर्मोंका ही बंध होता है। अशुभ भावोंके फलसे नरक व पशुगतिमें जाता है, शुभ भावोंसे मनुष्य व देवगतिमें जाता है। ये दोनों ही भाव

जीवको संसारचक्रमें फंसानेवाले हैं, मोक्षके कारण नहीं है। मात्र शुद्ध भाव ही मुक्तिके हेतु हैं। इसीलिये आचार्यका उपदेश है कि मोक्षके इच्छुक प्राणीको उचित है कि शुद्ध भावोंकी प्राप्तिका उद्यम करे और इस हेतुसे वह अपने आत्माके अनुभव करनेका अभ्यास करे यह तात्पर्य है। श्री पद्मनंद मुनि निश्चय पंचाशतमें कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम् ।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम् ॥ १८ ॥

भावार्थ—शुद्ध भावसे शुद्ध आत्माका लाभ होता है तथा अशुद्ध रूप ध्यानसे अशुद्ध भावका ही लाभ होता है। जैसे सुवर्णसे सोनेका कड़ा व लोहेसे लोहेका कड़ा ही मनुष्य बना सक्ता है।

यह सिद्ध है शुद्ध भाव ही आनंदका हेतु है—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद ।

अशुभ करै नरकं स्वर्ग शुभ भाव लावै ।
शिवपद सुखकारी शुद्ध परिणाम पावै ॥
आतम बलकारी प्रगट हैं शुद्ध भावा ।
इम लख शिवकामी नित करै शुद्ध भावा ॥ ७८ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि चारों ही गति दुःखरूप है इसलिये सुखके लिये मोक्षका प्रयत्न हितकर है।

शार्दूलविक्रीडितं ।

श्वभ्राणां अविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजम् ।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परम् ॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसम् ।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये ॥७९॥

उत्थानिका—(श्वभ्राणां) नरकगतिवासी प्राणियोंको (अविस-

ह्यम्) न सहने योग्य (दुर्जल्पम्) वचनोंसे न कहने योग्य (अन्योन्यजम्) परस्पर किया हुआ (अंतरहितं) अनंतबार (परं दुखं) उत्कृष्ट दुःख होता है (तिरश्चां) पशु गतिमें रहनेवाले प्राणियोंको (दाहच्छेदविभेदनादिजनितम्) अग्निमें डालनेका, छेदे जानेका, भेदे जानेका, भूख, प्यास आदिके द्वारा होनेवाला कष्ट होता है। (नृणां) मानवोंको (रोगवियोगजन्ममरणं) रोग, वियोग, तथा जन्म मरण आदिका दुःख रहा करता है (स्वर्गौकसां) स्वर्ग-वासी देवोंको (मानसं) मन सम्बंधी बाधा रहती है (इति) इसप्रकार (विश्वं) इस गतिको (कष्टकलितं) दुःखोंसे भरा हुआ (सदा) हमेशा (वीक्ष्य) देखकर (मुक्तये) मुक्त होनेके लिये (मतिः) अपनी बुद्धि (कार्या) करनी योग्य है।

भावार्थ-इस श्लोकसे आचार्यने दिखला दिया है कि चारों ही गतियोंमें इस जीवको कहीं संतोष व सुख शांति नहीं मिलती हैं। सर्व हीमें शारीरिक व मानसिक दुख कम व अधिक पाए जाते हैं। हम यदि नरकगतिको लेवें तो जिनवाणी बताती है कि वहांके कष्ट अपार हैं। भूमि दुर्गंधमय, हवा शरीर भेदनेवाली, वृक्षोंके पत्ते तलवारकी धारके समान, पानी खारा, शरीर रोगोंसे भरा व भयानक, परस्पर एक दूसरेको मारते, सताते व दुःखी करते हैं वहांके प्राणियोंकी कभी भूख, प्यास मिटती नहीं। क्रोधकी अग्निमें जलते रहते हैं, दीर्घकाल रोरोकर बड़े भारी कष्टसे अपने दिन पूरे करते हैं। पशु गतिके दुख तो हमारी आंखोंके सामने ही हैं। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक प्राणियोंके कष्टोंका पार नहीं है।

मानवोंके आरम्भ द्वारा उनको सदा ही कष्ट मिला ही करता है। दबके, कुटके, जलके, उबलके, घक्कोंसे, बुझाए जानेसे, रौंदे जानेसे, काटे, छीले जानेसे आदि अनेक तरहसे ये कष्ट पाते हैं। द्वेन्द्रियादि कीड़े मकोड़े, चींटी, चींटे, मक्खी, पतंग, भुनगे, आदि मानवोंके नाना प्रकारके आरंभोंके द्वारा दबके, छिलके, मिदके, जलके, गर्मी, शरदी, वर्षा भूख, प्यास आदिकी बाधासे व सबल पशुओंसे नाश होकर घोर त्रास उठाते हैं। पंचेंद्रिय पशु पक्षी, मच्छादि मानवोंके द्वारा सताए जाने, मारे जाने, सबल पशुओंसे खाए जाने, अधिक बोझा लादे जाने, भूख, प्यास, गर्मी, शरदी, आदिके दुःखोंसे पीड़ित रहते हैं।

मानवोंकी अवस्था यह है कि बहुतसे तो पेट भर अन्न नहीं पाते, अनेक रोगोंसे पीड़ित रहते हैं, पर्याप्त धनके विना आतुर रहते हैं, इष्टवियोग व अनिष्ट संयोगसे कष्ट पाते हैं। इच्छित पदार्थके न मिलनेसे अधिक सम्पत्तिवान देखकर ईर्षा करते हैं, दूसरोंको हानि पहुंचानेके लिये अनेक षडयंत्र रचते हैं, जब पकड़े जाते हैं कारावासके घोर दुःख सहते हैं। बहुतोंको पराधीन रहनेका घोर कष्ट होता है। बड़े२ संकटोंके उठानेपर आजीविका लगती है। धन परिश्रमसे संचय हुआ जब किसी आकस्मातसे जाता रहता है तो बड़ा भारी कष्ट होता है। अपने जीते जी प्रिय स्त्री, प्रिय पुत्र, प्रिय मित्र आदिका मरण शोक सागरमें पटक देता है। मानवोंका शरीर तो पुराना पड़ता जाता है। इंद्रियें दुबली होती जाती हैं परन्तु पांचों इंद्रियोंके भोगोंकी तृष्णा दिनपर दिन बढ़ती जाती है। तृष्णाकी

पूर्ति न कर सकनेके कारण यह मानव महान आतुर रहता है। यकायक मरण आजाता है। तब बड़े कष्टसे मरता है। चक्रवर्ती सम्राट् भी जो इंद्रियभोगोंके दास होते हुए आत्मज्ञान रहित होते हैं वे भी जिन्दगीभर चिंता और आकुलतामें ही काटते हैं अन्य२ साधारण मानवोंकी तो बात ही क्या है? जिन२ परपदार्थोंके संयोगसे यह मानव सुख मानता है वे पदार्थ इसके आधीन नहीं रहते उनका परिणमन अन्य प्रकार होजाता है व उनका यकायक वियोग होजाता है। बस यह मानव उनके वियोगसे महान दुखित होता है। देवगतिमें यद्यपि शारीरिक कष्ट नहीं है क्योंकि वहां शरीर वैक्रियक होता है जिसमें हाड़, चमड़ा, मांस नहीं होता है उनको मानवोंके समान खाने पीनेकी जरूरत नहीं होती है जब कभी भूख लगती है तब कंठमें अमृत झड़ जाता है, तुर्त भूख मिट जाती है। रोग शरीरमें नहीं होते, कोई खेती व व्यापार करना नहीं पड़ता। शरीरके लिये किसी वस्तुकी चाह करनी नहीं पड़ती। मनोरंजन करनेवाली देवियां होती हैं जो अपने हावभाव, विलास, गान आदिसे मनको प्रसन्न करती रहती हैं। तथापि मानसिक कष्ट सब जगहसे अधिक होता है। जो आत्मज्ञानी देव हैं उनको छोड़कर जो अज्ञानी देव हैं वे एक दूसरेको अपनेसे अधिक सम्पत्तिवाला देखकर मनमें ईर्षाभाव रखते हैं सदा जलते रहते हैं। भोगनेके लिये पदार्थ अनेक चाहते हैं उनके भोगनेकी आकुलतासे आतुर रहते हैं। देवोंकी आयु कम होती है देवकी आयु बड़ी होती है, बस जब कोई देवी मर जाती है तो उसके वियोगका दुःख सहते हैं, अपना शरीर छूटने लगता है तब बहुत विलाप करते हैं कि ये भोग

छूटे जाते हैं क्या करें । इस कारण देव भी मानसिक कष्टसे पीड़ित हैं। जब चारोंही गतिमें दुख है तब सुख कहां है तो आचार्य कहते हैं कि सुख अपने आत्मामें है । जो अपने आत्माको समझते हैं और उसकी शुद्ध स्वाधीन अवस्था व मोक्षके प्रेमी होकर आत्माके अनुभवमें मग्न होते हैं उनको सच्चा सुख होता है । ऐसे महात्मा चाहे जिस गतिमें हों सुखी रहते हैं। परन्तु ये सब महात्मा संसारी नहीं रहते हैं, वे सब मोक्षमार्गी होजाते हैं। उनका लक्ष्यबिंदु मोक्ष होता है। वे आत्मध्यान करते हुए शुद्ध भावोंका लाभ पाते हैं जिससे कर्म झरते जाते हैं और येही शुद्ध भाव उन्नति करते करते मोक्षके भावमें हो जाते हैं। इसलिये आचार्यका उपदेश है कि आत्मीक शुद्ध भावोंकी पहचान करो जिससे यहां भी सच्चा सुख पाओगे व आगामी भी सुखी रहोगे ।

श्री अमितिगति महाराज सुभाषित रत्नसंदोहमें कहते हैं—

त्यजतु युवतिसौख्यं क्षान्तिसौख्यं श्रयध्वं,
विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम् ।
जहित विषयसंगं ज्ञानसंगं कुरुध्वं,
अमितगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वम् ॥ १९ ॥

भावार्थ–स्त्रियोंके सुखको छोड़ो, क्षमाभाव सहित शांतिमय सुखका आश्रय करो, संसारके भोगोंसे विरक्त हो मोक्षके मार्गमें रमण करो, इंद्रियोंके विषयोंका संग छोड़ो, आत्मज्ञानकी संगति करो जिससे तुम नित्य अनन्तज्ञानके निवास मोक्षको प्राप्त कर सको—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

आपसमें ये जीव नर्क भूके दुःसह महादुख सहें,
पशुगतिमें हो दाह छिदभिदमरें दिनरात पीड़ित रहें ।

नरगतिमें हो रोग इष्टवियुक्त सुर मन अमित दुखलहै,
बुधचतुर्गति दुखजान बुद्धि अपनी शिवहेतुकर सब दहैं ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जगतके क्षणभंगुर पदार्थोंके लिये प्रयत्न करना वृथा है।

सर्वं नश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं।
कार्यं रूपमिव क्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा ॥
यत्तत्रापि विधीयते बत कुतो मूढ प्रवृत्तिस्त्वया।
कृत्ये क्वापि हि केवलश्रमकरे न व्याप्रियंते बुधाः ॥८०॥

अन्वयार्थ-(सलिले) पानीमें (रूपं इव) मट्टीकी पुतलीके समान (दुष्करं) कठिन (श्रमं) परिश्रम (कृत्वा) करके (यत्नतः अपि रचितं) यत्नसे भी बनाया गया (सर्वं) सब (सांसारिकं कार्यं) संसारका काम (क्षणेन) क्षणभरमें (सर्वथा नश्यति) बिलकुल नाश होजाता है। (यत्) जब ऐसा है तब (मूढ) हे मूर्ख (त्वया) तेरे द्वारा (तत्रापि) इसी संसारी कार्यमें ही (बत) बड़े खेदकी बात है (कुतः) क्यों (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (विधीयते) की जाती है? (बुधाः) बुद्धिमान प्राणी (केवलश्रमकरे) खाली बेमतलब परिश्रम करानेवाले (कृत्ये) कार्यमें (क्वपि) कभी भी (हि) निश्चय करके (न व्याप्रियन्ते) व्यापार नहीं करते हैं।

भावार्थ-जैसे मिट्टीकी मूर्ति पानीमें रखनेसे गल जाती है वैसे संसारके जितने काम हैं वे सब क्षणभंगुर हैं। जब अपना शरीर ही एक दिन नष्ट होनेवाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओंके रहनेका क्या ठिकाना? असल बात यह है कि जगतका यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नहीं होते न नवीन पैदा होते हैं परन्तु

उन द्रव्योंकी जो अवस्थाएं होती हैं वे उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। अवस्थाएं कभी भी थिर नहीं रह सक्ती हैं। हम सबको अवस्थाएं ही दीखती हैं तब ही वह रातदिन जाननेमें. आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक गिर पड़ा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई। राज्यपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सर्व ही पदार्थ नाश होनेवाले हैं। करोड़ोंकी सम्पत्ति क्षणभरमें नष्ट होजाती है। बड़ा भारी कुटुम्ब क्षणभरमें कालके गालमें समा जाता है। यौवन देखते २ विलय जाता है, बल जरासी देरमें जाता रहता है। संसारके सर्व ही कार्य थिर नहीं रह सके हैं। जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अथिर कार्योंके लिये उद्यम नहीं करता है। वह इन्द्रपद व चक्रवर्तीपद भी नहीं चाहता है क्योंकि ये पद भी नाश होनेवाले हैं। इसलिये वह तो ऐसे कार्यको सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह एक कार्य अपने स्वाधीन व शुद्ध स्वभावका लाभ है। जब यह आत्मा बन्ध रहित पवित्र होजाता है फिर कभी मलीन नहीं होसक्ता और तब यह अनन्तकालके लिये सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमें परिश्रम तो बहुत पड़े, पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचारशील होते हैं, वे सफलता देनेवाले ही कार्योंका उद्यम करते हैं। इसलिये सुखके अर्थी जीवको आत्मानन्दके लाभका ही यत्न करना उचित है।

सुभाषितरत्नसंदोहमें अमितगति महाराज कहते हैं—

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजा ज्ञानदृष्टिस्वभावो।
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि॥

कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे ।
पर्यालोच्येति जीवः स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रय त्वम् ॥४१६॥

भावार्थ–मेरा तो एक अपना ही आत्मा अविनाशी सुखमई, दुःखोंका नाशक, ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है। यह शरीर, धन, इन्द्रिय, भाई, स्त्री, संसारीक सुख आदि मेरेसे अन्य पदार्थ कोई भी मेरा नहीं है क्योंकि यह सब कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हैं, चंचल हैं, क्लेशकारी हैं। इन सब क्षणिक पदार्थोंमें मोह करना वृथा है। ऐसा विचार कर हे जीव! तू अपने हितकारी इस सच्चे मुक्तिके मार्गका आश्रय ग्रहण कर।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

संसारिक जो काम यत्न करके करता बहुत श्रम लिये ।
सो सब क्षणमें नाश होत जैसे मृत्पिंड जलमें दिये ॥
फिर क्यों मूर्ख प्रवृत्ति व्यर्थ अपनी करता क्षणिक कार्यको ।
बुधजन खूब विचार कार्य करते तजते वृथा कार्यको ॥८०॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो आत्माएं कषायोंकी तीव्र बाधासे आकुलित हैं वे संसारमें ही आशक्त रहती हैं, उनको आत्मीक शांतिकी परवाह नहीं रहती है।

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृतिं ।
मुक्तिं नित्यनिरंतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम् ॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते ।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ–(चित्रोपद्रवसंकुलाम्) नानाप्रकारकी आपत्तियोंसे भरे हुए (उरुमलां) महा मलीन, (निःस्वस्थतां) आत्मीक शांतिसे रहित महा आकुलतामय (संसृतिं) इस संसारको तथा

(आपत्तिभिर्वर्जिताम्) सर्व आपत्तियोंसे रहित (नित्यनिरंतरोन्नत-सुखां) व सदा ही बिना अन्तरके उच्च सुखको देनेवाली (मुक्ति) मुक्तिको (कोपि) कोई भी (कषायमोहितमतिः) कषायसे बुद्धिको मूढ़ बनानेवाला (प्राणी) मानव (तत्त्वतो) तत्त्वदृष्टिसे या वास्तवमें (नो बुध्यते) नहीं समझता है। आचार्य कहते हैं फिर वह (अनुत्तमाम् मुक्तिं मुक्त्वा) ऐसी मुक्तिको जिसके समान जगतमें कोई उत्तम पदार्थ नहीं है त्यागकर (अपरथा) उससे विरुद्ध (संसृतौ) संसारमें (किं) क्यों (रज्यते) राग करता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है वह हितकारी पदार्थको छोड़कर बाधाकारी पदार्थको लेता फिरता है। यदि किसी मूर्खको एक हाथसे अमृत व एक हाथसे सूखी रोटी दीजावे तो अमृतको छोड़कर उस रोटीको ही लेलेता है क्योंकि उसको यह विश्वास नहीं है कि अमृतमें क्या गुण है। इसी तरह अज्ञानी प्राणीको यदि श्री गुरु एक तरफ तो मोक्षका स्वरूप बतावें, दूसरी तरफ संसारका स्वरूप बतावें और यह समझावें कि संसार जब जन्म, मरण, शोक, भय, रोग, वियोगादि उपद्रवोंसे रातदिन भरा है तब मोक्ष इन सर्व आपत्तियोंसे बिलकुल दूर है। संसार जब मलीन व आकुलतामय है तब मोक्ष पूर्ण निराकुल व नित्य परमोत्तम सुखको लेनेवाला है तब भी वह मूर्ख अपनी अनादिकालीन आदतके अनुसार अनंतानुबंधी कषायसे अंधा होता हुआ संसारहीमें राग करता है। मोक्षकी तरफ बिलकुल भी अपनी रुचि नहीं पैदा करता है। यही कारण है जो अनेक जीव धर्मोपदेशको सुनते हुए भी नहीं भीजते हैं। रातदिन दूसरे प्राणियोंका मरण

देखते हुए भी अपने कल्याणका उपाय नहीं करते हैं। यह सब मोहका माहात्म्य है। तथापि जिसकी समझमें यह रहस्य आगया है कि संसार त्यागने योग्य है व मोक्ष ग्रहण करनेयोग्य है उसको तो फिर प्रमादके वशीभूत नहीं होना चाहिये और निरंतर आत्मानुभवका उद्यम करके इसलोक तथा परलोकमें सुखी रहना चाहिये।

स्वामी अमितगतिने ही सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

विचित्रवर्णाचितचित्रमुत्तमं यथा गताक्षो न जनो विलोकते ।
प्रदर्श्यमानं न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिर्जीवो जिननाथशासनम् ॥१४५॥

भावार्थ—जैसे अन्धा मनुष्य नाना प्रकार वर्णोंसे बने हुए सुन्दर चित्रको नहीं देख पाता है, इसी तरह नाना प्रकार उत्तम तत्वोंसे भरे हुए जिनेन्द्रके मतको दिखलाए जानेपर भी मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव नहीं समझता है, यह सर्व मोहका तीव्र वेग है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

है संसार मलीन क्लेशकारी नाना उपद्रव भरा ।
सब आपत्ति विहीन मोक्षशाश्वत् परमोच्च वर सुखकरा ॥
है जो मोह कषाय बुद्धधारी नहिं बूझता सत्यको ।
सर्वोत्तम सुख मोक्ष छोड़ रमता संसार निःसत्यको ॥८१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बाहरी पदार्थोंपर इच्छा रखनेसे पापका संचय होता है।

रे दुःखोदयकारणं गुरुतरं बध्नंति पापं जनाः ।
कुर्वाणा बहुकांक्षया बहुविधा हिंसापराः षट्क्रियाः ॥
नीरोगत्वाचकीर्षया विदधतो नापथ्यभुक्तीरमी ।
सर्वांगीणमहो व्यथोदयकरं किं यांति रोगोदयम् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(रे) अरे! बड़े खेदकी बात है कि (जनाः) जगके

प्राणी (बहुकांक्षया) तीव्र विषयभोगोंकी इच्छाके वश होकर (बहुविधा) नाना प्रकारकी (हिंसापराः) हिंसाको बढ़ानेवाली (षट्क्रियाः) असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः तरहकी आजीविका सम्बन्धी क्रियाओंको (कुर्वाणाः) करते हुए (दुःखोदयकारणं) दुःखोंकी उत्पत्तिके कारण (गुरुतरं) ऐसे भारी (पापं) पाप कर्मको (बध्नंति) बांधते रहते हैं। (नीरोगत्वचिकीर्षया) रोग रहित होनेकी इच्छा करके (अमी) ये प्राणी (अपथ्यभुक्तीः) अपथ्य भोजनोंको (विदधतः) करते हुए (अहो) अहो ! (किं) क्या (सर्वांगीणम्) सर्व अंगमें (व्यथोदयकरं) कष्टको पैदा करनेवाले (रोगोदयम्) रोगकी उत्पत्तिको (न यांति) नहीं प्राप्त होंगे ?

भावार्थ-यहांपर आचार्यने बताया है कि जो सच्चे सुखकी वांछा रखते हैं उनको उसका सच्चा उपाय छोड़कर उससे विरुद्ध उपाय नहीं करना चाहिये। सच्चा सुख आत्मज्ञान व आत्मध्यानसे होता है। वह ध्यान परिग्रह त्यागसे भले प्रकार होसक्ता है। जो सच्चे सुखको चाहकर भी दुःखोंको देनेवाले पापोंको नाना प्रकार आरम्भ करते बांधते रहते हैं उनको सुख कभी प्राप्त नहीं होसक्ता। जो बबूल बोता है उसको कांटे ही मिलेंगे, उसको आमके फल कभी नहीं मिल सके हैं। जो पापोंका संचय करेगा उसको दुःख ही मिलेगा उसको सुखका लाभ कैसे होसक्ता है। इसपर दृष्टांत दिया है कि जैसे कोई मानव निरोग रहना चाहे परन्तु बदहजमी करनेवाले ऐसे भोजनोंको खाया करे तो फल उल्टा ही होगा अर्थात् रोग मिटनेकी अपेक्षा रोग बढ़ जायगा। रोगके बढ़नेसे सारे अंगमें भारी कष्टोंको भोगना पड़ेगा।

इसलिये बुद्धिमान प्राणीको सुविचार करके वही काम करना योग्य है जो उसके कामके सिद्ध करनेमें बाधक न हो। सुखके लिये धर्मका सेवन करना जरूरी है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

अवति निखिललोकं यः पितेवादृतात्मा ।
दहति दुरितराशिं पावकेवेन्धनौघम् ॥
वितरति शिवसौख्यं हन्ति संसारशत्रुं ।
विदधति शुभबुद्धया तं बुधा धर्ममत्र ॥६९०॥

भावार्थ—बुद्धिमान लोग यहां उसी धर्मको शुभ बुद्धिसे धारण करते हैं जो आदर किया हुआ सर्व लोगोंको पिताके समान रक्षा करनेवाला है, जो पापके ढेरको इस तरह जलाता है जिस तरह अग्नि ईंधनके ढेरको जलाती है, जो संसाररूपी शत्रुको नाश करता है व जो मोक्षके सुखको देता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

धर तृष्णा बहु करत कार्य हिंसक षट् रूप उद्यम मये ।
बांधत पाप अपार दुःखकारी, नहिं बूझते सत्य ये ॥
जो चाहे नीरोगता पर भखे, भोजन बहुत कष्ट कर ।
पावे रोग महान देह अपनी, पीडे महा दोष कर ॥८२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कर्मशत्रुओंको नाश करनेसे ही मोक्ष सुख प्राप्त होसक्ता है—

रौद्रैः कर्ममहारिभिर्भववने योगिन् ! विचित्रैश्चिरम् ।
नायं नायमवापितस्त्वमसुखं यैरुग्रकैर्दुःसहम् ॥
तान् रत्नत्रयभावनासिलतया न्यक्कृत्य निर्मूलतो ।
राज्यं सिद्धिमहापुरेऽनघमुखं निष्कंटकं निर्विश ॥८३॥

अन्वयार्थ-(योगिन्) हे योगी (भववने) इस संसाररूपी वनमें (यैः) जिन (उच्चकैः) बड़े (रौद्रैः) भयानक (विचित्रैः) नाना प्रकारके (कर्ममहारिभिः) कर्मरूपी तीव्र शत्रुओंके द्वारा (चिरम्) अनादि कालसे (त्वम्) तूने (दुःसहम्) असहनीय (अतुलं) दुःखको (अवापितः) पाया है (अयं न अयं न) ऐसा कोई कष्ट बाकी रहा नहीं जो तूने न पाया हो। (तान्) उन कर्मरूपी शत्रुओंको (रत्नत्रयभावनासिलतया) सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रकी एकतारूपी आत्मध्यानकी तलवारसे (निर्मूलतः) जड़मूलसे (न्यक्कृत्य) नाश करके (सिद्धिमहापुरे) मोक्षके महान नगरमें जाकर (अनघसुखं) पापरहित आनंदसे भरे हुए (निष्कंटकं) तथा सर्व बाधारहित (राज्यं) राज्यको (निर्विश) प्राप्त कर।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने बताया है कि इस जीवके साथमें अनादिकालसे कर्मरूपी शत्रुओंका सम्बन्ध चला आता है। ये कर्म बड़े भयानक हैं व नाना प्रकारका कष्ट इस संसार बनमें इस मोही जीवको दे रक्खा है। कभी निगोदमें, कभी नर्कमें, कभी पृथ्वी आदि पर्यायमें, कभी कीड़ों मकोड़ोंमें, कभी पशुपक्षियोंमें, कभी रोगी व दलिद्री मानवोंमें, कभी नीच देवोंमें जन्म कराकराकर ऐसा कोई शारीरिक व मानसिक कष्ट बाकी नहीं रहा है जो न दिया हो। ये कर्म-शत्रु बड़े निर्दयी हैं। जितना इनसे मोह किया जाता है व जितना इनका आदर किया जाता है उतना ही अधिक ये इस प्राणीको घोर दुःखोंमें पटक देते हैं। जबतक इनका नाश न होगा तबतक स्वाधीन आत्मीक स्वराज्य प्राप्त न होगा। इसीलिये आचार्य कहते हैं कि श्री जिनेन्द्र भगवानने जिस अभेद रत्नत्र-

यकी बनी हुई स्वानुभव रूपी खड़गका पता बताया है उस खड़-गको एक मन होकर ग्रहण कर और उसीका बलपूर्वक अभ्यास कर। इसी तलवारसे कर्मोंका जड़मूलसे नाश होजाता है। वे कर्म वीरे२ सब भाग जाते हैं। वे इस यात्रीको मोक्षनगरके जानेमें विघ्न करते थे सो हट जाते हैं और यह सुगमतासे मोक्षकी अनुपम राजधानीमें प्रवेश करके परमोत्त्व अनुपम आत्मीक आनन्दका निरंतर बेखटके भोग करता रहता है।

स्वामी पद्मनंदि सद्बोधचंद्रोदयमें कहते हैं कि ध्यानसे ही कर्मोंका नाश होता है—

योगतो हि लभते विबंधनम् योगतोऽपि किल मुच्यते नरः।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥ २६ ॥

भावार्थ—योगको अशुद्ध रखनेसे कर्मोंका बंध होता है तथा शुद्ध योगसे अवश्य यह मानव कर्मोंसे छूट जाता है। यद्यपि ध्यानका मार्ग कठिन है तथापि जो मोक्षका चाहनेवाला है उसको गुरुके वचनोंसे इस सर्व ध्यानके मार्गको समझ लेना चाहिये।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद।

हे योगी हैं कर्म शत्रु दुर्गम नाना तरह रूप धर।
भववनमें दुःसह दुःख दुखको दीने बड़े हैं प्रबल ॥
रत्नत्रयमय खड्ग वेग गहकर निर्मूल उन नाशकर।
जा निष्कंटक राज्य मोक्षपुरका पावे सुखी होयकर ॥८३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो कोई आत्मोन्नतिको लक्ष्यमें लेकर तप करता है उसको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है—

मंदाक्रांता वृत्त।

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमापद्यतेऽसौ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव ॥

न प्राप्यंते क्वचन कलमाः कोद्रवे रोप्यमाणे-
विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वते स्वार्थमेव ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ-(यः) जो कोई (बाह्यार्थं) बाहरी धन, राज्य, स्वर्ग आदिके हेतुसे (तपसि) तप करनेमें (यतते) उद्यम करता है (असौ) वह (बाह्यम्) बाहरी ही पदार्थको (आपद्यते) पाता है। (तु) परन्तु (यः) जो (आत्मार्थं) आत्माकी सिद्धिके लिये तप करता है (सः) वह (लघु) शीघ्र (पूतम्) पवित्र (आत्मानं) आत्माको (एव) ही (लभते) पाता है। (कोद्रवे रोप्यमाणेः) कोदों यदि बोए जावें तो उनसे (क्वचन) कभी भी (कलमाः) चावल (न प्राप्यंते) नहीं मिल सक्ते हैं (इत्थं) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (कुशलमतयः) निपुण बुद्धिवाले (स्वार्थम्) अपने आत्माके कार्यको (एव) ही (कुर्वते) करते हैं।

भावार्थ-आचार्यने बताया है कि तप करनेमें अनेक गुण हैं। जो इस भावसे तप करते हैं कि हमें पुण्यबंध हो व उस पुण्यसे हम बाहरी सम्पत्ति, राज्यधन, स्वर्ग आदि प्राप्त करें तो उनका भाव पवित्र व शुद्ध नहीं होता है। उनके भावोंमें शुभ भाव मात्र होते हैं जिनसे वे पुण्य बांधकर बाहरी पदार्थ प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अपना निर्मल अविनाशी मोक्षपद है वह उनको कभी भी प्राप्त नहीं हो सक्ता। इसलिये जो कोई बुद्धिमान आत्मशुद्धिके हेतुको मनमें रख-कर शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिये आत्मध्यानादि तप करते हैं उनको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है, वे अवश्य मुक्त होजाते हैं। जैसा बीज बोया जायगा वैसा फल होगा। शुभोपयोगसे पुण्य बंध होता है तब शुद्धोपयोगसे कर्मोंका नाश होता है। यदि कोई कोदों

बोवे और चाहे कि चावल पैदा हों तो कभी भी चावल नहीं मिल सके—कोदोंसे कोदों ही पैदा होगा। चावलके चाहनेवालेको चावल ही बोना उचित है। प्रयोजन यह है कि ज्ञानीको तुच्छ सुखके लिये तप ऐसे महान परिश्रमको न करके मात्र आत्माधीन पवित्र सुखके लिये व सदाकालके लिये बन्धनोंसे मुक्त होनेहीके लिये तप करना योग्य है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें मोक्षप्राप्तिके लिये ज्ञानपूर्वक तप करनेकी शिक्षा देते हैं:—

आत्मायत्तं विषयविरसं तत्त्वचिन्तावलीनं ।
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णं ॥
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं ।
कृत्वात्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥२८॥

भावार्थ-हे सुबुद्धि! अपने आत्माको स्वाधीन करके व इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर, तत्वकी चिंतामें लीन होकर, संसारीक व्यापारोंसे रहित होकर व आत्महितमें तल्लीन होकर व निराकुल आनन्दमें पूर्ण होकर, ज्ञानके भीतर आरूढ़ होकर, शांतभाव, मनका दमन व तप तथा ध्यानमें प्रवृत्ति करके तू केवलज्ञानका स्वामी बन। वास्तवमें इच्छारहित आत्मध्यान ही परमात्माके पदके लाभका उपाय है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो बाहर धन आदि हेतु तपता सो बाह्यको पावता ।
जो निजआतम हेतु ध्यान करता शुचि आत्मको पावता ॥
जो कोदोंको बोवता नहिं कभी वह सालिको पावता ।
ऐसा जान विशाल बुद्धिकारी निज कार्य उर लावता ॥८४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी लोग धन आदि

बाहरी पदार्थोंको ही अपना समझते हैं-

कांतासद्मशरीरजमभृतयो ये सर्वथाप्यात्मनो।
भिन्नाः कर्मभवाः समीरणचला भावा बहिर्भाविनः॥
तैः संपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानंति ये शर्मदां।
स्वं संकल्पवशेन ते विदधते नाकीशलक्ष्मीं स्फुटम् ॥८९॥

अन्वयार्थ-(ये) जो (कांतासद्मशरीरजप्रभृतयः) ये स्त्री, मकान, पुत्र आदि पर्याय (सर्वथापि) सर्व प्रकारसे ही (आत्मनः भिन्नाः) अपने आत्मासे भिन्न हैं (बहिर्भाविनः भावाः) बाहर रहनेवाले पदार्थ हैं (समीरणचलाः) तथा पवनके समान चंचल हैं-टिकनेवाले नहीं हैं (कर्मभवाः) सो सब कर्मोंके उदयसे होनेवाले हैं। (इह) इस जगतमें (ये) जो (गतधियः) बुद्धिरहित प्राणी (तैः) इन ही पदार्थोंसे (आत्मनः) अपनेको (शर्मदां) सुख देनेवाली (संपत्तिं) संपत्ति (जानंति) जानते हैं (ते) वे (स्फुटम्) प्रगटपने (संकल्पवशेन) अपने मनके संकल्पसे ही (स्वं) अपने पास (नाकीशलक्ष्मीं) स्वर्गकी लक्ष्मीको मानो (विदधते) प्राप्त करते रहते हैं।

भावार्थ-यहांपर यह दिखलाया गया है कि जो मूर्ख क्षणभंगुर पदार्थोंके सम्बन्ध होनेपर उनको अपनी सम्पत्ति मान लेते हैं वे अंतमें पछताते हैं और शोकमें ग्रसित होते हैं। जगतमें स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धुजन आदि चेतन पदार्थ तथा धन, धान्य, राज्य, ग्रह आदि अचेतन पदार्थ जब किसीको मिलते हैं तब कुछ पुण्यकर्मका उदय होता है तब मिलते हैं और जगतके पुण्यकर्मका सम्बंध रहता है तबतक ही उनका सम्बन्ध रहता है, पुण्यके क्षय होनेपर उनका सम्बन्ध इतनी जल्दी छूट जाता है जैसे पवन

चहते हुए निकल जाती है। न तो इन पदार्थोंके सदा साथ रहनेका निश्चय है और न अपना ही उनके साथ सदा बने रहनेका निश्चय। क्योंकि इन बाहरी पदार्थोंका सम्बन्ध यदि है तो मात्र इस देहके साथ है, देह आयुकर्मके आधीन है अवश्य छूट जायगी तब चक्रवर्तीको भी सर्व सम्पत्ति यहीं छोड़ देनी पड़ती है। आत्मा अकेला अपने पुण्य तथा पापके बंधनको लिये हुए दूसरी गतिमें चला जाता है। इन पदार्थोंको सुखदाई मानना भी भूल है। इनके लाभ करनेमें, इनकी रक्षा करनेमें, इनके वियोग होनेपर, इनके बिगड़नेपर प्राणीको खेद व दुःख ही अधिक होता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञानी जीव इनको अपने आत्माकी सुखदाई सम्पत्ति नहीं मानता है। वह ज्ञानदर्शन सुख वीर्य आदि आत्मीक गुणोंको ही अपनी अटूट व अविनाशी सम्पदा मानता है। अज्ञानीका इन अनित्य पदार्थोंको अपना मानना ऐसी ही मूर्खता है जैसे कोई अपने मनमें ऐसा माना करे कि मैं तो स्वर्गका इन्द्र हूं व देव हूं, मैं स्वर्गमें रमण कर रहा हूं। जैसा यह संकल्प झूठा है मात्र एक ख्याल है, वैसे ही अनित्य पदार्थोंको अपना मानना एक ख्याल है व भ्रम है। स्वामी पद्मनंदि अनित्यपंचाशतमें कहते हैं—

हंति व्योम स मुष्टिनात्र सरितं शुष्कां तरत्याकुल—
स्तृष्णार्तोथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन् ॥
प्रोत्तुंगाचलचूलिकागतमरुत् प्रेंखत् प्रदीपोपमै—
र्यत् संपत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः ॥४३॥

भावार्थ—जो कोई मानव धन, पुत्र, स्त्री आदि अनित्य पदार्थोंके होते हुए इनको अपना मानकर मद करता है वह मानो आका-

झको अपनी मुट्ठीसे मारता है, सूखी नदीमें तैरता है, प्याससे घबड़ाया हुआ मृगजलको पीता है। ये सब स्त्री पुत्रादि पदार्थ इसी तरह नाश होनेवाले हैं जैसे ऊंचे पर्वतकी चोटीसे आई हुई हवाके झोकेसे दीपककी लौ बुझ जाती है। इनको अपना मानना मूर्खपना है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो दारा सुत गृह अनित्य वस्तू हैं भिन्न निज आत्मसे।
रहते बाहर देह संग चंचल हों पुण्य परतापसे ॥
जो मूरख संपत्ति जान उनको सुखदाय सो दुख सहै।
मानो माने देव लक्ष्मि धरता मन बीच सोचा करै ॥ ८५ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जगतके पदार्थोसे राग दुःखकारी है जब कि वैराग्य सुखकारी है—

मंदाक्रांता छन्द ।

यद्रक्तानां भवति भुवने कर्मबंधाय पुंसां ।
नीरागाणां कलिमलमुचे तद्धि मोक्षाय वस्तु ॥
यन्मृत्यर्थं दधिगुडघृतं सन्निपाताकुलानां ।
नीरोगाणां वितरति परां तद्धि पुष्टिं प्रकृष्टाम् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(भुवने) इस लोकमें (यद् वस्तु) जो पदार्थ (रक्तानां) रागी पुरुषोंके लिये (कर्मबंधाय) कर्मोके बन्धके लिये (भवति) होता है (तत् हि) वह ही पदार्थ (नीरागाणां) वीतरागी पुरुषोंके लिये (कलिमलमुचे मोक्षाय) कर्मरूपी मैलको छुड़ाकर मोक्षके लिये होता है जैसे (यत् दधिगुडघृतं) जो दही गुड़ तथा घी (सन्निपाताकुलानां) सन्निपातसे व्याकुल पुरुषोंके लिये (मृत्यर्थं) मरणके लिये होता है (तत् हि) वह ही (नीरोगाणां) निरोगी

पुद्गलोंकि (परां प्रकृष्टां पुष्टिं) बहुत पुष्टि या शक्ति (वितरति) देता है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने दिखलाया है कि परपदार्थ न बंधका कारण है न मोक्षका कारण है। असलमें रागभाव या ममताभाव कर्मबंधका कारण है और ममता रहित वीतरागभाव कर्मोंके नाशका कारण है। जिनके पास धन धान्य परिग्रह न हो परन्तु रागद्वेष या परिग्रहका ममताभाव बहुत अधिक हो तौ उनके कर्मोंका बन्ध होजायगा तथा जिन ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीवोंके पास धनादि परिग्रह हो पर जो अपने स्वाभाविक ज्ञान व वैराग्यके बलसे उसको अपनी वस्तु नहीं जानते हों किन्तु मात्र पुण्योदयसे प्राप्त परवस्तु मानते हों उनके चित्तमें मोहभाव नहीं होता है। इससे यह परिग्रह उनके लिये अधिक कर्मकी निर्जराका कारण है। चारित्रमोहके उदयसे उनके जो अल्प रागद्वेष होता है उससे जो कर्मबंध होता है वह इतना कम है कि वह संसारके भ्रमणका कारण नहीं होता है। जबकि मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीवके भावोंमें धनादि परिग्रह हो या न हो, जगतके पदार्थोंसे बड़ा भारी ममत्व होता है इसलिये वह बहुत अधिक बंध करता है। अज्ञानीका बंध संसारभ्रमणका कारण है। परन्तु ज्ञानीका बन्ध मोक्षमें बाधक नहीं है। उस ज्ञानीके जितना२ वीतरागभाव बढ़ता जाता है उतनी२ अधिक निर्जरा होती जाती है। समवशरणमें बहुत रत्नोंकी व सुवर्ण आदिकी रचना होती है वहीं श्री केवली भगवान विराजमान होते हैं। केवली भगवान पूर्ण वीतराग हैं उनके उस समवशरणकी विभूतिसे रञ्चमात्र भी कर्मोंका बंध नहीं होता है। प्रयोजन कहनेका यह है कि रागी जीवके परिग्रह बन्धका कारण है तथा वीतरागीके वह निर्जराका

कारण हैं। जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ होते हैं वह धनादिका संचय करते हैं उनके पिछले कर्मोंकी निर्जरा अधिक होती है क्योंकि वे भीतरसे उसके साथ मोह नहीं रखते हैं परन्तु जितने अंश राग-भाव है उतने अंश बहुत थोड़ा कर्मबंध होता है। यहांपर दृष्टांत दिया है कि दही गुड़ और घी ऐसे पदार्थ हैं जिनको सन्निपात वाला खालेवे तो उसका मरण होजावे परन्तु यदि उनको निरोगी मानव खावे तो उसको बहुत अधिक बल प्राप्त हो। एक ही वस्तु किसीको हानिका निमित्त व किसीको लाभका निमित्त होती है। इसतरह ज्ञानीको धनादि परिग्रह निर्जरा व मोक्षका कारण है जब कि अज्ञानीको वह आस्रव तथा कर्मबंधका कारण है।

तात्पर्य—यह है कि हमको वीतरागी होनेका यत्न करना चाहिये। वह वीतराग भाव पदार्थोंके सच्चे स्वरूपके ज्ञानसे होता है। ज्ञानकी महिमा स्वामी अमितगतिने सुभाषित-रत्नसंदोहमें इस तरह कही है—

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानां।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेऽप्यभीष्टम् ॥१९॥

भावार्थ—ज्ञानके विना मानवोंका अहितसे बचना व हितमें प्रवर्तना असंभव है। विना स्वात्महितमें प्रवृत्ति किये पूर्व कर्मोंका नाश नहीं होसक्ता है और विना कर्मोंके नाशके कोई अपने इष्ट सच्चे मोक्षसुखको कभी भी नहीं पासक्ता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जगमें जो जो वस्तु कर्मबंधन रागी जनोंको करै।
सो सो वस्तु विरागभाव धरके हर कर्म मुक्ती करै॥

जो वधि गुड़ घी सन्निपात घरके तनको वियोगी करै।
सो ही रोगरहित पुरुष यदि भखै अत्यन्त पुष्टी करै ॥८६॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं लोभ कषाय ज्ञानी मानवोंको भी संतापका कारण है–

सम्यग्दर्शनबोधसंयमतपःशीलादिभाजोऽपि नो ।
संक्लेशो विनिवर्तते भवभृतो लोभानलं बिभ्रतः ॥
विभ्राणस्य विचित्ररत्ननिचितं दुष्पापपारं पयः ।
संतापं किमुदन्वतो न कुरुते मध्यस्थितो वाडवः ॥८७॥

अन्वयार्थ–(भवभृतः) संसारमें रहनेवाले प्राणीके (सम्यग्दर्शनबोधसंयमतपःशीलादिभाजः अपि) जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम, तप व शील आदि गुणोंका रखनेवाला भी है परन्तु यदि (लोभानलं बिभ्रतः) उसके मनमें लोभकी आग जल रही है तो उसके पाससे (संक्लेशो) संक्लेशभाव (नो विनिवर्तते) नहीं हटता है। (विचित्ररत्ननिचितं) नाना प्रकार रत्नोंके समूहको व (दुष्पापपारं पयः) जिसका पार करना कठिन है ऐसे जलको (विभ्राणस्य) धारण करनेवाले (उदन्वतः) समुद्रके (मध्यस्थितः) बीचमें रहा हुआ (वाडवः, दावानल (किं) क्या (संतापं) संतापको या क्षोभको (न कुरुते) नहीं करता है?

भावार्थ–यहांपर यह बात दिखलाई है कि लोभकषाय महान आकुलता व संक्लेशभावका कारण है। साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या–यदि कोई सम्यग्दृष्टी व ज्ञानी संयमी साधु भी हों और उनके भीतर यदि कभी प्रतिष्ठा पानेका, पूजा करनेका, रस सहित भोजन पानेका इत्यादि किसी प्रकारका लोभ होजावे तो उसके

परिणाम शांत व स्वस्थ न रहेंगे। जब वह लोभको हटाकर संतोषी व शांत होगा तब ही उसका मन क्षोभरहित होगा। जैसे समुद्रमें अगाध जल होता है व रत्न भी होते हैं परन्तु उसके मध्यमें जो बड़वानल जलती है उससे समुद्रका जल सदा क्षोभित रहता है—निश्चल नहीं ठहर सक्ता। यहां यह बताया है कि सम्यग्दृष्टी होकर भी निश्चिन्त रहना चाहिये किंतु सर्व लोभके मैलको हटानेके लिये परिग्रहका त्याग करके निर्लोभी होजाना चाहिये। निर्लोभी ही आकुलता रहित आत्मध्यान कर सक्ते हैं इसलिये लोभ कषायको जीतना आवश्यक है।

स्वामी अमितगतिजीने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

चक्रधरकेशवहलायुधभूषितोपि ।
सतोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति ॥
तृप्तिं विना न सुखमित्यवगम्य सम्य-
ग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवन्ति धीराः ॥७९॥

भावार्थ—चक्रवर्ती, नारायण आदिकी बहुत विभूति व आयुध आदिसे विभूषित होनेपर भी यदि किसी मानवमें संतोष नहीं है तो उसको कभी तृप्ति नहीं मिल सक्ती है। जहां मनमें तृप्ति नहीं वहां कभी सुख नहीं प्राप्त होसक्ता ऐसा जानकर धीर पुरुष कभी भी लोभ रूपी पिशाचके वशीभूत नहीं होते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान संयममयो तप शील धारे सही।
पर मनसे तृष्णा तजे नहिं कभी संक्लेश त्यागे नहीं ॥
नाना रत्न समूह धार उदधी जलका नहीं पार है।
बड़वानल तिसमध्य नित्य जलता संताप कर्तार है ॥८०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोहांध पुरुष परके पदार्थको अपना ही समझ लेते हैं परन्तु निर्मोही नहीं समझते।

मंदाक्रांता वृत्तम्।

मोहांधानां स्फुरति हृदये बाह्यमात्मीयबुध्या।
निर्मोहानां व्यपगतमलः शश्वदात्मैव नित्यः॥
यत्तद्भेदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीयै-
र्मोहं चित्त ! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन ॥८८॥

अन्वयार्थ—(मोहांधानां) मोहसे अन्धे जीवोंके (हृदये) हृदयमें (बाह्यम्) बाह्य स्त्री, पुत्र शरीरादि पदार्थ (आत्मीयबुद्ध्या) अपने आत्मापनेकी बुद्धिसे अर्थात् वह अपना ही है ऐसा (स्फुरति) झलकता है। (निर्मोहानां) मोह रहित पुरुषोंके हृदयमें (व्यपगतमलः) कर्ममैलसे रहित (नित्यः) अविनाशी (आत्मा एव) आत्मा ही (शश्वत्) सदा अपनापनेकी बुद्धिसे झलकता है। (चित्त) हे मन ! (यदि यत्) अगर जो (तद्भेदं) इन दोनोंके भेदको (ते विविदिषा) तू समझ गया है (तदा) तब (स्वकीयैः) इन अपनोंसे अर्थात् इन स्त्री पुत्रादिसे जिनको तूने अपना मान रक्खा है (स्वकीयं) अपने इनका (दुष्टं) दुष्ट (मोहं) मोह (किं न) क्यों नहीं (क्षणेन क्षपयसि) क्षणमात्रमें नाश कर देता है।

भावार्थ—जहांतक संसारी जीवोंके हृदयमें मिथ्यात्व कर्मका उदय है कि जिससे उनके मिथ्याभाव रहता है वहांतक वे पर वस्तुको अपनी माना करते हैं। जो शरीर क्षणभंगुर है उसे अपना मान लेते हैं, फिर शरीरके सम्बन्धी संपूर्ण पदार्थोंको अपना मान लेते हैं, उनकी बुद्धि बिलकुल अंधी होजाती हैं परन्तु जब मिथ्यात्व चला जाता

है और सम्यग्दर्शनका प्रकाश होजाता है तब पदार्थोंका सच्चा स्वरूप जैसाका तैसा झलक जाता है। तब यह ज्ञानी जीव मात्र एक अपने आत्माके ही शुद्ध स्वभावको अपना जानता है। रागादि भावोंको, आठ कर्मोंको व शरीरादिको व अन्य बाहरी पदार्थोंको अपना कभी नहीं जानता है। वह देख करके निर्णय करलेता है कि सर्व पदार्थ विलय होते जाते हैं। किसीका सम्बंध मेरे आत्माके साथ नित्य नहीं रहता है। शरीर ही जब छूट जाता है तब दूसरे पदार्थकी क्या गिनती? तब वह ज्ञानी अपने मनको समझाता है कि जब तू भले प्रकार जान गया है कि जगतका एक परमाणु मात्र भी अपना नहीं है तब फिर तू क्यों मूढ़ बनता है और क्यों नहीं अपनी भूलको छोड़ता है। तूने जिन शरीरादि पदार्थोंको अपना मान रक्खा है वे सब तेरे नहीं होने तब तेरा उनसे मोह करना वृथा है। तू मात्र अपने स्वामी आत्माको ही अपना मान। वास्तवमें जिनके यथार्थ निर्णय होजाता है उनके दुर्बुद्धि नहीं पैदा होती है।

श्री अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

यथार्थतत्त्वं कथितं जिनेश्वरैः सुखावहं सर्वशरीरिणां सदा ।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो न भव्यजीवो विदधाति दुर्मतिम् ॥ १५७॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवानने सर्व शरीरधारी प्राणियोंको सदा सुख देनेवाले यथार्थ तत्वका कथन किया है। जो अपने कानोंसे सुनकर दिलमें रखता है व ठीकर निश्चय कर लेता है वह भव्य-जीव फिर मिथ्याबुद्धि नहीं करता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो मिथ्याती मोह अन्धमति हो पर वस्तु निज मानता ।
सम्यक्‌ो निजआत्म नित्य निर्मल उसको न निज जानता ॥

है मन ! ऐसा भेद ज्ञान करके निज आत्ममें लीन हो।
वरले अपना मोह सर्व हरले मत दुखसे छीन हो ॥ ८८ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतरागी तपस्वी ही मोक्षके अधिकारी हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः ।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहायकं कुर्वता ॥
तप्यंते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा ।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम् ॥८९॥

अन्वयार्थ—(स्वात्मारोपितशीलसंयमभराः) जो शील व संयमके भारसे भरे हुए अपने आत्मामें ही लीन हैं (त्यक्तान्यसाहाय्यकाः) जिन्होंने परवस्तुके आलम्बनका त्याग किया है (साहायकं कुर्वता कायेन अपि विलक्षमाणहृदयाः) जिनका मन ध्यानके साधनमें सहाय करनेवाले इस शरीरसे भी उदास हैं ऐसे साधु (परदुष्करं गुरुतपः तप्यंते) बहुत भारी कठिन तपस्या तपते हैं (तत्र अपि ये निस्पृहाः) परन्तु उस तपमें भी जो वांछा नहीं रखते हैं अर्थात् जिनका लक्ष्य निज आत्मानुभवपर है (ते) वे (भूरिभयदं) इस अत्यन्त भय देनेवाले (जन्मारण्यं) संसार वनको (अतीत्य) उल्लंघन करके (निर्वृतिम्) मोक्षको (गच्छंति) चले जाते हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने मोक्षके अधिकारी तपस्वियोंका स्वरूप बताया है कि जो शील व संयम पालते हुए भी अपने आत्माके स्वभावमें लीन होनेको ही असली शील व संयम समझते हैं, तथा जिन्होंने अपने मनको ऐसा वश कर लिया है कि उस मनको दूसरोंकी मदद नहीं लेनी पड़ती है। शास्त्र व गुरूपदेशका

सहारा भी छोड़कर जिनका मन स्वरूपमें तन्मय है। यद्यपि इस शरीरकी ही मददसे वे अपना आत्मसाधन करते हैं तथापि इससे अत्यन्त विरागी हैं–इसका सम्बंध मिटाना ही चाहते हैं। वास्तवमें उनका सारा उद्यम इस शरीरके कारावाससे निकल कर स्वतन्त्र होनेका है। शरीरको दुष्ट चाकरके समान कुछ थोड़ासा भोजनपान देकर जीवित रखने हैं। ऐसे साधु निर्जन वन, पर्वत, नदीतट, वृक्ष-तल आदि कठोर व दुर्गम स्थानोंपर खड़े हो या बैठकर एकाग्र मन हो आत्माधीन तप तपते हैं तौभी उस तपमें प्रेम नहीं रखते हैं, तप करनेको वह एक सीढ़ी मात्र जानते हैं, ध्यान अपने स्वाधीन सुखके लाभमें ही रखने हैं। ऐसे वीतरागी आत्मरसी साधु महात्मा ही कर्मोंकी निर्जरा करके भयानक संसार–वनसे निकल कर परमा-नन्दमई मोक्षमें पहुंच जाते हैं।

वास्तवमें आत्मानुभवी साधु ही सच्चे सुखके पात्र हैं। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहने हैं—

निवृत्तलोकव्यवहारवृत्तिः संतोषवानस्तसमस्तदोषः ।
यत्सौख्यमाप्नोति गतान्तरायं किं तस्य लेशोपि सरागचित्तः ॥२३७॥

भावार्थ–जिसने अपनी वृत्तिको सर्व लौकिक व्यवहारसे हटा लिया है, जो अत्यन्त संतोषी है व सर्व दोषोंसे रहित है, वह जैसे बाधारहित सुखको पाता है ऐसे सुखके लेश अंशको भी सराग मनवाला नहीं पासक्ता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

पर आलम्बन छोड़ आत्म रमते निज शील संयम भरे।
तप सहकारि शरीर मात्रसे भो वैराग दृढ़तर धरे॥

दुष्कर गुरुतर तपश्चरण करते वांछा न तपकी करें ।
सो तपसी भयदाय भववन तजें शिवनारिको जा वरें ॥८९॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि ऐसे तपसी जो पुण्यकी वांछा भी नहीं रखते, बहुत दुर्लभ हैं-

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम् ।
विज्ञायेत्यशुभं निहंतुमनसो ये पोषयंते तपः ॥
जायंते शमसंयमैकनिषयस्ते दुर्लभा योगिनो ।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ-(पूर्वं अशुभं कर्म) पहलेका बांधा हुआ पापकर्म (दुःखं) दुःखको व (शुभं निर्मितम्) शुभ कर्म बांधा हुआ (सौख्यं) सुखको (करोति) करता है (इति) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (ये) जो (अशुभं निहंतुमनसः) पाप कर्मको नाश करनेकी मनसा करके (तपः पोषयंते) तपका साधन करते हैं (ते) वे (शमसंयमैकनिधयः) शांति व संयमके एक निधिरूप (योगिनः) योगी (दुर्लभा जायंते) बहुत कठिनतासे मिलते हैं। (तु) परन्तु (ये) जो (अत्र) इस जगतमें (उभयकर्मनाशनपराः) पुण्य पाप दोनों कर्मोंके नाशमें उद्यमी हों (तेषां) उन साधुओंके सम्बन्धमें (अत्र) यहां (किं उच्यते) क्या कहा जावे ? अर्थात् वे तो दुर्लभ ही हैं ।

भावार्थ-इस कथनसे आचार्यने बताया है कि वास्तवमें वही मोक्ष मार्ग है जहांपर पुण्य तथा पाप दोनोंसे विरक्त हो मात्र शुद्ध आत्माकी ओर लक्ष्य रक्खा जावे। निरपेक्षपना ही एक साधुका लक्ष्य है। आत्मानन्दमें मगन रहना ही साधुका चिह्न है। यद्यपि इस कालमें ऐसे विरले ही साधु मिलते हैं तथापि इसी रत्नत्रयमई भावको

मोक्षमार्ग श्रद्धान करना चाहिये। पापकर्मोंके उदयसे जीव संसारमें दुःख पाते हुए व पुण्य कर्मोंके उदयसे जीव सुख पाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। यदि यह सुख ध्रुव होता, तृप्तिकारी होता व आगामी पापबन्धकारी न होता तब तो इस सुखको भी त्यागने योग्य न मानता। परन्तु इस सुखको महात्मा पुरुषोंने मृगजलके समान क्षोभकारी व तृष्णा वर्द्धक माना है। इस जगतमें ऐसे साधु भी कम हैं जो सर्वथा पापोंसे बचते हुए पुण्यके हेतुसे तपस्या करते हैं। वे यद्यपि यथार्थ मोक्षमार्गसे पतित हैं तथापि जगतको अपकारी नहीं हैं। प्रशंसनीय तो वे ही महात्मा साधु हैं जो आत्मानंदके प्रेमी होकर आत्मामें ही रमण करते हैं। इसी भावको ग्रहणकर पाठकोंको स्वात्मलाभ करके अपना हित कर्तव्य है।

श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वभावनादशकमें कहा है:—

चैतन्यस्वसंवित्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा ।
लब्ध्वा कथं कथंचिच्चेच्चिंतनीया मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥
मोक्ष एव सुखं साक्षात् तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः ।
संसारेत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—अपने चेतन स्वभावका अनुभव दुर्लभ है परन्तु वह भी मोक्षको देनेवाला है। किसी भी तरहसे उसको पाकर वारवार उसका चिन्तवन करना चाहिये। मोक्षही साक्षात् सुख है, उसीका ही साधन मुमुक्षु पुरुषोंको करना योग्य है। वह सुख संसार भावमें नहीं है, जो कुछ है वह वह सुख नहीं है जो आत्मीक मोक्षका सुख होता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

पूरब पाप करे जु दुःख बहु दे शुभ कर्म सुख देत हैं।
ऐसा लख सब अघविनाश अर्थ तप मांहि चित देत हैं॥

'ऐसे योगी संयमी चितसमी दुर्लभ हु इस काल हैं।
अति दुर्लभ शुभ अशुभ हनन तपसी वे सत्य शिवसुख लहैं॥६०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधुजन सदा कर्मशत्रुओंके नाशमें उद्यमी रहते हैं—

विच्छेद्यं यदुदीर्य कर्म रभसा संसारविस्तारकम्।
साधूनामुदयागतं स्वयमिदं विच्छेदने कः श्रमः॥
यो गत्वा विजिगीषुणा बलवता वैरी हठाद्धन्यते।
नाहत्वा गृहमागतः स्वयमसौ संत्यज्यते कोविदैः॥९१॥

अन्वयार्थ—(साधूनां) साधुओंके लिये (यत् संसारविस्तारकं कर्म) जो कर्म संसारका बढ़ानेवाला है (रभसा उदीर्य) उसे शीघ्र उदयमें लाकर (विच्छेद्यं) छेदना उचित है तब फिर (स्वयं उदयागतं इदं) अपने आप ही उदयमें आए हुए इस कर्मको (विच्छेदने) नाश करनेमें (कः श्रमः) क्या परिश्रम है या क्या कठिनता है। (बलवता) बलवान (विजिगीषुणा) विजयको चाहनेवाला पुरुष (गत्वा) जाकरके (यः वैरी) जिस शत्रुको (हठात्) बलपूर्वक (हन्यते) मारता है (असौ) यह शत्रु (स्वयम्) अपने आप ही (गृहम्) घरमें (आगतः) आगया तब (कोविदैः) बुद्धिमान (अहत्वा) विना मारे (न संत्यज्यते) नहीं छोड़ते।

भावार्थ—आत्माके शत्रु कर्म हैं क्योंकि ये कर्म ही बंधनमें डाले हुए आत्माकी स्वाधीनताको हरण किये हुए हैं। चारों गतियोंमें अनेक शारीरिक व मानसिक कष्ट देनेमें कारणभूत ये कर्मरूपी शत्रु ही हैं। जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी महात्मा कर्मोंको अपना घातक समझ लेते हैं वे अपनी स्वाधीनता पानेके लिये उद्यमी होकर यह

चित्तमें ठान लेते हैं कि किसी भी तरह इन कर्म-शत्रुओंका सर्व-नाश करना चाहिये। इसीलिये घर तज बनमें जाते हैं और तपस्या करके कर्मोंको, जो दीर्घकालमें नाश होते, उनको शीघ्र उदयमें लाकर नाश करते रहते हैं। ऐसे साधुओंके सामने यदि कर्मशत्रु स्वयं उदयमें आकर यहांतक कि उदीरणारूप बहुत अधिक उदयमें आकर उपसर्ग व परीषह द्वारा दुःख पैदा करके नाश होने लगें तो साधु उस समय बड़ा हर्ष मानते हैं व उनके नाश होनेमें कुछ भी अपना बिगाड़ नहीं करते। प्रयोजन यह है कि जब साधुओंको तीव्र असातावेदनी कर्मकी उदीरणासे घोर उपसर्ग पड़ जावें व घोर परीषह सहना पड़ें तो वे साधु उस समय अपने आत्मध्यानमें निश्चल रहकर उन आए हुए कर्मशत्रुओंको क्षय होने देते हैं। उस समय यदि साधु संक्लेश भावधारी हो जावें तो नवीन असाता कर्मको बांध लेवें तब मानों उन्होंने शत्रुको नाश नहीं किया, उल्टा आप कर्म-शत्रुके बन्धनमें फंस गए। परन्तु सच्चे पुरुषार्थी साधु संकटोंके समय उत्तम क्षमाकी ढालसे अपने भावोंको पवित्र व आत्मरमी रखते हैं इससे उन कर्मोंका बड़ी सुगमतासे क्षयकर डालते हैं। बहुधा उपसर्ग पड़नेपर साधुओंको तुर्त केवलज्ञान होजाता है। अभिप्राय यह है कि साधुओंको कर्मोंका आक्रमण होनेपर उनको समताभावसे नाशकर डालना चाहिये—कभी भी आकुलित न होना चाहिये। उस वक्त यह ही वीरभाव धारना चाहिये कि जैसा कोई वीर योद्धा अपने मनमें रखता है। किसी शत्रुको विजय करनेके लिये उसको चढ़ाई करके जाना था। कारणवश वह शत्रु यदि स्वयं चढ़ करके आगया तब वह वीरयोद्धा अपनी अकाट्य सेना द्वारा उस शत्रुका व उसके

दलका नाश करनेमें कोई कमी नहीं करता किन्तु बिना अधिक परिश्रमके बड़ी सुगमतासे उस शत्रुका नाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको उचित है कि सदा ही कर्म-शत्रुओंको जीतनेकी ताकमें रहे, उनके वशमें आप न पड़े।

वास्तवमें कषाय बैरीके नाशक ही साधु सच्चे गुरु हैं।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

न रागिणः क्वचन न रोषदूषिता, न मोहिनो भवभयभेदनोद्यताः ।
गृहीतसन्मननचरित्रदृष्टयो, भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधनाः ॥६८४॥

भावार्थ—जो न कभी रागी होते हैं न क्रोधसे दूषित होते हैं न मोही हैं तथा जो संसारके भयको भेदनेके लिये उद्यमी हैं व जिन्होंने सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रको धारण कर लिया है ऐसे तपस्वी मेरे मनमें आनंदके हेतु होवें।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

भयवर्द्धन सब कर्म निर्जर करन जो शीघ्र मनसा धरे।
जो आपासे आगया उदयमें विन श्रम यती क्षय करे॥
विजयी वीर विचारता कि जाकर निजशत्रु मर्दन करे।
सो आपोसे आगया स्वघरमें बुध तुर्त ही क्षय करे॥ ९१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्याग विना मोक्षका लाभ नहीं होसक्ता है—

मालिनी वृत्तम् ।

व्रजति भृशमधस्ताद् गृह्यमाणेऽर्थजाते ।
गतभरमुपरिष्टात्तत्र संत्यज्यमाने ॥
इतकहृदय तद्वत् तेन यद्वत्तुलाग्रं ।
जहिहि दुरितहेतुं तेन संगं त्रिधापि ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ-(हतकहृदय) हे शून्य हृदय ! (येन) क्योंकि (यद्वत्) जैसे (तुलाग्रं) तराजूका पलड़ा (तद्वत) तैसे (भृशम्) बहुत अधिक (अर्थंमाते गृह्यमाणे) पदार्थोंको ग्रहण करते हुए यह जीव (अधस्तात व्रजति) नीचेको अर्थात् नर्कनिगोद आदि गतिको चला जाता है (तत्र संत्यज्यमाने) और जहां पदार्थोंको त्याग दिया जाता है तब (गतभरम्) भारसे हलका होकर (उपरिष्टात्) ऊपरको अर्थात् स्वर्ग या मोक्षको चला जाता है। (तेन) इसलिये (दुरितहेतुं) पापबन्धका कारण (संगं) परिग्रहको (त्रिधा अपि) मन, वचन, काय तीनोंसे (जहिहि) त्याग दे।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि परिग्रहका भार इस जीवको नीच गतिकी तरफ लेजानेवाला है तथा परिग्रहके भारका त्याग ऊँची गतिको ले जानेवाला है और इसपर तराजूका दृष्टांत दिया है। जैसे तराजूके पलड़ेपर जितना अधिक बोझा डालेंगे वह अधिक२ नीचेको जायगा और जितना बोझा उसमेंसे निकाल लेंगे उतना ही वह पलड़ा ऊँचा होता जायगा वैसे ही जितनी अधिक मूर्छा होगी उतना ही इस जीवका पतन होगा व जितनी मूर्छा कम होगी उतनी ही इस जीवकी उन्नति होगी। तत्वार्थसूत्रमें कहा है—"बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।" बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह नारक आयु बन्धका कारण है। "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य" थोड़ा आरम्भ तथा थोड़ा परिग्रह मनुष्यायुके आस्रवका कारण है। जो परिग्रहका प्रमाण करके श्रावकव्रत पालते हैं वे नियमसे देवगति जाते हैं। जो परिग्रहको त्यागकर ममताको हटा लेते हैं व तप करते हैं उनके यदि कषायभाव या रागभाव

बिलकुल न मिटा तब तो वे साधु स्वर्गोंमें १६ स्वर्ग तक व नौ ग्रैवेयकोंमें या नव अनुदिशमें व पांच अनुत्तरमें चले जाते हैं। जितना२ मूर्छारूप रागभाव या परिग्रह कम होता जाता है उतने२ ही ऊँचे जाने लायक पुण्यकर्म बांधकर ऊँचे२ विमानमें देव, इन्द्र या अह-मिन्द्र पैदा होते हैं। जिन साधुओंके रागभाव बिलकुल नष्ट हो जाता है वे उसी जन्मसे अरहन्त परमात्मा होकर फिर सिद्ध पर-मात्मा होकर तीन लोकके ऊपर सिद्धक्षेत्रमें विराजमान होजाते हैं। सबसे अधिक मूर्छावान परिग्रही सबसे अंतिम सातवें नर्कमें जाता है जब कि परिग्रहका पूर्ण त्यागी, पूर्ण वीतरागी सीधा मुक्तमें चला जाता है, ऐसा जानकर आचार्य कहते हैं कि-हे आत्मन्! यदि तू सर्वोच्च पदको प्राप्त करना चाहता है और संसारकी आकुलताओंसे बचकर नित्य आत्मीक आनन्दका स्वाद लेना चाहता है तो सबसे ममता छोड़कर एक निज शुद्ध स्वरूपका प्रेमी बन और उसीके मनोहर आत्म उपवनमें रमण कर, वृथा क्यों जगतके ममत्वमें अपनेको दीन हीन बना रहा है।

स्वामी अमितगतिने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है कि लोभकी आग आत्मीक गुणोंकी घातक है—

> लब्धेन्धनज्वलनवत्क्षणतोऽतिवृद्धिं ।
> लाभेन लोभदहनः समुपैति जन्तोः ॥
> विद्यागमव्रततपःशमसंयमादी-
> न्भस्मीकरोति यमिनां स पुनः प्रवृद्धः ॥६४॥

भावार्थ—जैसे अग्निमें ईंधन डालनेसे आग क्षणभरमें बढ़ती जाती है वैसे ही लोभकी आग प्राणीके भीतर लाभके होनेसे बढ़ जाती

है। यह बढ़ी हुई लोभकी आग संयमी साधुओंके विद्याके लाभको, व्रतको, तपको, शांत भावको तथा संयमादिको भस्म कर देती है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

पलड़ा भारी जात है अधोको बिन भार ऊपर रहे ।
जो कोई बहु सङ्ग भार रखता सो नीचगति ही लहे ॥
तज परिग्रह जंजाल होय निस्पृह सो ऊर्द्ध गति जात है ।
मन वच काय सम्हार सङ्ग तजदे अघ बंध जो लात है ॥९२॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि तपको पालते हुए उसे शुद्ध रखना चाहिये, मलीन न करना चाहिये ।

सद्यो हन्ति दुरंतसंसृतिकरं यत्पूर्वकं पातकम् ।
शुद्ध्यर्थं विमलं विधाय मलिनं तत्सेवते यस्तपः ॥
शुद्धिं याति कदाचनापि गतधीर्नासाववद्यार्जकम् ।
एकीकृत्य जलं मलाचिततनुः स्नातः कुतः शुध्यति ॥९३॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो (विमलं तपः) निर्मल तप (दुरन्तसंसृतिकरं) दुःखदायी संसारको बढ़ानेवाले (पूर्वकम्) पूर्वमें किये हुए (पातकं) पापको (सद्यः) शीघ्रही (हन्ति) नाश कर सक्ता है (तत्) उस तपको (मलिनं) मलीन व (अवद्यार्जकम्) पापको बांधनेवाला ऐसा (विधाय) करके (यः) जो कोई (शुद्ध्यर्थं) कर्मोंके मैलसे शुद्ध होनेके लिये (सेवते) सेवन करता है (असौ) वह (गतधीः) निर्बुद्धि (कदाचनापि) कभी भी (न शुद्धिं याति) नहीं शुद्ध होसक्ता है (मलाचिततनुः) मलसे जिसका शरीर भरा हुआ है ऐसा पुरुष (जलं एकीकृत्य) जलको मैलसे मिलाकर (स्नातः) स्नान करते हुए (कुतः) किस तरह (शुध्यति) मलरहित शुद्ध होसक्ता है ?

भावार्थ-यहांपर आचार्य दिखलाते हैं कि शुद्ध वीतरागभा-वमई निर्मल तपसे ही कर्मोकी निर्जरा होसक्ती है। जो कोई तप तो करे परन्तु तपको भी अभिमान सहित करे व आगामी भोगोंकी इच्छारूप निदान सहित करे व इस श्रद्धानको न पाकर करे कि शुभ भावसे बंध होता है तथा शुद्ध भावोंसे निर्जरा होती है और शुभ भावसे ही मोक्ष मानले तो ऐसा तप उल्टा कर्मोको बांधनेवाला है। यह तप मलीन है, शुभ या अशुभ भाव सहित है, ऐसा तप मिथ्यात्वसहित है। यदि घोर कष्ट सहकर व महीनों उपवास करके ऐसे मिथ्या तपको बहुत वर्षोंतक साधन करे तौभी इस तपसे बंध ही होगा, आत्मा अधिक मैला होगा। जिस हेतुसे तप किया था कि मैं शुद्ध होजाऊं वह हेतु कभी भी पूरा नहीं होगा। परन्तु जो सम्यग्दर्शन सहित वीतरागभावोंको बढ़ाता हुआ तप करेगा और शुद्धोपयोगमें रमण करेगा उसके अवश्य पिछले कर्मोकी बहुत निर्जरा होगी और नवीन कर्मोका बहुत संवर होगा। इसलिये शुद्धोपयोग भाव ही आत्माको शुद्ध करनेवाला है। यह विश्वास दृढ़ रखके इस भावको जगानेके ही लिये तप करना योग्य है। जो आदमी मैलसे बिलकुल मैला होरहा है उसके मैल धोनेके लिये शुद्ध साफ पानी चाहिये। यदि कोई मैलसे मिले हुए पानीसे नहावे तो उसका मैल कभी भी शरीरसे उतरेगा नहीं-और चढ़ता रहेगा। शुद्ध पानीसे ही मसल मसलकर नहानेसे शरीर शुद्ध होगा, इसी तरह शुद्ध ध्यानमई तपके अभ्याससे ही मलीन आत्मा शुद्ध होगा।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें निर्मल तप साधकोंकी प्रशंसा करते हैं-

जीवाजीवादितत्त्वप्रकटनपटवो ध्वस्तकन्दर्पदर्पा ।
निर्धूतक्रोधयोधा मुदि मदितमदा ह्यविधानवधा ॥
ये तप्यन्तेऽनपेक्षं जिनगदिततपो मुक्तये मुक्तसंगा–
स्ते मुक्तिं मुक्तबाधाममितगतिगुणाः साधवो नो दिशन्तु ॥९०९॥

भावार्थ–जो साधु जीव अजीव आदि तत्वोंके जाननेमें चतुर हैं, जिन्होंने कामदेवके मेदको विध्वंश कर डाला है, क्रोधरूपी योधाको क्षय कर दिया है, आठों मदोंको चूर्ण कर दिया है, अज्ञान दूर करके दोषरहित हैं, ऐसे जो साधु सर्व परिग्रह रहित होकर विना किसी वांछाके मात्र मुक्तिके लिये आनन्द मनसे जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ तप तपने हैं वे अमर्याद ज्ञानगुणके धारी साधु हमको बाधारहित मुक्ति देवें। वास्तवमें कषायरहित ही तप सच्चा तप है ऐसे ही तपस्वी स्वयं मुक्त होते हैं और दूसरोंको भवसागरसे तारने हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

दुखमय भवकर पूर्व पाप संचय जो शीघ्र मर्दन करे ।
ऐसे निर्मल शुद्धि हेतु तपको मन मैल धरकर करे ॥
सो निर्बुद्धि कुकर्म अर्जन करे नहिं कर्मसे शुद्ध हो ।
मलतनधारी नर मलीन जलते न्हाकर नहीं शुद्ध हो ॥९३॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं भेदज्ञान द्वारा प्राप्त शुद्ध ध्यानसे ही कर्मोंका नाश होता है–

लब्ध्वा दुर्लभभेदयोः सपदि ये देहात्मनोरंतरम् ।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनयः शुद्धेन कर्मेंधनम् ॥
लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा त्रिलोकार्चिताः ।
पंथानं कथयंति सिद्धिवसतेस्ते संतु नः सिद्धये ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ-(ये) जो (मुनयः) मुनि (दुर्भेदयोः देहात्मनोः) कठिनतासे भिन्न२ किये जाने योग्य शरीर और आत्माके (अंतरम्) भेदको (सपदि लब्ध्वा) शीघ्र पाकरके तथा (शुद्धेन) शुद्ध वीतरागतामई (ध्यानहुताशनेन) आत्मध्यानकी अग्निसे (कर्मेंधनम्) कर्मोके ईंधनको (दग्ध्वा) जला करके (लोकालोकविलोकिलोकनयना) लोक और अलोकको देखनेवाले केवलज्ञान नेत्रके धारी होजाते हैं तथा (द्विलोकार्चिताः) इस लोकके चक्रवर्ती आदि मानव व परलोकके इन्द्रादि देव आदिके द्वारा पूजे जाते हैं (भूत्वा) ऐसे महान परमात्मा अरहंत होकर (सिद्धिवसतेः) मोक्षरूपी वसतीके (पथानं) मार्गको (कथयंति) बताते हैं (ते) वे (नः) हमलोगोंको (सिद्धये) सिद्धिके लिये (संतु) होवें ।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने बताया है कि भेदविज्ञानकी सबसे पहले प्राप्ति करनी उचित है। आत्मा और शरीरादि कर्म ये दोनों दूध पानीकी तरह मिले हुए हैं। और इनका सम्बन्ध भी अनादिकालसे प्रवाहरूप चला जाता है। कार्माण व तैजस शरीरोंसे तो यह जीव कोई क्षण भी अलग नहीं होता है। कर्मोंके उदयके निमित्तसे ही अज्ञान व रागद्वेषादि भाव होते हैं। जो जिनवाणीके भले प्रकार अभ्यासके बलसे अपने आत्माको बिलकुल शुद्ध परमात्माके समान जाने और सर्व रागादि भावोंको व परद्रव्योंको अपने आत्मासे भिन्न जाने तथा इस ज्ञानको बारबार मनन कर पक्का ज्ञान प्राप्त करले तब उसकी बुद्धिसे परसे राग हटता है और अपने आत्मस्वरूपमें रमणताकी शक्ति पैदा होती है, तब इसके ध्यानका अभ्यास होता है। जितना आत्मध्यानका वीतरागतारूप अभ्यास बढ़ता जाता

उतना उतना कर्मका मैल कटता जाता है। आत्मध्यानके ही अभ्याससे धर्मध्यानकी पूर्णता व शुक्लध्यानकी जागृति महान मुनियोंके जो उसी शरीरसे मोक्ष जानेवाले हैं होती है। इसी शुक्लध्यानसे घातियाकर्मोंको नाशकर वे केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा होजाते हैं तब उनको सर्व द्रव्य अपने गुण व अनंत पर्याय सहित बिना किसी क्रमके एक ही कालमें झलक जाते हैं। उस समय उनको सब ही देव, मानव, साधु, मंत नमस्कार करते व पूजन करते व उनका धर्मोपदेश पानकर तृप्त होते हैं। वे उससमय उसी रत्नत्रयमई मोक्षमार्गको बताते हैं जिसपर चलकर वे स्वयं परमात्मा सर्वज्ञ हुए हैं। आचार्य भावना भाते हैं कि हम भी ऐसे अरहंतोंके वचनोंपर श्रद्धा लाकर व उनहीकी तरह आत्मध्यानका अभ्यास कर शुद्ध हो जावें और मोक्षके अनुपम आनंदको प्राप्त कर लेवें। प्रयोजन यह है कि बिना किसी इच्छाके व मानरहित होकर जो शुद्ध आत्मध्यान करते हैं वे ही परमसुखी होते हैं। मलीन ध्यानसे कभी शुद्धि नहीं होसक्ती है। श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशतिमें कहते हैं—

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत्।
सोऽहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्वं तदेतत्परम् ॥
यच्चान्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकार्यादि वा।
श्रुत्वा शास्त्रशतानि संप्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते ॥ ५ ॥

भावार्थ जो जाननेवाला है वही देखनेवाला है, वह सदाही अपने चैतन्य स्वभावको नहीं त्यागता है। और वही मैं हूं कोई दूसरा नहीं हूं। मेरे जीव तत्वको छोड़कर दूसरा कोई भी तत्व मेरा कभी भी नहीं है। मेरे आत्मस्वरूपके सिवाय जो क्रोध आदि

कार्य हैं वे सब कर्मोंके द्वारा पैदा हुए हैं । सैकड़ों शास्त्रोंको सुनकर मेरे मनमें यही तत्त्व विद्यमान है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो दुर्लभ इस आत्म देह अंतर लहि शीघ्र ज्ञानी भये ।
वे मुनि निर्मल ध्यान अग्नि सेती अघकाष्ठ बालत भये ॥
केवल नेत्र प्रकाश सर्व लखके त्रैलोक पूजित भये ।
शिवमारग उद्योतकार सिद्धो हम होय भावत भये ॥ ६४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुनीश्वरोंका चारित्र ही आश्चर्यकारी है जो कर्मोंको नाश कर देना है—

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो ।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्त्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि ॥
दत्तोत्तप्तमनस्तमन्ततिहतेर्देदीप्यते सर्वदा ।
नाश्चर्यं रचयंति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य ते ॥६५॥

अन्वयार्थ—(येषां) जिनकी (ज्ञानकृशानुः) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (उज्ज्वलतरः) अपने प्रकाशमें बढ़ी हुई (सम्यक्त्ववातेरितः) सम्यग्दर्शनरूपी हवासे धौंकी हुई (विपापैधसि दग्धे) कर्मरूपी ईंधनको जला देनेपर (दत्तोत्तप्तमनस्तमन्ततिहतेः) व मनको आकुलित करनेवाले सर्व रागादिक अन्धकारको दूर कर देनेपर (विस्पष्टीकृतसर्वतत्त्वसमितिः) सर्व पदार्थोंके व तत्त्वोंके समूहको एक ही काल स्पष्ट प्रकाश करती हुई अर्थात् केवलज्ञान रूप होती हुई (सर्वदा) सदा ही (देदीप्यते) जलती रहती है (ते चित्रचरिताः) ऐसे विचित्र आचरणके (चारित्रिणः) आचरण करनेवाले साधुगण (कस्य) किसके भीतर (आश्चर्यं) आश्चर्यको (न रचयंति) नहीं पैदा करते हैं ? अर्थात् उनका चारित्र आश्चर्यकारी ही है ।

भावार्थ—यहां फिर आचार्यने सम्यग्ज्ञानमई आत्मज्ञानकी महिमा दिखलाई है और दिखलाया है कि ज्ञानकी सेवा करना ही चारित्र है। यह सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि सम्यग्दृष्टी महात्माके भीतर प्रगट होती है, वह सम्यग्दृष्टी अपनी सम्यग्दर्शनरूपी हवासे उसे नित्य बढ़ाता रहता है। अर्थात आत्मश्रद्धा पूर्वक आत्मज्ञानका ध्यान करता है। तब जितना जितना आत्मध्यान बढ़ता है उतना२ ही कर्मकाष्ठ अधिक अधिक बलता है, रागादि अंधकार अधिक अधिक दूर होता है, और ज्ञानकी आग बढ़ती हुई चली जाती है। जब यह आत्मध्यानकी अग्नि चार घातियाकर्मोंको जला देती है और सारे ही अंतरंग रागद्वेषके अंधेरेको मिटा देती है तब यह ज्ञानकी अग्नि अंतिम सीमाको पहुंचकर महा विशाल केवलज्ञानरूप होजाती है। उस समय सर्वही द्रव्य अपने गुण व पर्यायोंके साथ एक ही काल झलक जाते हैं फिर यह केवलज्ञानरूपी अग्नि कभी बुझती नहीं है—सदा ही जलती रहती है। जिन्होंने ऐसे आत्मध्यानरूपी चारित्रको आचरणकर ऐसी अपूर्व ज्ञान—अग्निको प्रकाश कर डाला है उन साधुओंका ऐसा विचित्र ध्यानका परिश्रमरूप चारित्र वास्तवमें साधारण मानवोंके मनमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको निर्मल भेदज्ञान द्वारा आत्मज्ञानरूपी अग्निको निरंतर जलाकर व उसीकी सेवा कर अपनेको शुद्ध कर लेना चाहिये। पद्मनंद मुनिने परमार्थविंशतिमें आत्मध्यानकी व आत्मतत्वमें एकाग्र होनेकी भावना भाई है—

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे।
सर्वे भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात् ॥

अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुण-
स्फारीभूतमतिप्रबंधमहसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥ १३ ॥

भावार्थ–जब हम व्यवहार मार्गमें चलते हैं तब हम श्री जिनेन्द्रदेव, उनकी प्रतिमा, जिन गुरु व साधुजन तथा शास्त्रादि सबकी भक्ति करते हैं परन्तु हम जब निश्चय मार्गमें जाते हैं तब प्रगट चैतन्यगुणसे झलकती हुई भेदविज्ञानकी ज्योति जल जाती है उस समय हम एकभावमें लय होजाते हैं तब हमको उत्कृष्ट तत्व एक आत्मा ही अनुभवमें आता है। अर्थात् जहां शुद्ध आत्माके सिवाय अन्य कुछ अनुभवमें न आवे वहीं निर्मल आत्मध्यान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जिनके भीतर ज्ञान अग्नि बढ़ती सम्यक्तकी पवनसे ।
ईंधन कर्म जलाय दोष मन सब कर दूर निज रमनसे ॥
उनके केवलज्ञान रूप होकर नित आप जलती रहे ।
तन मुनि पालनहार आत्मचर्या आश्चर्य करती रहे ॥ ६५ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जबतक किंचित् भी स्नेहका लगाव रहेगा तबतक कर्मोंका नाश न होगा। इसलिये ध्यानीको वीतरागी होना चाहिये–

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते ।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथम् ॥
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यंति किं पादपाः ।
मृज्जत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखिन्विताः ॥९६॥

अन्वयार्थ–(यावत) जबतक (चेतसि) चित्तमें (बाह्यवस्तु-विषयः) बाहरी पदार्थ सम्बन्धी (स्नेहः) राग (स्थिरः) थिररूपसे

(वर्तते) पाया जाता है (तावत्) तबतक (दुःखदानकुशलः) दुःख देनेमें कुशल ऐसा जो (कर्मप्रपंचः) कर्मोंका जाल सो (कथं) किस तरह (नश्यति) नाश होसक्ता है ? (वसुधातलस्य) जमीनके तलेके (आर्द्रत्वे) गीलेपनेके होते हुए (भृज्जत्तापनिरोधनपराः) अत्यन्त सूर्यके आतापको रोकनेवाले (शाखोपशाखिन्विताः) शाखा तथा उपशाखासे पूर्ण (सजटाः) तथा जटावाले (पादपाः) वृक्ष (किं शुष्यंति) कैसे सूख सक्ते हैं ? अर्थात् नहीं सूख सक्ते हैं।

भावार्थ—कर्मरूपी वृक्ष अनेक दुःखरूपी कांटोंसे भरा हुआ है इसकी पुष्टि रागरूपी जलसे होती रहती है। जहांतक रागका जल सिंचन होता रहता है वहांतक यह कर्मरूपी वृक्ष बढ़ता जाता है। यदि कोई चाहे कि इस कर्मरूपी वृक्षकी बाढ़ न हो किन्तु यह सूखकर गिर पड़े तो उपाय यही है कि इसमें रागरूपी जलका सिंचन बन्द किया जावे तब यह शीघ्रही गिर जावेगा। एक वनमें अनेक वृक्षोंके समूह हैं जिनकी बड़ी२ शाखाएं हैं व जिनपर जटाएं हैं ये वृक्ष बराबर बढ़ते रहते हैं, जबतक इनकी जड़ोंमें जमीनकी तरी मिलती रहती है। जब जमीनकी तरीका पोषण नहीं मिलता है तब वे बड़े२ वृक्ष भी सूखकर गिर जाते हैं।

वास्तवमें कर्मोंके नाशका उपाय वीतराग विज्ञानमई जिनधर्म है। अविरत सम्यग्दृष्टीको इस जिनधर्मका लाभ हो जाता है तब उसके कर्मवृक्षकी जड़ बिलकुल ढीली पड़ जाती है, अनंतानुबंधी कषायका उदय नहीं रहता है। येही कषाय कर्मकी जड़को मजबूत करनेवाले हैं। मात्र अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषायका उदय सम्बंधी राग है सो कर्मवृक्षमें कुछ पुष्टि देता

है परन्तु उसकी जड़को मजबूत नहीं करता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टीके भीतरका जो कर्मरूपी वृक्ष है वह एक न एक दिन बिलकुल सूख जायगा। जिसकी जड़ कमजोर होगई है वह अधिक दिन नहीं चल सक्ता है। सम्यग्दृष्टीके भीतर पूर्ण वैराग्य इस तरहका होता है कि वह परमाणु मात्र भी परवस्तुको अपनी नहीं मानता है। उसके उदयप्राप्त कषायोंके उदयसे जो कर्मबंध होता है उसको भी कर्मविकार जानता है। फिर आत्मानुभवके अभ्याससे जितना२ राग घटता जाता है उतना२ कर्मवृक्ष सूखता जाता है। जब यह वीतराग होजाता है तब सर्व कर्मोंसे रहित शुद्ध होजाता है। प्रयोजन कहनेका यह है कि ज्ञानीको उचित है कि वीतरागभावके द्वारा आत्मध्यानका अभ्यास करे।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं–

भोगा नश्यन्ति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोपि।
तज्जीवैतान् विमुंच व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्धया॥
स्वातंत्र्याद्येन याता विदधति मनसस्तापमत्यन्तमुग्रं।
तन्वन्त्येते तु मुक्ताः स्वयमशमसुखं स्वात्मजं नित्यमर्च्यम्॥ ४१२॥

भावार्थ–ये इंद्रियोंके भोग काल पाकर स्वयं नष्ट होजाते हैं इनके भीतर कोई भी सार गुण नहीं मिलता है इसलिये हे जीव! तू इन आपत्ति व भयके करनेवाले भोगोंको आप ही अपनी धर्ममें बुद्धि लगाकर छोड़ दे क्योंकि ये भोग स्वतंत्र रहते हुए मनमें बड़े भारी संतापको पैदा करते हैं और यदि इनको छोड़ दिया जाय तो ये जीव स्वयं ही पूजने योग्य और नित्य ऐसे अपने आत्मीकसुखको भोगते हैं जिस सुखके समान कोई सुख नहीं है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

अबतक मनमें बाह्यवस्तु इच्छा थिररूप वर्तन करै ।
तबतक दुस्कर कर्म जाल कैसे यह जीव चूरन करै ॥
पृथ्वीतलमें जलपना जु अबतक नहिं वृक्ष हैं सूखते ।
सूरज ताप निरोध कर सुशाखा उपशाखमें लूंबते ॥९६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो विषयभोगोंके लिये तपको छोड़ देते हैं वे निन्दाके योग्य हैं—

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम् ।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः संपदम् ॥
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो ।
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ॥९७॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (चक्री) चक्रवर्ती (तपसे) उस तपके लिये (यत्) जो (तपः) तप (सूरीणां) साधुओंको (अनश्वरीं) अविनाशी (अनुपमां) और उपमा रहित (संपदम्) मोक्षलक्ष्मीको (दत्ते) देता है (चक्रं) चक्रवर्तीके राज्यको (अपाकरोति) छोड़ देते हैं (तत्) सो (सताम्) सज्जनोंके लिये (चित्तं) आश्चर्यकारी (न) नहीं है । (यत) जो (अत्र) इस संसारमें (असौ) कोई साधु (तपः) तपको (हित्वा) छोड़कर (विषयं) उस इंद्रियके विषयभोगको (गृह्णाति) ग्रहण करता है (यत्) जो विषयभोग (अवरे भीमे भवाम्भोनिधौ) इस महान भयानक संसारसमुद्रमें (अनेकदुःखम्) अनेक दुःखोंको (दत्ते) देनेवाला है (तत्) यह बात (परमं चित्रं) बहुत ही आश्चर्यकारी है ।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि बुद्धिमान प्राणीको उच्च और उत्तम तथा नित्य पदार्थके लिये नीच व जघन्य व अनित्य

पदार्थको अवश्य त्याग देना चाहिये। चक्रवर्ती राज्य करते हैं विषय भोगते हैं परन्तु उनको विषयभोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होती है। विषयभोगका सुख ही ऐसा है कि जो तृष्णाको शांत करनेके स्थानमें और अधिक बढ़ा देता है। इसलिये वे चक्रवर्ती अपने शास्त्रज्ञानसे इस बातको भले प्रकार निश्चय करते हैं कि अविनाशी व अनुपम सुख अपने आत्माहीके पास है और वह सुख आत्मध्यानसे ही हासिल होसक्ता है, निराकुलतासे उस आत्मध्यानको साधु महात्मा ही कर सक्ते हैं। इस अनुपम मोक्ष—सुखके लिये तीर्थंकरादि बड़े२ राजा राज्यपाट छोड़कर साधु होगए और साधु होकर तप साध मोक्षको पहुंच गए। ऐसा जान चक्रवर्ती भी चक्रादि सम्पदाको छोड़कर तप धारण करलेते हैं। आचार्य कहते हैं कि इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि जो कोई वह काम करे जिसे सर्व बुद्धिमान लोग करते आरहे हैं तथा जो परमोत्तम फलका कारण है तो इसमें सज्जनोंको कोई अचम्भा नहीं दिखता है, यह तो उसने अपना कर्तव्य पालन किया। परन्तु आश्चर्य तो इस बातमें है कि जो कोई उत्तम तप करनेके लिये साधुपदकी क्रियाओंको धारण करे और फिर उस साधुपदको क्षणभंगुर अतृप्तिकारी विषयभोगोंके लिये छोड़ दे यह बड़े आश्चर्यकी बात है। क्योंकि जिसे रत्न मिल रहे हों वह रत्न छोड़कर कांचके टुकड़ोंको बटोरले तो वह मूर्ख ही माना जायगा और उसका यह कृत्य विद्वान सज्जनोंके दिलमें आश्चर्यकारी ही होगा। प्रयोजन यह है कि जो इंद्रियके विषय जीवको भयानक भववनमें घुमाते हैं और घोरानुघोर कष्ट देते हैं उनही विषयोंके पीछे अपने तपको छोड़ना उचित नहीं है। यह नितान्त मूर्खता है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं–

अपारसंसारसमुद्रतारकं न तन्वते ये विषयाकुलास्तपः ।
विहाय ते हस्तगतामृतं स्फुटं पिबन्ति मूढाः सुखलिप्सया विषं ॥८९८॥

भावार्थ–जो इंद्रियके विषयोंके पीछे आकुल व्याकुल रहते हैं वे इस अपार संसार समुद्रसे पार उतारनेवाले तपको साधन नहीं करते हैं वे मूर्ख मानों हाथमें आए हुए अमृतको छोड़कर सुखकी इच्छासे विषको पीते हैं ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद ।

चक्री तपके काज चक्र छोड़े आश्चर्य कुछ है नहीं ।
अनुपम संपत् नित्य तप जु देवे साधूजनोंको सही ॥
जो तप तजके विषय भोग करते आश्चर्य भारी रहा ।
इन भोगोंसे दुःख घोर सहते भवदधि भयानक महा ॥९७॥

उत्थानिका–आगे आचार्य कहते हैं कि आत्माके सिवाय सर्व बाहरी पदार्थ त्यागने योग्य हैं–

शिखरिणी छन्द ।

रामाः पापाविरामास्तनयपरिजना निर्मिता बहुनर्था ।
गात्रं व्याध्यादिपात्रं जितपवनजवा मूढ लक्ष्मीरशेषा ॥
किं रे दृष्टं त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतु-
र्येन त्वं स्वार्थनिष्ठो भवसि न सततं बाह्यमस्यस्य सर्वं॥९८॥

अन्वयार्थ–(मूढ) रे मूर्ख ! (रामाः) स्त्रियें (पापाविरामाः) पापोंकी खान हैं अर्थात् पापोंको उत्पन्न करानेवाली हैं (तनयपरिजनाः) पुत्र व अन्य परिवार (बहु अनर्थाः निर्मिताः) अनेक अनर्थोंके कारण हैं (गात्रं) यह शरीर (व्याध्यादिपात्रं) रोग आदि कष्टोंका ठिकाना है (अशेषा लक्ष्मीः) सम्पूर्ण लक्ष्मी (जितपवनजवा)

पवनके वेगसे भी अधिक चंचल है (रे आत्मन्) हे आत्मन् (त्वया) तूने (भवगहनवने भ्राम्यता) इस संसारके भयानक वनमें भ्रमण करते हुए (सौख्यहेतुः) सुखका कारण (किं दृष्टं) क्या देखा है ? (येन) जिस कारणसे (त्वं) तू (सर्वं बाह्यं) सर्व बाहरी पदार्थको (अत्यस्य) भले प्रकार त्याग करके (सततं) सदा (स्वार्थनिष्ठः) अपने आत्मामें लीन (न भवसि) नहीं होता है।

भावार्थ—आचार्यने दिखलाया है कि यह मोही जीव जिन जिन सांसारिक पदार्थोंको अपना माना करता है वे सब पदार्थ इस आत्माके सच्चे हितमें बाधक हैं। आत्माका यथार्थहित स्वात्मानुभवकी प्राप्ति करके आत्मानंदका विलास करना है और धीरे२ कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्मपद पाना है। इस वैराग्यमई कार्यमें जितने भी रागके कारण हैं वे सब बाधक हैं। स्त्रियोंका सम्बन्ध वास्तवमें गृहजंजालका बीज है, मोहको पैदा करानेवाला है। पुत्र पुत्रियोंकी संततिका व उसके साथ अनेक आरम्भ परिग्रहकी वृद्धिका कारण है अतएव अनेक हिंसादि पापोंके निरन्तर करानेका निमित्त है। पुत्र व परिवार सर्व मोहके कारण हैं, उनके रागमें फंसा हुआ प्राणी आत्महितसे दूर होजाता है। उनके निमित्तसे बहुतसे न करनेयोग्य कामोंको मोही जीव कर डालता है। शरीरका सम्बन्ध भी दुःखहीका हेतु है। क्षुधातृषा तो इसके नित्यके रोग हैं। ज्वर, खांसी, स्वांस, फोड़ा फुंसी आदि अनेक रोग और इसके साथ लगे हुए हैं। जिस लक्ष्मीको पाकरके ये प्राणी संतोष मानते हैं उसके रहनेका बहुत कम भरोसा है। पुण्यके क्षय होते ही राज्यका भी नाश हो जाता है। क्षण मात्रमें धनवान प्राणी निर्धन होजाता है। ऐसी

दशामें कौनसा ऐसा पदार्थ इस जगतमें है जो प्राणीको सुखका कारण हो? वास्तवमें क्षणभंगुर चेतन व अचेतन पदार्थोंके साथ रहनेका जब भरोसा नहीं है तब इनके निमित्तसे सुखी होना मानना मात्र भ्रम है। इस संसारके भयानक वनमें जिस जिस शरीरका व बाहरी पदार्थका आश्रय लिया जावे वे सब नाशवन्त प्रगट होते हैं तब उनसे स्थाई सुख कैसे होसक्ता है? इसलिये आचार्य शिक्षा देते हैं कि हे आत्मन्! तू अपनी भूलको छोड़ और अपना मोह सर्व ही बाहरी पदार्थोंसे हटा। मात्र एक अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन हो जा, इसीसे तेरा भला होगा।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

श्रियोपाया म्रातास्तृणजलचरं जीवितमिदं।
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिलं कामजसुखम्॥
क्षणध्वंसी कायः प्रकृतितरले यौवनघने।
इति ज्ञात्वा सन्तः स्थिरतरधियः श्रेयसि रताः॥३३२॥

भावार्थ—राज्यपाटादि लक्ष्मी सब नाशवंत हैं, यह जीवन घासपर पड़े हुए ओसकी बून्दके समान चंचल है, स्त्रियोंके मनकी गति बड़ी विचित्र है। कामभोगका सुख सांपकी चालके समान बड़ा टेढ़ा व सदा एकसा रहनेवाला नहीं है। यह शरीर क्षणभरमें नाशवन्त है तथा युवानी व धन स्वभावसे ही चंचल हैं ऐसा जानकर अति स्थिर बुद्धिके धारी संत पुरुष इन पदार्थोंमें रति न करके अपने आत्मकल्याणमें लग जाते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

महिला सद्म निवास पापकारी सुत बंधु आपत्ति कर।
है यह तन रोगादि कष्टकारी धन सर्व थिरता विगर॥

रे मूरख भववन महान भ्रमते क्या सौख्य कारण लखा ।
जिससे तू सब बाह्यवस्तु तजके निजस्वार्थमें नहिं धसा ॥६८॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मात्र ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त नहीं होती रत्नत्रयकी जरूरत है–

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा ।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां ये यियासंति सिद्धिं ॥
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा ।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् ॥९९॥

अन्वयार्थ–(ये मूढाः) जो मूर्ख पुरुष (अनघं) निर्दोष (सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयम्) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन रत्नोंके (ऋते) विना (ज्ञानमात्रेण) अकेले एक ज्ञानसे (जन्मदुर्गं) संसारके किलेको (लंघित्वा) लांघकर (निरुपमितसुखां सिद्धिं) अनुपम सुखको रखनेवाली सिद्धिको (यियासंति) पाना चाहते हैं (ते) वे (नूनं) मानो (बाहुयुग्मेन) अपनी दोनों भुजाओंसे (कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् उदधिं) कल्पांत कालकी पवनसे उद्धत तथा जलचरोंसे भरे हुए समुद्रको (तीर्त्वा) तरकरके (निजपुरम्) अपने स्थानको (शिश्रीषन्ति) जाना चाहते हैं।

भावार्थ–यहां आचार्यने दिखलाया है कि मोक्षका उपाय रत्नत्रयकी एकता है। मार्गको जान लेने मात्रसे ही कार्यकी सिद्धि नहीं होसक्ती है। जो ऐसा मानते हैं कि हमने अपने आत्माको पहचान लिया है अब हमें कुछ भी चारित्र पालनेकी आवश्यक्ता नहीं है, हम चाहे पाप करें चाहे पुण्य करें हमें बंध नहीं होगा, वे ऐसे ही मूर्ख जैसे वे लोग मूर्ख हैं जो यह चाहें कि हम अपनी भुजा-

ऐसे उस समुद्रको पार करके चले जावेंगे जो कल्पकालकी घोर पवनसे डावांडोल है व जहां अनेक मगरमच्छ आदि भयानक जन्तु भरे हुए हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंकी एकताकी जरूरत है। लौकिकमें भी हम देखते हैं कि यदि किसीको कोई व्यापार करना होता है तो वह पहले उसकी रीतियोंको समझता है और उसपर विश्वास लाता है फिर जब उस विश्वास सहित ज्ञानके अनुसार उद्योग करता है तब ही व्यापार करनेका फल पासक्ता है। इसी तरह हमको जानना चाहिये कि आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है, इसी बातका मनन करनेसे जब मिथ्यात्वका पर्दा हट जाता है तब सम्यग्दर्शन पैदा होजाता है अर्थात् आत्मप्रतीति स्वानुभवरूप जागृत होजाती है। उसी समय उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इतनेसे ही काम न चलेगा ऐसे सम्यग्दृष्टी जीवको आत्मध्यानका अभ्यास करना होगा। मनको निराकुल करनेके लिये श्रावक या मुनिका चारित्र पालना होगा। जहां श्रद्धानज्ञान सहित आत्मस्वरूपमें रमणता होती है वहीं स्वानुभव या आत्मध्यान पैदा होता है। यही ध्यान मोक्षका मार्ग है, यही कर्मोंकी निर्जरा करके आत्माको शुद्ध करता है। इसलिये मात्र जाननेसे ही कार्य बनेगा इस बुद्धिको दूरकर श्रद्धान व ज्ञान सहित चारित्रको पालना चाहिये।

अमितगति महाराजने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है–

सद्दर्शनज्ञानतपोदमाढ्याश्चारित्रभाजः सफलाः समस्ताः।
व्यर्थाश्चरित्रेण विना भवन्ति ज्ञात्वेह सन्तश्चरिते यतन्ते ॥२४२॥
कषायमुक्तं कथितं चरित्रं कषायवृद्धावपघातमेति।
यदा कषायः शममेति पुंसस्तदा चरित्रं पुनरेति पूतम् ॥२४३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा तप व इंद्रियदमन सहित जो जीव चारित्रको पालनेवाले हैं वे सर्व ही सफलताको पालेते हैं क्योंकि चारित्रके बिना उन सबका होना व्यर्थ है ऐसा जानकर संत पुरुष चारित्रका यत्न करते हैं। चारित्र वही है जहां कषाय न हो। कषायकी वृद्धिसे चारित्रका नाश होजाता है। जब कषाय शांत होती हैं तब ही आत्माके पवित्र चारित्र होता है।

जो मूरख इक ज्ञान मात्रसे हो भव दुर्ग लांघन चहे ।
निर्मल दर्शनज्ञान वृत्त विनगहि निजसुख प्रकाशन चहे ॥
ते मानो युग बाहु संहि तरकर बिजथान जाना चहे ।
जो सागर कल्पांत वायु उद्धत जलचर महा भर रहे ॥९९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो साधु रत्नत्रय सहित तप करते हैं उनहीका जीतव्य सफल है।

शार्दूलविक्रीडितं ।

ये ज्ञात्वा भवमुक्तिकारणगणं बुद्ध्या सदा शुद्धया ।
कृत्वा चेतसि मुक्तिकारणगणं त्रेधा विमुच्यापरम् ॥
जन्मारण्यनिमूदनक्षमभरं जैनं तपः कुर्वते ।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं पुण्यात्मनां योगिनां॥१००॥

अन्वयार्थ—(ये) जो मुनिगण (सदा) सदा ही (शुद्धया बुद्ध्या) निर्मल बुद्धिके द्वारा (भवमुक्तिकारणगण) संसारके कारणोंको और मोक्षके कारणोंको (ज्ञात्वा) जान करके (त्रेधा) मन, वचन, काय तीनोंसे (अपरं) इस जो संसारके कारण है उनको (विमुच्य) त्याग करके (चेतसि) अपने चित्तमें (मुक्तिकारणगणं) मोक्षके कारण रत्नत्रयको (कृत्वा) धार करके (जन्मारण्यनिमूदनक्षमभरं) संसाररूपी वनके नाश करनेको समर्थ ऐसे (जैन तपः) जैनके

तपको (कुर्वते) साधते हैं (तेषां पुण्यात्मनां योगिनां) उन्हीं पवित्रात्मा योगियोंका (च) ही (जन्म) जन्म (च जीवितं) और जीवन (सफलं) सफल है ।

भावार्थ-यहां आचार्यने यथार्थ मोक्षपर चलनेवाले तपस्वी योगियोंकी महिमा कही है। वास्तवमें यथार्थ बात यही है कि विना किसी माया, मिथ्या, या निदान शल्यके एक मुमुक्षुको अपनी बुद्धि निर्मल करके शास्त्रका अभ्यास और गुरुका सेवन तथा स्वानुभव पूर्ण युक्तिके बलसे यह भले प्रकार निश्चय कर लेना चाहिये कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र तो संसारके कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र मुक्तिके कारण हैं। फिर उसे उचित है कि संसारके कारणोंको मन, वचन, कायसे भले प्रकार छोड़ दे और रुचिपूर्वक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रको ग्रहण करे। निश्चयसे इन तीनोंकी एकतामें जो भाव पैदा होता है उसको स्वानुभव कहते हैं। इस स्वानुभवको करते हुए जो जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए बारह प्रकारके तपोंको या मुख्यतासे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको ध्याते हैं वे, ही उन कर्मोंकी निर्जरा करनेको समर्थ हो सके हैं जो कर्म इस जीवको संसारके भयानक वनमें भ्रमण करानेवाले हैं, ऐसे ही पवित्र महात्मा योगी इस भवसागरको पार करके सिद्धवासको शीघ्र पालेते हैं। ऐसे ही योगियोंका जन्म भी सफल है तथा जीना भी सफल है। जो धर्मकी नौका जिनको नहीं मिलती है वे भव समुद्रमें भटक भटककर अपना जीवन पूरा करते हैं। रत्नत्रयमई जहाजका मिलना वास्तवमें दुर्लभ है। जिनको मिल

जावे उनको प्रमाद छोड़कर इसीपर चढ़ करके शिव महलमें जा पहुंचना चाहिये। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

विनिर्मलं पार्वणचंद्रकांतं यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञः ।
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्यः कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः ॥२३९॥

भावार्थ—जिस पुरुषके अत्यन्त निर्मल पूर्णमासीके चंद्रमाके समान चारित्र होता है वही गुणवान है, वही माननीय है, वही कुलीन है, वही जगतमें वन्दनीय है, उसीका जन्म सफल है तथा वही महान बुद्धिका धारी है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो नितनिर्मल बुद्धिधार समझे संसार शिव हेतुको ।
छोड़ भवके हेतु तीन सेतो चिन राख शिव हेतुको ॥
साधे जैन तप जु नाशकर्ता संसार वन भर्मको ।
शुचि योगी जीतव्य जन्म अपना करते सफल धर्मको ॥१००॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि विषयसेवन विष खानेके समान हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं संत्यज्य रत्नत्रयम् ।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोगं मिथः सेवते ॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं वल्भते।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (निःश्रेयसशर्मदानकुशलं) मोक्षके सुख देनेमें चतुर ऐसे (रत्नत्रयम्) रत्नत्रयको (संत्यज्य) छोड़ करके (भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं) भयानक और अचिंत्य वेदनाको पैदा करनेवाले (भोगं) भोगको (मिथः) एकांतमें छिपके (सेवते)

सेवन करता है (मन्ये) मैं ऐसा मानता हूं कि (सः) वह (जन्म-जरांतकक्षयकरं) जन्म जरा मरणको क्षय करने वाले (पीयूषं) अमृतको (अत्यस्य) छोड़कर (सद्यः) शीघ्र ही (प्राणविपर्यादि-जनकं) प्राणोंके घात करनेवाले (हालाहलं) हालाहल विषको (वल्भते) पीता है ।

भावार्थ—यहां आचार्यने बताया है कि सच्चा सुख आत्मामें ही है और वह अपने आत्माके सच्चे स्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान, व चारित्रसे अर्थात् स्वात्मानुभवमे अनुभवमें आता है । इसी निश्चय रत्नत्रयके द्वारा मोक्षदशामें अनंत आत्मीक सुख प्राप्त होता है। इस सुखके सामने इंद्रिय भोगोंका सुख ऐसा ही है जैसे अमृतके सामने विष । जैसे अमृतके खानेसे क्लेश मिटता व पुष्टि आती है वैसे आत्मीक सुखके भोगसे जन्म, जरा, मरणके रोग मिट जाते हैं और यह जीव अविनाशी अवस्थामें बना रहता है । जैसे विष हालाहलके पीनेसे महाकष्ट होता है तथा प्राणोंका वियोग होजाता है वैसे विषयभोगोंके करनेसे पापकर्मका बन्ध होता है जिसके उदयसे नानाप्रकारके दुःख भविष्यमें प्राप्त होते हैं । इसलिये यह शिक्षा दी जाती है कि इंद्रिय विषयभोगोंकी लालसा छोड़कर एक आत्मीक सुखके लिये आत्मानुभव करना जरूरी है।

आत्मीक सुखके भोगमें वीतरागता रहती है जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती है जब कि इंद्रियभोगोंमें अवश्य तीव्र राग भाव करना पड़ता है जिससे पापकर्मोंका बन्ध होजाता है । वर्तमानमें इंद्रिय सुख जब तृष्णाको बढ़ानेवाला है तब आत्मीक सुख परम सन्तोषको व सुख शांतिको देनेवाला है । आत्मीक सुख स्वाधीन

है जब कि इंद्रिय सुख पराधीन है। सम्यग्दृष्टीको विषयोंकी इच्छा छोड़कर आत्म सुखका ही उद्यम करना चाहिये।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं–

सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि गतमलं मुक्तिवसतौ।
हितं सेवध्वं भो जिनपतिमत पूतराचितम् ॥
मभध्वं मा तृष्णां कतिपयदिनस्थायिनि धने।
यतो नायं सन्तः कमपि मृतमन्वेति विभवः ॥ ३३९ ॥

भावार्थ–यदि मुक्तिके स्थानमें निर्मल सुख पानेकी तेरी बुद्धि हो तो हे भाई! हितकारी व पवित्र जिनमतका सेवन कर। कुछ दिन साथ रहने वाले धनादिमें तृष्णा न कर क्योंकि यह लक्ष्मी होती हुई भी किसीके साथ मरनेपर नहीं जाती है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो शिव सुख दातार रत्नत्रयको भ्रम भावसे छोड़ता।
भयदायक अत्यन्त दुःखकारी इन्द्रिय विषय भोगता ॥
मैं मानूं सो जन्म मृत्यु क्षयकर पीयूषको त्यागता।
जीवन कारण प्राण घातकर्ता हालाहलं पीवता ॥१०१॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि दुःख सुखमें जो समता धारण करते हैं उनको नया कर्मबंध नहीं होता–

हरिणी छंद ।

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथम् ॥
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः।
क्षपयति सुधीः पूर्वं पापं चिनोति न नूतनम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ–(पुराकृतकर्मणः) पिछले बांधे हुए कर्मोंके उदयसे

(प्राणिनः) इस संसारी प्राणीके (सौख्यं दुःखं) सुख तथा दुःख होता है। तब (मे हृदये) मेरे हृदयमें (कथम्) किसलिये (कदाचन) कभी भी (रागः द्वेषः) राग या द्वेष (स्फुरति) प्रगट होगा (इत्थं) ऐसा (विज्ञाय) समझकर (यः) जो कोई (मनसि) मनके भीतर (तयोः) उन दोनों सुख तथा दुःखमें (समता) समभावको (दधाति) धारण करता है (सुधीः) वह बुद्धिमान (पूर्व पापं) पहलेके पापको (क्षपयति) क्षय करता है (नूतनम्) नए पापको (न चिनोति) नहीं बांधता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि ज्ञानीको उचित है कि कर्मोंके उदयमें समताभावको धारण करें। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि यह बात अच्छीतरह जानते हैं कि पूर्वकृत पुण्यके उदयसे सुख तथा पापके उदयसे दुःख होता है। तथा कर्मोंका उदय सदाकाल एकसा नहीं रहता है, यह अवश्य अनित्य है। विनाशीक वस्तुमें राग व द्वेष करना वृथा है। समताभावसे सुख तथा दुःखको भोग लेना चाहिये। जो कोई सुखकी अवस्था होनेपर उन्मत्त तथा तथा दुःखोंके होनेपर क्लेशित नहीं होते उनके पूर्वके बांधे कर्मोंकी तो निर्जरा होजाती है तथा नवीन कर्म नहीं बंधता है। कर्मोंकी निर्जरा होनेका बड़ा भारी उपाय समभाव सहीत जीवन बिताना है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानीकी रुचि अपने आत्माके स्वभावपर रहती है। वह आत्माके आनन्दका ही प्रेमी होता है। उसका अपनापना अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई सम्पदासे ही रहता है। वह मानो सर्व जगतके पदार्थोंसे उदास है। यही कारण है जो ज्ञानी मोक्षमार्गी है जब कि अज्ञानी संसारमें भ्रमण करनेवाला है।

अमितगतिमहाराज सुभाषित-रत्नसंदोहमें ज्ञानकी महिमा बताते हैं:–

ज्ञानाद्धितं वेत्ति ततः प्रवृत्ती रत्नत्रये संचितकर्ममोक्षः ।
ततस्ततः सौख्यमबाधमुच्चैस्तेनात्र यत्रं विदधाति दक्षः ॥१८४॥

भावार्थ–यह जीव ज्ञानके ही प्रतापसे अपने हितको समझता है तब उसकी प्रवृत्ति रत्नत्रय धर्ममें होती है। धर्मके सेवनसे पूर्व बांधे कर्मोंकी निर्जरा होजाती है तब बाधारहित सुख प्राप्त होता है इसलिये चतुर पुरुष सम्यग्ज्ञानके सदा यत्न करते रहते हैं। तत्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये हितकर्ताको उचित है कि श्री जिनेन्द्रकथित ग्रंथोंका पठन मनन, सदा करते रहे।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

पूरब कृत कर्मानुसार जियको सुख दुःख होता रहे।
मेरे मनमें राग द्वेष क्यों हो ज्ञानी विवेकी रहे ॥
ऐसा जान जु साम्य भाव रखते निजतत्त्वको जानते।
काटें पूरब पाप बुद्धि युत ते नूतन नहीं बांधते ॥२०२॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि कषाय सहित तप कर्मोंकी निर्जरा न करके कर्मोंको बांधनेवाला है–

क्षपयितुमनाः कर्मानिष्टं तपोभिरनिंदितैः ।
नयति रभसा वृद्धिं नीचः कषायपरायणः ॥
बुधजननुतैः किं भैषज्यैनिसूदितुमुद्यतः ।
प्रथयति गदं तं नापथ्यात्कदार्थितविग्रहम् ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थ–(अनिंदितैः) उत्तम (तपोभिः) तपोंके द्वारा (अनिष्टं कर्म) अहितकारी कर्मको (क्षपयितु मनाः) नाश करनेकी मनसा रखता हुआ (नीचः) नीच मनुष्य (कषायपरायणः)

क्रोधादिक कषायोंमें लीन होता हुआ (रमसा) शीघ्र ही (वृद्धिं नयति) कर्मोंको और अधिक बढ़ा लेता है जैसे (बुधजनमतैः) बुद्धिमानोंके द्वारा सम्मत (भेषज्यैः) औषधियोंसे (कदर्थितविग्रहम्) शरीरको दुःखदाई (गदं) रोगको (निसूदितुम्) नाश करनेके लिये (उद्यतः) उद्यमी पुरुष (अपथ्यात्) अपथ्य सेवन करनेसे (तं) उस रोगको (किं न) क्या नहीं (प्रथयति) बढ़ा लेता है ।

भावार्थ–यहांपर भी आचार्यने यही दिखलाया है कि कर्मोंके नाश करनेकी मुख्य औषधि वीतरागभाव है । जितना भी बाहरी व अंतरंग तप किया जाता है उस सबका हेतु कषायोंका घटाव व वीतरागभावका झलकाव है । जो कोई तपस्वी होकर अनेक प्रकार शरीरको कष्टकारी तपको करे परंतु कषायोंका दमन न करे, शांत भावको न प्राप्त करे तो उसके कर्मोंकी निर्जरा न होगी । उल्टा और अधिक कर्मोंका बंध होजायगा । क्योंकि बंधका कारण कषाय परिणामोंमें विद्यमान है । यहांपर दृष्टांत देते हैं कि जैसे किसीको बहुत कठिन रोग होरहा है और वह अच्छे प्रवीण वैद्यकी बताई हुई औषधि लेरहा है परंतु रोग वृद्धिके कारण जो अपथ्य या बद-परहेजी है उसको नहीं त्याग रहा है तो वह कभी भी रोगसे मुक्त न होगा–उल्टा रोगको बढ़ाएगा । प्रयोजन यह है कि वीतरागभावोंकी प्राप्तिका सदा उद्यम करना चाहिये तथा ध्यान ही मुख्य तप है वह आत्मानुभवके समय पैदा होता है, जहां अवश्य वीतरागता रहती है । सम्यग्दृष्टीका तप ही सच्चा तप है । मिथ्यात्व सहित महान तप करता हुआ भी संसारका मार्गी है–मोक्षमार्गी नहीं है ।

मुमुक्षु जीवको इसलिये वीतराग भावपर ही लक्ष रखके उसकी ही प्राप्तिका उपाय करना चाहिये ।

श्री ज्ञानार्णवमें शुभचंद्र मुनि कहते हैं—

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बंधमोक्षयोः ॥
नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥ ८४ ॥

भावार्थ—रागी जीव कर्मोंको बांधता है जब कि वीतरागी कर्मोंसे छूटता है ऐसा संक्षेपसे जिनेन्द्रभगवानका उपदेश बंध तथा मोक्षके सम्बंधमें जानना चाहिये । जो आरम्भका त्यागी वीतरागी साधु है वही नित्य आनन्दमयी, उत्तम, अविनाशी, आत्मासे ही उत्पन्न मोक्षलक्ष्मीको वरता है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो चाहै निज दुष्ट कर्म हनना निर्मल तपस्या करे ।
परसो नीच कषाय भाव रत हो निज कर्म बर्द्धन करे ॥
जो चाहे तन दुःखदाय गदको हनना सु औषधि करे ।
पर त्यागे न अपथ्य खाद्य सो नर निज रोग बर्द्धन करे ॥१०३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो साधु शरीरकी रक्षाके लिये आहार मात्र लेते हुए लज्जा पाते हैं वे वस्त्रादिक परिग्रहको कैसे स्वीकार करेंगे ?

शार्दूलविक्रीडित छंद ।

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुषस्त्याज्यस्य रक्षापराः ।
दत्तं येऽशनमात्रकं गतमलं धर्मार्थिभिर्दातृभिः ॥
लज्जंते परिगृह्य मुक्तिविषये बद्धस्पृहा निस्पृहा—
स्ते गृह्णन्ति परिग्रहं दमधरा किं संयमध्वंसकम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ-(ये) जो (मुक्तिविषये) मोक्षके सम्बंधमें (बद्धस्पृहा) अपनी उत्कण्ठाको बांधनेवाले (निस्पृहा) संसारीक इच्छाके त्यागी हैं और (सद्रत्नत्रयपोषणाय) सच्चे रत्नत्रय धर्मको पालनेके लिये (त्याज्यस्य) त्यागने योग्य (वपुषः) इस शरीरकी (रक्षापराः) रक्षामें तत्पर हैं और जो (धर्मार्थिभिः) धर्मात्मा (दातृभिः) दातारोंसे (दत्तं) दिये हुए (गतमलं) दोष रहित (अशनमात्रकं) भोजन पात्रको (परिग्रहं) ग्रहण करके (लज्जंते) लज्जाको प्राप्त होते हैं (ते दमधराः) वे संयमके धारी यति (किं) क्या (संयमध्वं-सकम्) संयमको नाश करनेवाली (परिग्रहं) परिग्रहको (गृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं ?

भावार्थ-यहां आचार्यने बताया है कि जैनधर्मको यथार्थ पालनेवाले साधुजन कभी भी परिग्रहको ग्रहण नहीं करते हैं। धन, धान्य आदि परिग्रह हिंसादि आरम्भका कारण है जिससे महाव्रत रूप साधुसंयम नहीं पल सक्ता है। इसीलिये साधुजन सर्व परिग्रहको त्याग कर ही मुनि होते हैं। वे परिग्रहको ममताका निमित्त कारण जानते हैं। ऐसे साधुओंको किसी भी इंद्रियभोगकी कोई इच्छा नहीं होती है। वे मात्र कर्मोंसे मुक्ति हो चाहते हैं। उनकी रातदिन भावना यही है कि हम आत्मध्यान करके कर्मोंको काटकर मुक्त होजावें, ऐसे साधु संयम पालनेके लिये ही इस शरीरकी रक्षा करना चाहते हैं। इसलिये वे ऐसा ही भोजनपान शरीरको देते हैं जिसे धर्मात्मा श्रावकोंने भक्तिपूर्वक दिया हो तथा जिसमें उद्दिष्ट आदिका कोई दोष न हो। ऐसे भोजनको लेते हुए भी उनको लज्जा आती है और रातदिन यह भावना भाते हैं कि

इस शरीरकी पराधीनता मिटे और यह आत्मा निराकुल भावमें तल्लीन हो ऐसे साधु कभी भी धन धान्यादि परिग्रहको जिसे वे संयममें बाधक जानकर त्याग कर चुके, ग्रहण नहीं करते हैं। वे साधु अपनी प्रतिज्ञामें अटल रहते हुए रात्रि दिन तत्वज्ञानकी भावना भाते हैं। और पूर्ण वीतरागताके लाभके लिये उद्यम करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि परिग्रहका त्याग ही उत्तम ध्यानका साधक है इस बातको कभी भूलना न चाहिये।

ज्ञानार्णवमें श्री शुभचंद्र मुनि कहते हैं—

रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता ।
मुनेः प्रच्याव्यते नूनं सगैर्व्यामोहितात्मनः ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस मुनिका चित्त परिग्रहोंसे मोहित होजाता है उसके रागादिकका जीतना, सत्य, क्षमा, शौच और तृष्णा रहितपना आदि गुण नष्ट होजाते हैं।

परिग्रहको मूर्छाका निमित्त कारण जानकर साधुजन उसे कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो साधू नित मोक्ष उद्यम करें संसार नहिं चाहते ।
रत्नत्रय वष हेतु हेय तनको शुचि मुक्ति दे राखते ॥
धर्मी दाता दत्त खाद्य लेने मनमाहिं लज्जा धरें ।
सो यतिगण संयम विराधकर्ता परिग्रह न अंगी करें ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यथार्थ तत्वके ज्ञाता जगतमें दुर्लभ हैं—

ये लोकोत्तरतां च दर्शनपरां दूतीं विमुक्तिश्रियै ।
रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पंति शृण्वन्ति च ॥

लोके भूरिकषायदोषमलिने ते सज्जना दुर्लभाः ।
ये कुर्वन्ति तदर्थमुत्तमधियस्तेषां किमत्रोच्यते ॥१०५॥

अन्वयार्थ–(भूरिकषायदोषमलिने लोके) तीव्र कषायोंके दोषसे मलीन ऐसे इस जगतमें (ये सज्जनाः) जो सज्जन (विमुक्तिश्रिये) मोक्ष रूपी लक्ष्मीके मिलानेके लिये (दूतीं) दूतीके समान (च) और (लोकोत्तरतां) लोकसे तरनेका मार्ग बतानेवाली तथा (दर्शनपरां) सम्यग्दर्शनको दिखानेवाली (अनुपमां) व जिसकी उपमा जगतमें नहीं होसक्ती है ऐसी (जिन भारतीम्) जिनवाणीको (जल्पंति) पढ़ते हैं, (श्रण्वंति) सुनते हैं (च रोचंते) और उसपर रुचि लाते हैं (ते दुर्लभाः) वे कठिन हैं तब (ये) जो (तदर्थम्) उस मुक्तिके लिये (उत्तमधियः) उत्तम ज्ञानका (कुर्वंति) साधन करते हैं (अत्र) यहां (तेषां किं उच्यते) उनके लिये क्या कहा जावे ?

भावार्थ–यहां आचार्यने बताया है कि यह संसारी जन क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंसे मलीन होरहे हैं। रातदिन इंद्रिय विषयकी लोलुपतामें फंसे हैं। स्त्रीपुत्र आदिमें मोही होरहे हैं–ऐसे जगतमें जिन वाणीको प्रेमसे पढ़नेवाले, सुननेवाले तथा उसपर रुचि लानेवाले बहुतकम हैं यहांतक कि दुर्लभ हैं। यह जिनवाणी सच्चा मुक्तिका मार्ग दिखाती है, रत्नत्रयमें सबसे मुख्य सम्यग्दर्शन है उसको प्राप्त कराती है, जिसके अभ्याससे दूध पानीकी तरह मिले हुए जीव अजीव पदार्थ भिन्न२ दिखलाई पड़ जाते हैं। इस जिनवाणीकी उपमा इसलिये नहीं होसक्ती है कि इसमें अनेकान्तरूप पदार्थोंका जैसा स्वरूप है वैसा दिखाया है। स्याद्वा-

दनयसे वस्तुके स्वरूपको बताया है, जो बात अन्य शास्त्रोंमें नहीं मिलती है। दृष्टांतमें पदार्थ न सर्वथा नित्य है न सर्वथा अनित्य है। हरसमय पदार्थ नित्य अनित्य स्वरूप है। गुणोंके व स्वभावोंके ध्रुवपनेकी अपेक्षा पदार्थ नित्य है जब कि पर्यायोंके पलटनेकी अपेक्षा पदार्थ अनित्य है। अवस्थाएं हर समय होती रहती हैं। इस तरहका कथन जिनवाणी ही स्पष्ट खोलकर बताती है। यह अवश्य मुक्ति रूपी स्त्रीके मिलनेके लिये दूती है क्योंकि जो श्रुतज्ञान द्वारा भेदविज्ञानका लाभ करते हैं और परसे भिन्न आत्माको अनुभव करते हैं वे सीधे मोक्ष रूप स्त्रीकी ओर चले जाते हैं। ऐसी जिनवाणीके कहे हुए तत्वोंको श्रद्धान करनेवाले व कहने सुननेवाले बहुत कठिन हैं। परन्तु जो तत्वज्ञानके अनुसार मुनि हो आत्मध्यानका अभ्यास करके केवलज्ञानकी प्राप्तिका उद्यम करते हैं ऐसे महान पुरुष तो बहुत ही दुर्लभ हैं। उनके सम्बंधमें क्या शब्द कहा जावे सो कोई शब्द नहीं मिलता है।

प्रयोजन यह है कि आत्मानुभवके उद्योगको बड़ा ही अपूर्व लाभ जान करके जो आत्महित करना चाहें उनको प्रमाद न करके मुक्तिका साधन कर लेना चाहिये।

श्री पद्मनंदि मुनि जिनवाणीकी स्तुतिमें कहते हैं—

कदाचिदंबत्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधीतेपि न तत्वनिश्चयः।
ततः कुतः पुंसि भवेद्विवेकिता त्वया विमुक्तस्य तु जन्मनिष्फल ॥११॥
त्वमेवतीर्थं शुचि बोधिवारिमत् समस्तलोकत्रयशुद्धकारणं।
त्वमेव चानंदसमुद्रवर्धने, मृगांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम् ॥ २४ ॥

भावार्थ—हे जिनवाणी माता, तेरी कृपा बिना शास्त्रको पढ़ते

न सुनते हुए भी तत्त्वका निश्चय नहीं होता है तब फिर तेरे आश्रय बिना पुरुषमें भेदविज्ञान कैसे होगा ? जो तेरी सेवा नहीं करते उनका जन्म निष्फल है। तू ही पवित्र ज्ञान जलको रखनेवाली नदी स्वरूप है, तू तीन लोकके जीवोंको शुद्ध करनेका कारण है और तू ही निश्चय आत्मतत्वके श्रद्धान करनेवालोंको आत्मानंदरूपी समुद्रके बढ़ानेके लिये चंद्रमाके समान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो जगतारण मोक्षलक्ष्मिदूती सद्दर्शनं दायका,
अनुपम जिनवर बाणि पाठ करते सुनते रुची धारका ।
ते सज्जन दुष्प्राप्य आज जगमें क्रोधादिमल दूर जो,
कहना क्या उनका स्वमुक्तिहेतू साधैं परमज्ञान जो ॥१०५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो इस संसारसमुद्रसे तर गए हैं वे अरहंत इसी प्रकारकी शिक्षा देते हैं कि अन्य जीव भी तिरैं—

ये स्तुत्यां जन्मसिंधोरसुखमितिततेर्लीलया तारयित्वा ।
नित्यं निर्वाणलक्ष्मीं बुधसमितिमतां निर्मलामर्पयन्ते ॥
स्वाधीनास्तेऽपि यत्तद्व्यपगततमोज्ञानसम्यक्त्वपूर्वाः ।
पोष्यन्ते नान्यशिक्षां मम परमसुभौ विद्यते नात्र चित्रम् ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (असुखमितिततेः जन्मसिंधोः) दुःखोंके समूहसे भरे हुए संसारसमुद्रसे (लीलया तारयित्वा) लीला मात्रमें पार उतारकर (स्तुत्यां) प्रशंसनीय (नित्यं) अविनाशी (बुधसमिति-मतां) बुद्धिमानोंसे माननीय (निर्मलाम्) निर्मल (निर्वाणलक्ष्मीं) मोक्षलक्ष्मीको (अर्पयन्ते) प्रदान करते हैं (तेपि) वे ही (स्वाधी-नाः) स्वाधीन हैं (यत्तत्) क्योंकि (व्यपगततमोज्ञानसम्यक्त्वपूर्वाः)

उनका अज्ञान अन्धकार सम्यक्तपूर्वक ज्ञानके द्वारा नष्ट होचुका है वे (अन्यशिक्षां न पोष्यन्ते) अन्य शिक्षाकी पुष्टि नहीं करते हैं (अत्र) यहां (मम उरौ) मेरे दिलमें (परं चित्रं) कोई परम आश्चर्य (न विद्यते) नहीं होता है ।

भावार्थ—जो स्वयं जिस कामको सिद्ध करलेता है वह उस काममें दूसरेको भी लगाकर उसका उद्धार कर सक्ता है । अर्हन्त भगवान सम्यग्ज्ञानकी सेवा करके स्वयं कर्मोंके बंधनसे छूटकर स्वाधीन होगए । वे अपनी दिव्यवाणीसे इसी प्रकारकी शिक्षा देते हैं कि जो कोई सम्यक्तपूर्वक ज्ञानको प्राप्त करके आत्मानुभव करेगा वह संसारसमुद्रसे उसी तरह पार होजायगा जिस तरह हमने पार पालिया है । उनकी इस सम्यक् शिक्षाको जो ग्रहण करते हैं व उसपर चलते हैं वे भी शीघ्र संसारसमुद्रसे पार होजाते हैं और उस मोक्षलक्ष्मीको पालेते हैं जिसके लिये सन्त पुरुष निरन्तर भावना किया करते हैं व जिसका कभी क्षय नहीं होता है तथा जो कर्ममलसे रहित निर्मल है । आचार्य कहते हैं कि जो स्वयं तर गए हैं उनके द्वारा यदि दूसरे तार लिये जांय तो कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है । जो जहाज स्वयं तरता है वही दूसरोंको भी अपने साथ पारकर देता है । तात्पर्य यह है कि हमको श्री अरहंत भगवानकी परमोपकारिणी शिक्षाके ऊपर चलकर अपना आत्मोद्धार कर लेना चाहिये । स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें अरहंतका स्वरूप बताते हैं—

भावाभावस्वरूपं सकलमसकलं द्रव्यपर्यायतत्वं ।
भेदाभेदावलीढं त्रिभुवनभुवनाभ्यन्तरे वर्तमानम् ॥

लोकालोकावलोकी गतनिखिलमलं लोकने यस्य बोध-
स्तं देवं मुक्तिकामा भवभवनमिदे भावयन्त्वात्मन्न ॥६४७॥

भावार्थ—जिसका ज्ञान तीन लोकके भीतर पाए जानेवाले भाव तथा अभाव स्वरूप, अनेकरूप व एकरूप, भेदरूप व अभेदरूप द्रव्योंके और पर्यायोंके स्वरूपको देखते हुए लोक और अलोक दोनोंको देखनेवाला है उस सर्वदोष रहित अर्हंतदेवको यहां संसार—घरके नाश करनेके लिये मोक्षके चाहनेवाले सेवन करहु।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो भवसागर दुःखदाय क्षणमें भवि जीवको पारकर,
देते मोक्ष पवित्र नित्य लक्ष्मी जो चाहते ज्ञानधर।
वे हैंगे स्वाधीन सर्वतमहर सम्यक्तमय ज्ञानसे,
जो देते नहिं अन्य कोय शिक्षा नहिं मैं अचम्भा हिये ॥१०६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस संसारमें कोई वस्तु सुखदायक नहीं है—

ध्रुवापायः कायः परिभवभवाः सर्वविभवाः।
सदानार्या भार्याः स्वजनतनयाः कार्यविनयाः॥
असारे संसारे विगतशरणे दत्तमरणे।
दुराराधेऽगाधे किमपि सुखदं नापरपदं॥ १०७॥

अन्वयार्थ—(कायः) यह शरीर (ध्रुवापायः) निश्चयसे नाश होनेवाला है (सर्वविभवाः) सर्वसम्पत्तियें (परिभवभवाः) वियोगके सन्मुख हैं। (भार्याः) स्त्रियें (सदा अनार्या) सदा ही सुखकारी व हितकारी व सभ्यतासे व्यवहार करनेवाली नहीं हैं (स्वजनतनयाः) अपने कुटुम्बी या पुत्र (कार्यविनयाः) अपने मतलबसे विनय करनेवाले हैं। (दत्तमरणे) मरणको देनेवाले (विगतशरणे) व

थरणरहित (अगाधे) बहुत गहरे (दुराराधे) दुःखोंसे भी जिसका तरना कठिन है (असारे संसारे) ऐसे इस साररहित संसारमें (अपरपदं) सिवाय मोक्षके दूसरा कोई पद (सुखदं न) सुखका देनेवाला नहीं है।

भावार्थ–यहां आचार्यने बताया है कि यह संसार बिलकुल असार है। इसमें संसारी प्राणियोंको थिरता प्राप्त नहीं होती–वे जन्मते मरते रहते हैं। उनको कोई मरणसे बचा नहीं सक्ता। इसका आदि व अन्त नहीं है तथा यह इतना विशाल है कि इसका पार करना कठिन है। इसमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब आत्माको सुखदाई नहीं हैं। पहले तो यह शरीर ही नाशवंत है, आयु कर्मके आधीन है, इसके छूट जानेका कोई समय नियत नहीं है। लक्ष्मी आदि बहुत ही चंचल हैं, स्त्रियोंका संसर्ग मोहमें फंसानेवाला है व आत्मध्यानमें बाधक है। कुटुम्बीजन व पुत्रादि सब अपने२ मतलबको देखते हैं। जब स्वार्थ नहीं सधता है तब बात भी नहीं करते हैं। स्वार्थमें विरोधी पिताको भी पुत्र मार डालते हैं। इस संसारमें सर्व ही मित्र आदि मतलबके ही साथी हैं। जिस २ चेतन व अचेतन पदार्थका संग्रह किया जाता है कि इससे कुछ सुख मिलेगा उसीका वियोग होजाता है। पराधीन सुख आकुलताका ही कारण है। इसलिये यही अनुभव करना चाहिये कि सच्चा सुख आत्मामें ही है। उसीकी चाह करके सामायिकका अभ्यास करना योग्य है। श्रीअमितगति स्वामी सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं–

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता,
सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतयः।

मदान्धवनितानेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वमखिला-
महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमनाः ॥ २९९ ॥

भावार्थ—सर्व संसारी जीवोंके लिये ये रूप, स्थान, कुटुम्बी-जन, पुत्र, पदार्थ, स्त्री, पुत्री, लक्ष्मी, यश, चमक, राग, बुद्धि, स्नेह तथा धैर्य सब मदसे उन्मत्त स्त्रीके नेत्रके स्वभावके समान चंचल हैं। अहो! बड़े कष्टकी बात है कि ऐसा जान करके भी यह मानव इंद्रियोंके विषयोंको सेवन करता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद।

है यह तन जु विनाशनीक लक्ष्मी है सर्व जग चंचला।
भार्या नित्य कुमोहकार स्वजना अर पुत्र स्वारथलगा॥
है संसार असार शर्ण नहिं को जब मृत्यु आजात है।
दुस्तर दुर्गम लोक माहिं वस्तू सुखकरन दिखलात है॥१०७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मरणसे कोई बच नहीं सक्ता।

मालिनीवृत्तम्।

असुरसुरविभूनां हंति कालः श्रियं यो।
भवति न मनुजानां विघ्नतस्तस्य खेदः॥
विचलयति गिरीणां चूलिकां यः समीरो।
गृहशिखरपताका कंपते किं न तेन॥ १०८॥

अन्वयार्थ—(यः कालः) जो मरणरूपी काल (असुरसुरविभूनां) भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी तथा स्वर्गवासी देवोंके स्वामियोंकी (श्रेयं) लक्ष्मीको (हंति) नाश करदेता है (तस्य) उस कालको (मनुजानां) मनुष्योंकी सम्पत्तिको (विघ्नतः) हरलेनेमें (खेदः) खेद (न भवति) नहीं होसक्ता है। (यः समीरः) जो पवन (गिरीणां चूलिकां) पहाड़ोंकी चोटियोंको (विचलयति) हिला

देती है (तेन) उस पवनसे (गृहशिखरपताका) घरके शिखरकी ध्वजा (किं न कंपते) क्यों न कांप जायगी ?

भावार्थ—आचार्य दिखलाते हैं कि मरणसे कोई भी संसारी प्राणी बच नहीं सक्ता। बड़ी२ आयुके धारक व बड़ी सामर्थ्यके धारक इन्द्रादिक देवोंको भी यह मरण नहीं छोड़ता है तब थोड़ी आयुधारी व थोड़ी सामर्थ्यधारी मनुष्योंको तो मरण कैसे छोड़ सक्ता है? जिस समय मरण आजाता है उस समय वह सब संपदा जिसको हम अपनी मान रहे थे बिलकुल छूट जाती है। मरण करते हुए जीवके साथ उसका बांधा पुण्य या पापकर्म तो जाता है परन्तु अन्य कोई चेतन व अचेतन पदार्थ बिलकुल साथ नहीं जासक्ते हैं। वास्तवमें कर्मभूमिके हम मनुष्य तथा पशुओंका जीवन तो पानीके बुदबुदके समान चंचल है क्योंकि जब देवोंके व भोगभूमि जीवोंके अकाल मृत्यु कोई बाहरी क्षयकारी कारणके मिलनेसे हो जाती है इसलिये हम लोगोंके जीवनको हर लेना तो यमराजके लिये बिलकुल सहज है। यह बात बिलकुल ठीक है कि जो हवा पर्वतोंके शिखरोंको हिला सक्ती है उसके लिये घरके ऊपरकी पताकाको हिलाना क्या कठिन है ? कुछ भी नहीं।

प्रयोजन कहनेका यह है कि जब हम लोग मरणके मुखमें सदा ही बैठे हुए हैं तब हम लोगोंको धर्मसाधनमें व आत्महितमें प्रमाद न करना चाहिये।

मानव जन्ममें देवोंके जन्मसे भी यह विशेषता है कि जिस संयम व ध्यानसे आत्मा परम पवित्र होसक्ता है वह संयम तथा ध्यान इस मानव शरीरसे ही हो सक्ता है। इसलिये इस जन्मके समयको

बड़ा ही मूल्यवान समझकर हमें इससे आत्महित करलेना चाहिये।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

देवाराधनमंत्रतंत्रहवनध्यानग्रहेज्याजप–
स्थानत्यागधराप्रवेशगमनव्रज्या द्विजार्चादिभिः ॥
अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमन्नंगीकृतो भक्षितुं ।
व्याघ्रेणेव बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितुम् ॥२१७॥

भावार्थ—जैसे बाघसे पकड़ा हुआ प्राणी जंगलमें मरणसे बच नहीं सक्ता । इसी तरह जब इस प्राणीको भयानक यमराज भक्षण करता है तब देवपूजा, मंत्र, तंत्र, होम, ध्यान, ग्रहपूजा, जप, स्थानसे चले जाना, धरतीमें प्रवेश करना, विहारी साधु होजाना, ब्राह्मणोंकी सेवा आदि कोई बचा नहीं सक्ते हैं ।

मूलश्लोकानुसार मालिनी वृत्तम् ।

असुर सुर पतीकी जो विभूती छुड़ावे ।
मानवको हरने खेद नहिं काल लावे ॥
पर्वतको चोटी जो पवन डगमगावे ।
गृह शिखरध्वजाको खेद विन सो उड़ावे ॥ १०८ ॥

उत्थानिका—आगे जगतके पदार्थोंकी चंचलताको दिखाते हैं—

द्रुतविलंबित छन्द ।

सकललोकमनोहरणक्षमाः करणयौवनजीवितसंपदः ।
कमलपत्रपयोलवचंचलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये ॥१०९

अन्वयार्थ—(सकललोकमनोहरणक्षमाः) सर्व लोगोंके मनको हरण करनेमें समर्थ (करणयौवनजीवितसम्पदः) इंद्रियोंकी युवानी व जीवन व सम्पत्तियें (कमलपत्रपयोलवचंचलाः) कमलके पत्तेपर पड़े हुए पानीकी बूंदकी तरह चंचल हैं (जगत्त्रये) तीनों ही लोकमें (किमपि स्थिरं न अस्ति) कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है ।

भावार्थ—यहांपर यह बताया गया है कि इस संसारमें हरएक अवस्था नाशवंत है। जिन महापुरुषोंकी इंद्रियोंकी रचना ऐसी सुन्दर होती है जो तीन लोकके प्राणियोंके मनको हरण कर सके व जिनका जीवन अनेक सांसारिक सुखोंसे पूर्ण होता है व जिनके पास चक्रवर्तीकीसी सम्पदा होती है ऐसे २ प्राणी इतनी जल्दी नष्ट होजाते हैं जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बून्द गिर जाती है। संसारके सर्व पदार्थोंको चंचल समझ कर किसीसे भी मोह करना उचित नहीं है।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

> वयं येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेत्र सकलाः ।
> समं यैः संवृद्धा ननु विरसतां तेपि गमिताः ॥
> इदानीमस्माकं मरणपरिपाटीक्रमकृता ।
> न पश्यन्तोप्येवं विषयविरतिं यान्ति कृपणाः ॥३३७॥

भावार्थ—जिनसे हम पैदा हुए थे वे सब तो मर चुके, व जिनके साथ हम बढ़े थे वे भी वियोगको प्राप्त होगए, अब हमारा मरण होनेवाला है। जो दीन हैं वे ऐसा देखते हुए भी इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त नहीं होते हैं।

वास्तवमें चतुर पुरुषको संसारकी अनित्यता को ध्यानमें लेकर स्वहितमें प्रयत्न करना उचित है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

जगमनहरसम्पत् अक्ष यौवन स्वजीवन,
चंचल हैं सारे, जिम कमलपत्र जलकण ।
हम सकल पदारथ तीन भूके अथिर हैं,
ज्ञानी ज्ञाता हो आत्महित बोध दृढ़ हैं ॥ १०६ ॥

द्रुतविलंबित छन्दः ।

बलवतो महिषाधिपवाहनो निरुनिर्लिंपपतीनपहंति यः ।
अपरमानववर्गविमर्दने भवति तस्य कदाचन न श्रमः ॥११०

अन्वयार्थ-(यः) जो (बलवतः) बलवान (महिषाधिपवाहनः) बड़े भैंसोकी सवारी करनेवाला ऐसा यमराज (निरुनिर्लिंपपतीन्) देवोंके स्वामियोंको (अपहंति) नाश करदेता है (तस्य) उस कालको (अपरमानववर्गविमर्दने) दूसरे मानवोंके गर्वको खण्डन करनेमें (कदाचन) कभी भी (श्रमः) मिहनत (न भवति) नहीं करनी पड़ती है।

भावार्थ-इस श्लोकमें यह बताया गया है कि यह मरण किसीको भी छोड़ता नहीं है। बड़े २ बलवान देवोंके स्वामियोंको क्षणमात्रमें नष्ट कर देता है तब अल्पायु धारी मानव व पशुओंकी तो बात ही क्या है। तात्पर्य यह है कि अपना मरण अवश्य एक दिन आनेवाला है ऐसा समझ कर आत्महितके साधनमें रञ्च मात्र भी प्रमाद करनेकी जरूरत नहीं है। मरणसे कोई बच नहीं सक्ता ऐसा अमितगति महाराजने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया ।
लोकालोकविलोकिकेवललसत्साम्राज्यलक्ष्मीधराः ॥
प्रक्षीणायुषि यान्ति तीर्थपतयस्तेऽप्यस्तदेहास्पद ।
तत्रान्यस्य कथं भवेद् भवभृतः क्षीणायुषो जीवनम् ॥३००॥

भावार्थ-जिन तीर्थंकरोंके चरणोंको इन्द्र चक्रवर्ती आदि लोकशिरोमणि पुरुष अपनी कांतिरूपी जल [illegible] हैं जो लोक अलोकको देखनेवाले ऐसे केवलज्ञानरूपी राज्य [illegible] ऐसे

तीर्थंकर भी आयुकर्मके समाप्त होनेपर इस शरीरको छोड़कर मोक्षको चले जाते हैं तो फिर अन्य अल्पायु धारी मानवोंके जीवनका क्या भरोसा ?

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

जो यम हन डाले, देव इन्द्रादिकोंको ।
वह बलशालिनको दीर्घ वय धारिकोंको ॥
सो मानव वर्ग जो धरैं आयु अल्पा ।
हनता क्षणभरमें नाहिं श्रम कोय कल्पा ॥ ११७ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि इस जगतमें कोई वस्तु सुखदाई नहीं है—

स्वजनसंगतिरेव वितापिनी भवति यौवनिका जरसा रसा।
विपदवैति सखीव च संपदम् किमपि शर्मविधायि न दृश्यते ॥११८॥

अन्वयार्थ-(स्वजनसंगतिः) अपने बंधुजनोंकी संगति (एव) ही (वितापिनी) उनके वियोगमें दुःख देनेवाली होजाती है (यौवनिका) युवानी (जरसा रसा) बुढ़ापेके साथ है (विपत्) आपत्ति (सखी इव) सखीके समान (संपदम्) संपत्तिके पास (अवैति) जाती है। (शर्मविधायि) सुख देनेवाली (किमपि, कोई भी वस्तु (न दृश्यते) नहीं दिखलाई पड़ती है।

भावार्थ-इस जगतमें जिस जिस पदार्थका संयोग है वह वियोगके साथ है। आज जिन स्त्री पुत्र मित्रोंके साथमें कुछ साता मालूम होती है यदि उनका वियोग होजावे या वे अपने अनुकूल वर्तन न करें तो ये ही पदार्थ दुःखदाई भासते हैं व उनके निमित्तसे नित्य संताप रहता है। जिस युवानीके मदमें चूर होकर हम शरीरके बलका व रूपका अहंकार करते हैं वह जवानी मात्र थोड़े

दिन रहनेवाली है, एकदम बुढ़ापा आजावेगा तब युवानीका पता ही नहीं चलेगा। आज धनसंपदा राज्यविभूति दिखलाई पड़ती है, यकायक विघ्न आजाते हैं राज्य छूट जाता है, सम्पदाएं चली जाती हैं, संपत्तिवान विपत्तियोंमें फंस जाता है। जिस जिस पदार्थसे यह मोही जीव सुख मानता है वे ही पदार्थ नाशवंत हैं व बिगड़ जाते हैं, बस इस मोही जीवको महान दुःखोंका सामना करना पड़ जाता है। जगतका ऐसा क्षणभंगुर स्वभाव जानकर ज्ञानी जीवको निरंतर आत्मकल्याणके सन्मुख रहना चाहिये।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत्में कहते हैं—

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रंकायते निश्चितं ।
सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणो आशु क्षयं गच्छति ॥
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः ।
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वान्यत्र कार्यो मदः ॥४२॥

भावार्थ—राजा भी क्षणमात्रमें निश्चयसे रंक होजाता है। सर्व रोगोंसे रहित जवान शरीर भी शीघ्र नाशको प्राप्त होजाता है लक्ष्मी और जीतव्य ये दोनों पदार्थ औरोंकी अपेक्षा जगतमें सार हैं। जब इन ही दोनोंकी ऐसी चंचल हालत हैं तब विद्वान पुरुष और किस पदार्थमें मद करें ?

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

संगति निज जनकी, तोषकारी बखानो ।
तनकी तरुणाई, वृद्धपन माहिं सानी ॥
आपद आ घेरे, मित्रवत् संपदाको ।
सुखप्रद जगवस्तू, दीखती नहिं कदाको ॥ ११२ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मरणसे कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है—

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः ।
यमभटेन पुरस्कृतमातुरं भवभृतं प्रभवंति न रक्षितुम् ॥११२॥

अन्वयार्थ–(सचिवमंत्रिपदातिपुरोहिताः) दीवान, मंत्री, पैदल, पुरोहित तथा (त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः) देव, विद्याधर, दैत्य, इन्द्र (यमभटेन) जमराजरूपी योद्धासे (पुरस्कृतम्) पकड़े हुए (आतुरं) दुःखी (भवभृतं) संसारी प्राणीको (रक्षितुम्) रक्षा करनेको (न प्रभवंति) समर्थ नहीं होते हैं।

भावार्थ–यहांपर आचार्य कहते हैं कि जब मरणका समय आजाता है तब कोई किसीको बचा नहीं सक्ता है। जिन सम्राटोंके बड़े२ मंत्री, दीवान, पैदल, सिपाही व पुरोहितादि होते हैं व जिनके आधीन देव, विद्याधर, व्यंतरादि होते हैं व इन्द्र भी जिनकी भक्ति करता है ऐसे चक्रवर्ती तीर्थंकरादि भी मरणके समयपर इस शरीरमें फिर नहीं रह सके हैं। जब महान पुरुषोंकी यह दशा है तब हम सबको तो कालके मुखमें बैठा हुआ ही अपनेको समझना चाहिये। ऐसा निश्चय कर आत्मकल्याणमें जरा भी प्रमाद न करना चाहिये।

पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत्‌में कहते हैं–

कालेन प्रलयं व्रजंति नियतं तेपींद्रचन्द्रादयः ।
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशो शक्तेरदीर्घायुषः ॥
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं मुधा मा कृथाः ।
कालः क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किंचिदन्विष्यताम् ॥५१॥

भावार्थ–जब इन्द्र, चंद्र आदि भी मरणके द्वारा निश्चयसे नाश किये जाते हैं तब उनके मुकाबलेमें कीटके समान अल्पायुवाले अन्य जनकी तो बात ही क्या है? इसलिये अपने किसी प्रियके

मरण हो जानेपर वृथा मोह नहीं करना चाहिये। इस जगतमें तू ऐसा कोई उपाय शीघ्र ढूंढ जिससे काल अपना दाव न कर सके।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

सेनापति मंत्री, अरु पुरोहित सिपाही ।
सुर असुर खगाधिप, इन्द्र बहुबल धराई ॥
अब यमभट जमके, लेत है दाव आई ।
दुःखित हो प्राणी, नहिं सकें तब बचाई ॥ ११२ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस संसारमें कोई अपना रक्षक नहीं है—

बलकृतोऽशनतोऽपि विपद्यते
यदि जनो न तदा परतः कथम् ।
यदि निहन्ति शिशुं जननी हिता
न परमस्ति तदा शरणं ध्रुवम् ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (जनः) यह मानव (बलकृतः) शरीरको बलदाई (अशनतः अपि) भोजनसे ही (विपद्यते) विपत्तिमें आजाते हैं, रोगी होजाते हैं तथा मरण कर जाते हैं (तदा) तब (परतः) दूसरे विष आदि पदार्थोंसे (कथम्) किस तरह बच सके हैं ? (यदि) जब (हिता) हितकारी (जननी) माता (शिशुं) बच्चेको (निहंति) मार डालती है (तदा) तब (ध्रुवं) निश्चयसे (शरणं) शरणामें रखनेवाला (परं न अस्ति) दूसरा कोई नहीं है।

भावार्थ—इस संसारमें कोई जीव किसीको मरणसे बचानेवाला नहीं है। जिस भोजनसे शरीरकी रक्षा होती है व बलदाई होता है वही भोजन रोगी प्राणीके लिये विषमज्वर पैदा करके उसके प्राणोंका अन्त करनेवाला होजाता है। इस जगतमें कोई कोई पशु

ऐसे हैं कि जिनको जननेवाली माता ही उनका भक्षण करलेती है जहां माता ही बच्चेको खालेवे वहां और कौन बचानेवाला है ?

ऐसा जानकर मानवको आत्मानुभवके भीतर शरण लेनी चाहिये । यही इस जीवका सच्चा रक्षक है । यही शुभ गतिमें व परम्परा मोक्षमें इस जीवको पहुंचानेवाला है । वास्तवमें इस जगतमें कोई भी तीव्र कर्मके उदयको टाल नहीं सक्ता है ।

पद्मनंद मुनि अनित्य पंचाशतमें कहते हैं—

कि देवः किमु देवता किमु गदो विद्यास्ति किं किं मणिः ।
किं मंत्रः किमुताश्रयः किमु सुहृत् किं वा सुगंधोस्ति सः ॥
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः संत्यत्र लोकत्रये ।
यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते ॥३२॥

भावार्थ—न कोई देव है न कोई देवी है, न वैद्य है न कोई विद्या है, न कोई मणि है न मंत्र है, न कोई आश्रय है न कोई मित्र है, न कोई गंध है न कोई और राजा आदि इस तीन लोकमें हैं जो प्राणियोंके उदयमें आए हुए कर्मको रोक सकें ।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

बलप्रद भोजन भी, प्राणिगण नाश करता ।
तब विष फल खाना, क्यों नहीं मर्ण करता ॥
हितकारी माता, बाल अपना हने है ।
कौन फिर इस जगतमें, शर्ण जिय राखले है ॥११३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जीवको अपनी करणीका फल अकेला ही भोगना पड़ता है—

विविधसंग्रहकल्मषसंगिनो विदधतेंगकुटुंबकहेतवे ।
अनुभवंत्यसुखं पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्सहम् ॥११४॥

अन्वयार्थ-(अंगिनः) यह शरीरधारी प्राणी (अंगकुटुम्बक-हेतवे) अपने शरीर तथा अपने कुटुम्बके लिये (विविधसंग्रह-कल्मषं) नानाप्रकारके पापके संचयको (विदधते) करते रहते हैं (पुनः) परन्तु (एकका) अकेले ही (नरकवासं) नरकके स्थानमें (उपेत्य) जाकरके (सुदुस्सहं) अति दुःसह (असुखं) दुःखको (अनुभवंति) भोगते हैं।

भावार्थ-ये संसारी गृहस्थ अपने स्त्री पुत्रादिके मोहमें ऐसे अंध होजाते हैं कि उनके मोहमें और अपने शरीरके मोहमें पड़कर नाना प्रकारके विषयोंको भोगनेके अभिप्रायसे व धनके संचय करनेके लिये नीतिको उल्लंघकर व बहुतसे परिग्रहको संचय करते हुए बहुतसा पाप बांध लेने हैं। जिस कुटुम्बके लिये मोही जीव पापका संचय करते हैं वह कुटुम्ब उस पापके फलके भोगनेमें सह-कारी नहीं होता है। यह जीव अकेला ही उस पापके फलसे नर्कमें जाता है और वहां असहनीय दुःखको बहुत काल पर्यन्त भोगता रहता है। वास्तवमें हरएक जीव अपने अपने भावोंका जिम्मेदार है। अपने भावोंसे जो पाप बांधता है उसका फल उस हीको स्वयं भोगना पड़ता है ऐसा समझकर ज्ञानवानोंको उचित है कि कुटुम्बके मोहमें पड़कर उसके लिये अन्याय व अनर्थ न करें, अपनेको नीति व धर्मके मार्गसे विचलित न करें, स्वात्महित करते हुए परहित करना उचित है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

रे पापिष्ठातिदुष्टव्यसनगतमते निंद्यकर्मप्रसक्त ।
न्यायान्यायानभिज्ञ प्रतिहतकरुण व्यस्तसन्मार्गबुद्धे ॥

किं किं दुःखं न यातो विषयवशगतो येन जीवो विषद्य ।
त्वं तेनैनोऽतिवर्त्य प्रसभमिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि ॥४१८॥

भावार्थ–अरे पापी, अति दुष्ट, द्यूतादि व्यसनोंमें बुद्धिको लगानेवाला, दया रहित, सच्चे मार्गसे बुद्धिको हटानेवाला, न्याय व अन्यायसे अनजान! तूने इन्द्रियोंके विषयोंके वशमें पड़ करके क्या क्या दुःख नहीं सहन किये हैं, अब तू इन पापोंसे अच्छी तरह मुंह मोड़ और अपना मन जैनतत्त्वमें धारण कर।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

निज तनके काजे या कुटुम्बार्थ प्राणी ।
करत विविध कर्म पाप बांधत अमानी ॥
एकाकी जावे नर्कमें दुख बढ़ावे ।
कोई नहिं साथी मूढ़ आपी ठगावे ॥ ११४ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं जब आत्माके साथ यह शरीर ही नहीं जासक्ता है तब अन्य पदार्थ कैसे साथ जावेंगे–

वसनवाहनभोजनमंदिरैः सुखकरैश्चिरवासमुपासितम् ।
व्रजति यत्र समं न कलेवरं किमपरं बत तत्र गमिष्यति ॥११५॥

अन्वयार्थ–(सुखकरैः) सुखदाई (वसनवाहनभोजनमंदिरैः) कपड़े, सवारी, भोजन तथा मकानोंके द्वारा (चिरवासम्) दीर्घकाल वास करके (उपासितम्) सेवन किया हुआ (कलेवरं) यह शरीर (यत्र) जहां (समं) साथ (न व्रजति) नहीं जाता है (तत्र) वहां (बत) खेदकी बात है (अपरं किं) दूसरा क्या (गमिष्यति) साथ जावेगा?

भावार्थ–जब मरण आजाता है तब इस जीवको अकेला ही जाना पड़ता है। इस शरीरको तरह तरहके भोगोंसे तृप्त किया, मनोहर

वस्त्रोंसे सज्जित किया, नाना प्रकार हाथी घोड़े पालकी विमानादि सवारियोंपर आरूढ़ किया, हीरे जवाहरातसे मढ़े हुए सुवर्णके मकानोंमें बिठाया व सुलाया। इस तरह दीर्घ कालतक इसकी सेवा की गई तौ भी इस कृतघ्नीने मरते समय साथ न दिया तब स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बंधु, सेना नौकर आदि अपना साथ कैसे देसक्ते हैं? ये तो बिलकुल ही अलग हैं। ऐसा जान ज्ञानी जीवको किसीसे भी मोह नहीं करना चाहिये। आप ही अपनेको अपने हित अहितका जिम्मेदार समझकर सदा ही आत्महितमें लवलीन होना चाहिये। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

एवं सर्वजगद्विलोक्य कलितं दुर्वारवीर्यात्मना।
निस्त्रिंशेनसमस्तसत्त्वसमितिप्रध्वंसिना मृत्युना॥
सद्रत्नत्रयशातमार्गणगणं गृह्णन्ति यच्छित्तये।
सन्तः शांतधियो जिनेश्वरतपःसाम्राज्यलक्ष्मीश्रिताः॥३१८॥

भावार्थ-इस तरह सर्व जगतको अतुल वीर्यधारी, निर्दई व सर्व प्राणियोंको नाश करनेवाले मरण द्वारा ग्रसित देखकर शान्त परिणामी व जिनेन्द्रकथित तपकी राज्यलक्ष्मीका आश्रय करनेवाले सन्त जन उस मरणके नाशके लिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-चारित्रमई रत्नत्रय धर्मके तीक्ष्ण बाणोंको ग्रहण करते हैं।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जिस तनकी सेवा, काल बहु खूब कीनो।
सुखकर मंदिर रख, बस्त्र वाहन नवीनो॥
भोजन इष्ट दे, साथ सो भीं न आवे।
फिर जग है कोजन, संग अपना निभावे॥११५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इंद्रियोंके विषयोंमें जो लीन

होजाते हैं वे नाशको प्राप्त होते हैं—

खचरनागसदो दमयंति ये कथममी विषया न परं नरम् ।
समदद‍न्तिमदं दलयन्ति ये न हरिणं हरयो रहयन्ति ते ॥११६॥

अन्वयार्थ–(ये विषयाः) ये इन्द्रियोंके विषय जब (खचरनागसदः) विद्याधर व नागकुमारोंके समूहको (दमयन्ति) वश कर लेते हैं तब (अमी) ये (परं नरम्) दूसरे मानवको (कथं न) क्यों नहीं वश कर सकेंगे ? (ये हरयः) जो सिंह (समदद‍न्तिमदं) मदवाले हाथियोंके मदको (दलयन्ति) चूर्ण कर डालते हैं (ते) वे (हरिणं) हिरणको (न रहयन्ति) छोड़नेवाले नहीं हैं ।

भावार्थ–पांचों इन्द्रियोंके विषय बड़े प्रबल हैं । ये बड़े २ विद्याधरोंको, नागेन्द्रोंको, देवोंको, चक्रवर्ती, नारायणोंको अपने वशमें करके दीन हीन कर डालते हैं और उनको दुर्गतिमें पहुंचा देते हैं तब साधारण मानवको अपने आधीन करडालें इसमें तो कोई अन्यपनेकी बात ही नहीं है । भला जो सिंह मदवाले हाथीको चूर सक्ते हैं उनके लिये हिरणोंकी क्या गिनती ? प्रयोजन यह है कि इन दुष्ट विषयोंसे सदा अपनेको बचाना चाहिये । ये आत्महितके मार्गसे प्राणीको गिरानेवाले हैं और संसारके भयानक जंगलमें पटक देनेवाले हैं । वहां यह प्राणी भटक भटक कर घोर कष्ट उठाता है और ऐसा अन्धा होजाता है कि फिर इसको सुमार्ग दिखता ही नहीं ।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

आदित्यचन्द्रहरिशंकरवासवाद्याः ।
शक्ता न जेतुमतिदुःखकराणि यानि ॥

तानीन्द्रियाणि बलवन्ति सुदुर्जयानि ।
ये निर्जयन्ति भुवने बलिनस्त एके ॥ ९३ ॥

भावार्थ–जिनको सूर्य, चंद्र, विष्णु, शंकर, इन्द्रादिक जीत न सके ऐसी दुखदाई, बलवान व दुर्जय इंद्रियोंको जो जीत लेते हैं एक वे ही जगतमें बलवान हैं–

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

जिनने वश कीना, देव विद्याधरोंको ।
कैसे नहिं जीतैं, अक्ष सामान्यजनको ॥
मद धर हस्तीको, सिंह जो दलमले है ।
को गिनती मृगकी, ताहि चूरण करै है ॥ ११६ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मोही जीव आत्महितमें नहीं वर्तता है–

मरणमेति विनश्यति जीवितं द्युतिरपैति जरा परिवर्धते ।
प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतस्तदपि नात्महिते रमते जनः ॥११७॥

अन्वयार्थ–(मरणं एति) मरण आरहा है (जीवितं विनश्यति) जिन्दगी नाश होरही है (द्युतिः अपैति) युवानी दूर जारही है (जरा परिवर्धते) बुढ़ापा बढ़ रहा है (तदपि) तौ भी (प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतः) भयानक मोहरूपी पिशाचके वशमें पड़ा हुआ (जनः) यह मानव (आत्महिते) अपने आत्मकल्याणमें (न रमते) नहीं प्रेम करता है ।

भावार्थ–यहां आचार्यने मोही जीवकी दशा बताई है। स्त्री पुत्र मित्र व इन्द्रियोंके विषय इन्द्रादि पदार्थोंमें अज्ञानी जीव ऐसा उलझ जाता है कि अपने सामने आपत्तियें मौजूद हैं तौ भी उनपर ध्यान नहीं देता है। यह देखता है कि दिनपर दिन जिन्दगी

पूरी होती चली जाती है। मरण अचानक आनेवाला है। शरीरकी चमक दमक घट रही है। जवानी बीत रही है, बुढ़ापा आरहा है तो भी धर्मकी ओर बुद्धि नहीं लगाता है। आत्माकी परलोकमें दुर्गति न हो इसकी चिन्ता नहीं करता है। आत्मानुभव रूपी परमोत्तम कार्यको नहीं करता है, आत्मानन्दका विलास नहीं लेता है। वास्तवमें जिसके भावोंमें तीव्र मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायका उदय होता है उसकी दशा ऐसी ही भयानक होजाती है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं-

दयादमध्यानतपोव्रतादयो।
गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा।
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो।
रजोयुतालाबुगतं यथा पयः ॥ १३७ ॥

भावार्थ—जैसे निर्मल पानी धूलसहित तूम्बीमें प्राप्त होकर मैला होजाता है वैसे जिसका आत्मा दुःखदाई मिथ्यादर्शनरूपी कर्मकी रजसे गाढ़ छाया गया है उसके भीतर दया, संयम, ध्यान, तप, व्रत आदि ये सर्व गुण बिलकुल नहीं पाए जाते हैं।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जीवन बीते है, मरण आही रहा है।
द्युति तन खिरती है, वृद्धपन बढ़ रहा है॥
जो मोह पिशाचं, वश पड़ा दीन नर है।
सो भूले हितको, आत्ममें बे खबर है ॥ ११७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इंद्रियोंके विषयोंमें जो अंधा है वह अपना नाश निकट आनेपर भी धर्मसे प्रेम नहीं करता है—

जननमृत्युजरानलदीपितं
जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममतिं विदधाति नो
रतमना विषयाकुलितो जनः ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ-(सकलः) सर्व लोग (अपि) अवश्य (विलोकते) देखरहे हैं कि (इदं जगत्) यह जगत (जननमृत्युजरानलदीपितं) जन्म, मरण व बुढ़ापा इन अग्नियोंसे बराबर जल रहा है (तदपि) तौभी (रतमना विषयाकुलितः जनः) विषयोंकी चाहमें घबड़ाया हुआ मनुष्य मनको उनमें भाता हुआ (धर्ममतिं) धर्ममें बुद्धिको (नो विदधाति) नहीं लगाता है ।

भावार्थ-आचार्यने प्रगट किया है कि जो मानव इंद्रियोंके विषयोंका गुलाम होजाता है वह अपने मनको उनहीकी मूर्तिमें रंजायमान किया करता है। ऐसा होकर इस बातको भूल जाता है कि मुझे धर्म भी साधन करना जरूरी है। वह यह देखता भी है कि जगतमें कोई मानव जन्मते हैं, कोई बूढ़े होते हैं, कोई मरते हैं अर्थात् कोई भी थिर नहीं रह सक्ता है तथापि अपने सम्बन्धमें विचार नहीं करता है कि मुझे शीघ्र मर जाना होगा। आचार्य इस बुद्धिपर खेद प्रगट करते हुए प्रेरणा करते हैं कि बुद्धिमानको इन विषयोंके मोहमें अंध होकर अपना आत्महित न भुलना चाहिये।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं:—

धर्मे चित्तं निधेहि श्रुतकथितविधिं जीव भक्त्या विधेहि ।
सम्यक् स्वान्तं पुनीहि व्यसनकुसुमितं कामवृक्षं लुनीहि ॥
पापे बुद्धिं धुनीहि प्रशमयमरमाश्लिष्ट पिण्ड प्रमादं ।
छिन्धि क्रोधं विभिन्धि प्रचुरमदगिरिं रत्नेऽस्मिन् चेद्बुभुक्षा ॥४१४॥

भावार्थ–हे जीव ! यदि तुझको मुक्तिकी इच्छा है तो तू अपने चित्तको धर्ममें धारण कर, शास्त्रमें कही हुई विधिको भक्तिसे पालन कर, अपने भीतर सम्यग्दर्शनसे पवित्रता पैदा कर, आपत्ति रूपी फूलोंसे लहराते हुए कामदेवके वृक्षको उखाड़के फेंकदे, पापमें बुद्धिको न लेजा, शांति, यम, संयमको पुष्टकर, प्रमादको छोड़, क्रोधको नष्ट कर, तथा बड़े भारी मानके पर्वतको तोड़दे।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

यह सब जग जलता, मूर्ख जन देखता है।
जनम जरा मरणं अग्निमय फैलता है ॥
तदपि विषय लोभी अंध मन होरहा है।
नहिं सेवै धर्म पापको बोरहा है ॥ ११८ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि गृहस्थका वास छोड़नेके ही योग्य है—

मालिनीवृत्तम् ।

क्वचन भजति धर्मं काप्यधर्मं दुरंतम् ।
कचिदुभयमनेकं शुद्धबोधोऽपि गेही ॥
कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि ॥११९॥

अन्वयार्थ–(शुद्धबोधः अपि गेही) शुद्ध ज्ञानको अर्थात् सम्यग्ज्ञानको रखनेवाला गृहस्थ भी (क्वचन) किसी जगह तो (धर्मं) धर्मको (क्व) कहीं (दुरंतम् अधर्मं) भयानक अधर्मको (क्वचित्) कहीं (अनेकं उभयं) अनेक प्रकार धर्म और अधर्म दोनोंको (भजति) सेवन करता है (इति) इसलिये (गृहवासः) गृहस्थमें रहना (कथम्) किसतरह (मलानाम्) पापके मैलोंको (शुद्धिकारी)

शुद्ध करनेवाला होसक्ता है (इति) ऐसा समझकर (विमलमनस्कैः) निर्मल मनवाले महात्माओंके द्वारा (सः) यह गृहवास (त्रिधापि) मन, वचन, काय तीनोंसे ही (त्यज्यते) छोड़ दिया जाता है।

भावार्थ-यहां आचार्यने यह स्पष्टपने दिखला दिया है कि कोई भी मानव गृहस्थकी कीचड़में फंसा हुआ कर्मोंसे मुक्त नहीं होसक्ता है। यहां तक कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी व तीन ज्ञानके धारी तीर्थंकरको भी गृहवास छोड़कर निर्ग्रन्थ होना पड़ता है। और बिलकुल निर्ममत्व होकर निजात्मानुभवका आनन्द लेना पड़ता है-शुद्ध वीतराग भावोंमें रमण करना पड़ता है तब कहीं शुक्लध्यान जगता है जो चारों घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञान पैदा कर देता है। तब कोई सामान्य मनुष्य कितना भी ज्ञानी क्यों न हो गृहवाससे कर्ममलसे मुक्त नहीं होसक्ता। क्योंकि गृहस्थीको धर्म पुरुषार्थके सिवाय अर्थ और काम पुरुषार्थकी भी सिद्धि करनी पड़ती है। अर्थ पुरुषार्थके लिये उसको धन कमानेके लिये बहुत आरम्भ व व्यवसाय करना पड़ता है जिसमें हिंसाजनित बहुत अधर्म करना पड़ता है। काम पुरुषार्थमें इंद्रियोंको तृप्त करनेके लिये पांचों इंद्रियोंके भोगोंको भी भोगता है। इसमें भी पापका ही संचय करता है कभी२ व्यवहार धर्मके ऐसे भी काम करता है जिससे पुण्य व पाप दोनों बंधते हैं जैसे-धर्मस्थानको बनवाना, पूजा प्रतिष्ठाका आरम्भ कराना। जहांतक पापोंका बिलकुल संवर न हो वहांतक कर्मकी निर्जरा होना संभव नहीं है। गृहस्थको गृह सम्बन्धी आडम्बरमें सम्यग्दृष्टी भी क्यों न हो, कुछ पापका संचय करना ही पड़ता है। अर्थ व काम पुरुषार्थमें रागद्वेषकी उत्कटता

होती ही है। इसीलिये जो साधुजन अर्थ व काम पुरुषार्थको छोड़ कर मात्र आरम्भ व परिग्रहसे रहित होनेके कारणसे पापके संचयसे बचते हैं उन्हींको गृहकी आकुलताएं नहीं सताती है वे ही निराकुल हो आत्मध्यान करते व स्वाध्याय आदिमें लीन रहते हैं। उनके ही परिणामोंकी बढ़ती हुई शुद्धता होती रहती है। इसलिये जो पूर्णपने आत्मकल्याण करना चाहे उनके लिये यही उचित है कि गृहवाससे उदास हो वनकी सेवा करें। वास्तवमें गृहादि परिग्रहका त्याग ही ध्यानकी सिद्धिका साधन है।

श्रीपद्मनंदि मुनि यतिधर्ममें कहते हैं—

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो ।
यदीन्द्रियसुखं तदिह कालकूटः सुधा ॥
स्थिरा यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिदम्बरे ।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदीन्द्रजालेपि च ॥ ५६ ॥

भावार्थ-यदि परिग्रहधारी गृहस्थोंको मोक्षकी प्राप्ति होजावे तो मानना पड़ेगा कि अग्नि ठंढ़ी होजायगी। यदि इन्द्रियोंके भोगोंसे सच्चा सुख होता हो तो मानना पड़ेगा कि कालकूट विष भी अमृत हो जायगा। यदि यह शरीर सदा स्थिर माना जायगा तो आकाशमें बिजलीको भी स्थिर मानना होगा। यदि संसारमें रमणीयता मानी जायगी तो इन्द्रजालके खेलमें भी रमणीयता माननी पड़ेगी।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

ज्ञानी भी गेही, कभी शुभ काम करता ।
कभी करता अशुभ, कभी दोऊ हि करता ॥
तब घरमें रहना, किस तरह मैल धोवे ।
इम लख शुचि मन धर, त्याग घर आत्म जोवे ॥११६॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो आत्माके सच्चे सुखको

प्राप्त करना चाहते हैं उनको अपने परमात्म स्वभावका नित्य चिंतवन करना उचित है—

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ।
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(दक्षैः) जो चतुर पुरुष (संकोचिताक्षैः) अपनी इंद्रियोंको वश रखनेवाले हैं, (भवमृतिचकितैः) जन्म मरणसे भयभीत हैं, (लोकयात्रानपेक्षैः) संसारके भ्रमणसे उदास हैं उनको (नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये) बाधा रहित, स्थिर व निर्मल आत्मीक सुखकी प्राप्तिके लिये (शश्वत्) सदा ही (सर्वज्ञः) सर्वको जाननेवाला (सर्वदर्शी) सर्वको देखनेवाला, (भवमरणजरातंकशोकव्यतीतः) जन्म, मरण, जरा, शोक आदि दोषोंसे रहित (लब्धात्मीयस्वभावः) अपने स्वभावको प्राप्त किये हुए (क्षतसकलमलः) सर्व कर्ममलोंसे रहित (अनपायः) अविनाशी (आत्मा) अपने आत्माको ही (चिन्तनीयः) ध्यानमें ध्याना योग्य है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने इस तत्त्वभावनाका सार बता दिया है कि जो भव्यजीव अपने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके आत्मीक सच्चे सुखको भोगना चाहें जो सुख स्थिर है, बाधारहित है, स्वाधीन है, उनको उचित है कि वे पहले अपनी पांचों इन्द्रियोंको वश करें, क्योंकि इंद्रियोंकी चाहनाएं ध्यानमें बाधक होती हैं फिर वह मनमें दया लावें कि मेरा आत्मा इस संसारमें वारवार शरीर धारण कर जन्ममरणके कष्ट न उठावे । इसीलिये उसके मनमें संसार यात्रासे उदासीनता

हों व स्वाधीनताका परम प्रेम हो। ऐसा ज्ञानी जीव निश्चिन्त होकर परमात्माका या निश्चयनयसे अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप ध्यानमें लेकर वारवार चिन्तवन करे। निश्चयसे सिद्ध परमात्मामें और अपने आत्मामें कोई तरहका अन्तर नहीं है—दोनोंका स्वभाव समान है। यह आत्मा निश्चयसे पूर्ण ज्ञान दर्शन गुणका धारी है, इसमें कर्मोंके द्वारा होनेवाले राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मानादि भाव व शोक व जन्म, जरा, मरण आदि अवस्थाएं नहीं हैं यह तो कर्म रहित शुद्ध वीतराग है, अपने असल स्वभावमें सदा शोभायमान है। इस आत्माका आदि अन्त नहीं है इससे यह अविनाशी है। इस तरह ध्यानमें अपने स्वरूपको जमाकर बारबार ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। जब मनकी वृत्ति परभावोंसे हटकर अपने स्वरूपमें कुछ देरके लिये भी स्थिर होवेगी—स्वात्मानुभव जग जायगा उसी समय आत्मीक सुखका लाभ होगा। आत्मध्यान करनेके लिये क्या२ बाहरी साधनोंकी जरूरत है उसका कथन श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके आधारपर आगे किया जायगा। वास्तवमें आत्मध्यानसे ही आत्माकी शुद्धि होती है, आत्मध्यानसे ही आनन्दकी प्राप्ति होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मोंका संवर होता है आत्मध्यानसे ही मोक्ष होता है। इसलिये हितेच्छुको निरन्तर आत्मध्यानका अभ्यास परम निश्चिन्त होकर करना योग्य है। पद्मनंदि मुनिने एकत्वाशीतिमें कहा है—

यदेव चैतन्यमहं तदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति ।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद् गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥ ७६

हेयं हि कर्मरागादि तत्कार्यं च विवेकिनः ।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥ ७४ ॥

तदेवैकं परं तत्त्वं तदेवैकं परं पदम् ।
मयाराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥ ४४ ॥

मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पंथा न चापरः ।
आनन्दोऽपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥ ४६ ॥

अक्षयस्याक्षयानंदमहाफलभरश्रियः ।
तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥ ५० ॥

भावार्थ-जो कोई चैतन्य स्वरूप है, जो कोई जानता है, जो कोई देखता है वही मैं हूं। वह एक उत्कृष्ट पदार्थ है इसलिये मैं निश्चयसे उसी एकके साथ एक भावपनेको प्राप्त होगया हूं॥ ३६॥

रागादि द्रव्य कर्म और उनके कार्य रागादि भाव विवेकियोंके लिये त्यागने योग्य हैं। शुद्ध उपयोग लक्षणको रखनेवाली एक उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति ही ग्रहण करने योग्य है ॥ ७४ ॥

वही एक उत्कृष्ट तत्व है वही एक उत्कृष्ट पद है। भव्य जीवोंके लिये वही एक आराधने योग्य है। वही एक परम ज्योतिमय है ॥ ४४ ॥

मोक्षकी इच्छा करनेवालोंके लिये वही एक मुक्तिका मार्ग है दूसरा नहीं है, उसको छोड़कर आनन्द भी और कहीं नहीं पाया जाता है ॥ ४६ ॥

अविनाशी मोक्षरूपी शोभायमान वृक्षके लिये जो वृक्ष अविनाशी आनन्दरूपी महाफलके भारसे चमकता रहता है वही एक आत्मतत्त्व परम बीज है ॥ ५० ॥

इन श्लोकोंसे यही बताया है कि शुद्ध आत्माका अनुभव ही आनन्दका दातार है व स्वाधीनताका उपाय है। वही निरंतर सेवने योग्य है।

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो हैं दक्ष समस्त दोषकर्ता, जन्मन मरण भव कर।
संसृति हरके आत्मलीन निर्मल, निर्बाध सुख कथि धरें॥
वे चिन्तें निज आत्मरूप निश्चय, सर्वज्ञ सब देखता।
निर्मल नित्य स्वभावरूप, रतिदिन रत्नत्रयी एकता ॥१२०॥

उत्थानिका—आगे ग्रन्थकार ग्रन्थ समाप्त करके आशीर्वाद देते हैं—

वृत्तैर्विंशशतेनेति कुर्वता तत्वभावनाम् ।
सद्योमितगतेरिष्टा निर्वृतिः क्रियते करे ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (विंशशतेन) एकसौ बीस (वृत्तैः) श्लोकोंके द्वारा (तत्वभावनाम्) आत्म तत्वकी भावनाको (कुर्वता) करनेवाला (सद्यः) शीघ्र ही (अमितिगतेः इष्टा) सर्वज्ञको प्रिय या अमितिगति आचार्यको प्रिय ऐसी (निर्वृतिः) मुक्तिको (करे क्रियते) अपने हाथमें प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—श्री अमितगति महाराजने इन पहले कहे हुए १२० श्लोकोंसे इस तत्वभावना नामके ग्रन्थको रचा है इसको जो कोई बारम्बार अनुभव करेगा उसको अवश्य मुक्तिकी प्राप्ति होगी ऐसा आशीर्वाद आचार्यने पाठकोंको दिया है। तथा आचार्यने यह भी दिखलाया है कि प्राचीनकालमें जो सर्वज्ञ होगए हैं उन्होंने भी इसी तत्वकी भावनासे मुक्ति प्राप्त की थी व मैं भी इसी हेतुसे तत्वकी भावना कर रहा हूं। दोहा—

विंशति सौ श्लोकमें, तत्त्व भावना पाठ।
रचो अमितिगति सूरिने, करै भावसे पाठ ॥
सोपावै निज मुक्तिको, जिम पाई सर्वज्ञ।
'सीतल' कर्म सुकाटकें, रहै आत्म मर्मज्ञ ॥१२१॥

ता० २२-९-२८.

॥ ॐ ॥

आत्मध्यानका उपाय।

हरएक बुद्धिमान मानव स्वाधीनताप्रिय होता है और सुख व शांतिको चाहता है। आत्मा और कर्मपुद्गल इन दोनोंके परस्पर सहवाससे आत्माकी शक्तियें पूर्ण विकाशरूप नहीं हैं तथा आत्माको अपने वर्तनमें बहुतसी बाधाएँ उठानी पड़ती हैं। संसारमें इष्टका वियोग व अनिष्टका संयोग होना कर्मोंकी ही पराधीनताका कारण है। क्रोधादि भावोंका झलकना व पूर्णज्ञानका न होना कर्मोंके उदयका ही कार्य है। जन्म जन्ममें भ्रमण करना, जरा व मरणके कष्ट उठाना कर्मोंका ही वेग है। इसलिये हरएक मानवका यह दृढ़ उद्देश्य होना चाहिये कि वह कर्मोंकी संगतिसे छूटकर स्वाधीन होजावे। कर्मोंकी संगति रागद्वेष मोहसे हुआ करती है। इसलिये हमें इन भावोंको दूर करके वीतरागता पूर्ण आत्मज्ञानके पानेका उद्योग करना चाहिये और उसके बलसे आत्माका ध्यान करना चाहिये। आत्मध्यानको हरएक साधु व श्रद्धावान गृहस्थ कर सक्ता है। जैनसिद्धांतने मुख्य सात तत्वोंका जानना व श्रद्धान करना जरूरी बताया है। वे तत्व हैं–जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव–निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तीक, परम शांत, सुखमई, चैतन्य धातुरूप, असंख्यात प्रदेशी है। इसका स्वभाव स्वाधीन स्वात्मीक आनन्दका भोग करते हुए वीत-

नके समान स्वपर प्रकाशक है । ऐसा होकरके भी अनादिकालके प्रवाह रूप कर्मोंके बंधनके कारण यह शरीरमें रहता हुआ अज्ञान और कषायकी कालिमासे अशुद्ध होरहा है । यह जीव द्रव्य अवस्थाओंकी अपेक्षा तो अनित्य है परन्तु द्रव्य और गुणकी अपेक्षा नित्य है । यह स्वयं कर्म बांधता है व स्वयं उस बंधसे छूट भी सकता है ।

अजीव तत्त्व-में पांच द्रव्य गर्भित हैं । पुद्गल द्रव्य जो स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप है। जो परमाणु व स्कंधके भेदोंसे अनेक प्रकारसे लोकभरमें भरा है । यह स्थूल शरीर भी पुद्गलसे बना है तथा सूक्ष्म शरीर जो कर्मोंका है वह भी सूक्ष्म कर्मवर्गणा रूपी पुद्गलोंसे बना है । जो कुछ हमारे इंद्रियोंका विषय है वह सब पुद्गल है । बहुतसे पुद्गल ऐसे सूक्ष्म हैं जिनको हम अपनी इंद्रियोंसे नहीं देख सके हैं ।

धर्मास्तिकाय द्रव्य--यह दूसरा अजीव द्रव्य है। यह अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है । इसका काम जीव और पुद्गलोंकी हलनचलन क्रियाको होते हुए उदासीनताके साथ बिना प्रेरणाके मदद देना है। जैसे मछलीको चलते हुए जल सहकारी है । बिना इसके किसी जीव या पुद्गलमें कोई हलन चलन रूप क्रिया नहीं होसक्ती है ।

अधर्मास्तिकाय-यह तीसरा अजीव द्रव्य है। यह भी अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है इसका काम जीव और पुद्गलोंको स्वयं ठहरते हुए उनको उदासीनताके साथ बिना प्रेरणाके ठहरनेमें मदद देना है । बिना इसके जीव पुद्गल कभी

ठहर नहीं सक्ते हैं। जैसे पथिकको वृक्षकी छाया ठहरनेमें निमित्त है।

आकाशद्रव्य-चौथा अजीवद्रव्य अमूर्तीक आकाश है जो अनन्त है व एक अखंड है। इसका काम सर्व द्रव्योंको अवकाश या स्थान देना है। इसीके मध्यमें तीन लोकमय यह जगत है। जगतमें ही जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म व काल ये पांच द्रव्य हर स्थानपर पाए जाते हैं। ये पांचों ही अजीव द्रव्य जीव द्रव्यसे बिलकुल भिन्न स्वतंत्र द्रव्य हैं। जीव और पुद्गलका सम्बन्ध ही संसार है व इन दोनोंका भिन्न२ होना ही मोक्ष है।

कालद्रव्य-यह भी पांचवाँ अमूर्तीक अजीव द्रव्य हैं। इनका काम सर्व द्रव्योंके पलटनेमें उदासीनतासे सहाय करना है। इस कालके अणु अलग२ आकाशके एकएक प्रदेशपर बैठे हुए असंख्यात प्रदेशी आकाशमें असंख्यात हैं। लोकमें जितने द्रव्य एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थारूप होते हैं उनको नएसे पुराना करनेमें ये कालाणु निमित्त हैं।

आस्रव और बन्ध तत्त्व-ये बतलाते हैं कि किस तरह यह जीव कर्मोंको खींचकर बांधा करता है। मन, वचन, कायके द्वारा यह संसारी जीव काम किया करता है। जब यह कोई क्रिया मन, वचन, कायसे करता है तब आत्माके प्रदेश सकम्प होते हैं उस समय चारों तरफ भरे हुए कार्माण, वर्गणारूप पुद्गल खिंचकर आजाते हैं और आत्माके कार्माण देहसे बन्धको प्राप्त होजाते हैं। उनके आनेको आस्रव व बन्धनेको बंध कहते हैं। रागद्वेष मोहकी यदि प्रबलता होती है तो कर्मोंका बंधन बहुत कालतकके लिये होता है, यदि उनकी मंदता होती है तो बंधन थोड़े कालतकके

लिये होता है। क्योंकि संसारी आत्माओंमें हलनचलन व क्रोधादि कषायका होना सदा ही पाया जाता है। इसलिये सर्व ही संसारी जीव अपनी हलन चलन क्रिया व कषायके अनुसार थोड़े या बहुत कर्मोको बांधते रहते हैं। जो आत्मा मुक्तिकी तरफ उद्योगी होजाता है वह कम कर्मोको बांधता है।

संवरतत्त्व—इस तत्वमें यह बताया गया है कि कर्मोके बंधनसे किस तरह बचा जावे। जिन२ कारणोंसे कर्मोंका बंध होता है उनउन कारणोंका छोड़ना संवर है, तब कर्मोंका बंध रुक जायगा। मुख्य कारण कर्मोके बंध होनेके चार हैं—

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

सच्चे तत्वोंको न समझकर मिथ्या तत्वोंपर श्रद्धान रखना मिथ्यात्व है। पराधीनताको अच्छा समझना और स्वाधीनताको न पहचानना मिथ्यात्व है। अतृप्तिकारी इंद्रियोंके विषयोंको अच्छा समझना और स्वाधीन आत्मीक सुखकी रुचि न करना मिथ्यात्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा तृष्णामें लवलीन रहना अविरति है। क्रोध, मान, माया, लोभके भाव करना कषाय है। मन, वचन, कायको हिलाना योग है। यदि कोई मिथ्यात्वको त्यागकर सम्यक्त भाव पैदा कर लेगा, स्वाधीनताका सच्चा श्रद्धालु हो जायगा फिर मिथ्यात्वके दोषसे जो कर्म बंधते थे उनको रोककर उनका वह संवर कर देगा।

जितना२ पांच हिंसादि पापोंको छोड़ता जायगा उतना२ अविरतिके द्वारा जो कर्म बंधते हैं उनसे बचता जायगा। साधु अवस्थामें ये पांचों पाप बिलकुल छूट जाते हैं तब वहां इनके कार-

णसे होनेवाला बन्ध बिलकुल रुक जाता है। कषायोंको जितना२ घटाया जायगा उतना२ कषाय सम्बन्धी कर्मबंध रुक जायगा। जिस वीतरागी साधुके कषायोंका प्रकाश बिलकुल नहीं होता वहां कषाय सम्बन्धी सर्व कर्मका बन्ध रुक जाता है। मन, वचन, कायका हलन चलन कर्मोंके आनेमें मुख्य कारण है। इनके पूर्णपने रुकनेसे कर्मोंका आना बिलकुल रुक जाता है।

निर्जरा तत्त्व—इसमें यह बताया गया है कि कर्मोंका अपने समयपर फल देकर झड़ने मात्रसे काम सिद्ध नहीं होता है। कर्मोंका विना फल दिये ही झड़ जाना आवश्यक है। इसका उपाय सच्चा आत्मा व सच्चा आत्मध्यान है।

मोक्षतत्व—जब यह जीव सर्व कर्मोंसे छूट जाता है तब परम पवित्र परमात्मा होजाता है फिर सदाके लिये बंधरहित होजाता है। इस तत्वको जो पालेते हैं उनको सिद्ध कहते हैं। इस तरह व्यवहारनयसे इन सात तत्वोंका स्वरूप है। निश्चयनयसे इनमें जीव और कर्मपुद्गल इन दोहीका सम्बन्ध है। कर्मपुद्गल मेरा स्वभाव नहीं है ऐसा जानकर उसे छोड़ निज शुद्ध आत्मा ही मैं हूं ऐसा श्रद्धान करना निश्चयसे इन तत्वोंका ज्ञान है। व्यवहारनय तो परद्रव्योंके आश्रय लेकर पदार्थका विचार करता है। निश्चयनय मात्र एक ही द्रव्यके आश्रय उसका विचार करता है। व्यवहारनयसे सात तत्वोंका श्रद्धान व इनहीका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हैं। निश्चयनयसे शुद्ध आत्मा ही मैं हूं यह श्रद्धान तथा ऐसा ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहारनयसे मुनिके या श्रावकके व्रतोंको पालना सम्यक्चा-

रित्र है। निश्चयनयसे अपने ही शुद्ध स्वरूपमें एकतान होजाना सम्यग्चारित्र है। निश्चयनयसे आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्ररूप एक मोक्षका मार्ग है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती कहते हैं–

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ (द्रव्यसंग्रह)

भावार्थ–मुनि निश्चय तथा व्यवहार दोनों ही प्रकारके मोक्षके मार्गको आत्मध्यानमें पालेते हैं। इसलिये तुम लोग प्रयत्नचित्त होकर ध्यानका भले प्रकार अभ्यास करो। जब आत्मध्यानमें एकता होती है तब निश्चय रत्नत्रयमें एकता हो ही रही है। उसी समय व्यवहार रत्नत्रय भी पल ही रहा है क्योंकि उसके भीतर सात तत्वोंका सार ज्ञान व श्रद्धानमें भरा हुआ है तथा वह आत्मध्यानी हिंसादि पांचों पापोंसे ध्यानके समय विरक्त है। और भी–

तवसुदवदवञ्चेदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हातत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ॥

भावार्थ–जो आत्मा तपका साधन करता है, शास्त्रका ज्ञाता है, व व्रती है, वही ध्यानरूपी रथको चला सक्ता है। इसलिये तप, शास्त्र, व व्रत इन तीनोंमें सदा लीन रहना चाहिये। जो आत्मध्यान करना चाहें उनको तपका प्रेमी होना चाहिये, संसार विषयोंकी कामनाएँ मेटकर निज सुखके रमनका प्रेमी होना चाहिये। जो इंद्रियोंके विषयोंके लोलुपी हैं उनका ध्यान बड़ी कठिनतासे जमता है। जैसा जैसा चित्त बाहरी भोग उपभोगोंकी तरफसे हटेगा वैसा वैसा आत्मध्यान कर सकेगा। ध्यानके अभ्यासीको

शास्त्रोंका ज्ञान व उनका निरन्तर मनन रहना चाहिये। शास्त्रोंके द्वारा मनकी कुज्ञानसे बचकर सुज्ञानमें दृढ़ता प्राप्त होती है। जितना साफ व अधिक तत्वोंका ज्ञान होगा उतना ही अधिक निर्मल ध्यानका अभ्यास होगा इसी तरह ध्यानके अभ्यासीको व्रती भी होना चाहिये। या तो पूर्ण त्यागी साधु हो या एक देश त्यागी श्रावक गृहस्थ हो। अविरतिमें तिष्ठनेवालोंके ध्यानका अभ्यास बहुत ही अल्प होता है। व्रती नियमानुसार सर्व कार्य करते हैं। इसलिये ध्यानके लिये अवश्य समयको निकाल लेते हैं।

वही आचार्य और भी कहते हैं—

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ ४९ ॥

भावार्थ-यदि चित्तको नाना प्रकारके ध्यानकी सिद्धिके लिये अपने आधीन करना चाहते हो तो इष्ट व अनिष्ट पदार्थोंमें मोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो। ध्यान करनेवालेके मनमें यह सच्चा वैराग्य अवश्य होना चाहिये कि इस लोकमें कोई पदार्थ अपना हो नहीं सक्ता। किसीको अपना मानना बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार निश्चय करके अपना मोह किसी चेतन व अचेतन पदार्थपर नहीं रखना चाहिये। तथा ज्ञानीको आत्मीक सुखको ही सच्चा सुख मानना चाहिये। इंद्रिय द्वारा पैदा होनेवाले क्षणिक सुखको सुख नहीं मानना चाहिये। अज्ञानी प्राणी इंद्रियसुखके ही कारण उन चेतन व अचेतन पदार्थोंसे राग करते हैं, जो विषयसुखमें मददगार हैं व जो हानि पहुंचानेवाले चेतन व अचेतन पदार्थ हैं उनसे द्वेष करलेते हैं। ज्ञानी आत्मसुखका प्रेमी होकर न किसीसे

राग करता है न किसीसे द्वेष करता है। जिसका परिणाम वैराग्य युक्त होगा वही आत्मध्यान कर सकेगा। क्योंकि ध्यान चित्तकी एकाग्रताको कहते हैं, आत्मरुचि व आत्मप्रेम ही चित्तको आत्मामें जोड़नेका सच्चा व अचूक उपाय है। जैसा श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतकमें कहते हैं—

यत्रैवाहितबुद्धिः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥

भावार्थ—जिस पदार्थको बुद्धिसे निर्णय करलिया जायगा उसी पदार्थमें श्रद्धा या रुचि जम जायगी तथा जिसमें रुचि होजायगी उसीमें ही चित्त स्वयं लय होने लगता है व जमने लगता है। वास्तवमें ध्यानके लिये यह बहुत आवश्यक है कि हमको आत्मद्रव्यका, आत्माके गुणोंका तथा आत्माकी पर्यायोंका विश्वास हो। हमको यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि जैसा पानी मिट्टीसे जुदा निर्मल है वैसा मेरा आत्मा आठ कर्ममल, शरीर व रागादि भाव मलोंसे दूर, परम निर्मल सिद्ध भगवानके समान मात्र एक ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक, परम वीतराग आनन्दमई पदार्थ है। मैं वास्तवमें ऐसा ही हूं। इसी निश्चय सहित ज्ञानमें चित्तको रोकना आत्मध्यान कहलाता है।

साधारण उपाय ध्यान करनेका यह है कि हम एकांत स्थानमें जहां कोलाहल न हो जाकर बैठ जावें और थोड़ी देर निश्चिन्त होजावें, सब कामोंसे फुरसत कर लेवें और अपने आत्माको निर्मल जलके समान देखें। जैसे घड़ेमें जल भरा होता है वैसे अपने शरीरमें पुरुषाकार अपने आत्माको देखें, चुपचाप देखते रहें और अपने मनको उस आत्मारूपी जलमें डूबा दें। जब चित्त हटने लगे

तब नीचे लिखे मंत्रोंमेंसे किसी मंत्रको जपने लगें। बीच बीचमें मंत्रके अर्थको भी विचारने लगें फिर अपने मनको उसी आत्मा-रूपी जलमें डुबो देवें। इस तरह बारबार अभ्यास करनेसे हमारा ध्यान और सब बातोंसे हटकर एक आत्मापर ही रुक जायगा, बहुत कालके अभ्याससे विरक्तता बढ़ती जांयगी। जैसा कहा है—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारः तस्मिन् भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥

भावार्थ—मैं शुद्धात्मा हूं इस तरह बारबार विचार करता हुआ जब ऐसा संस्कार होजाता है तब उसीमें बारबार भावना करनेसे और भी संस्कार दृढ़ होजाता है फिर वह अभ्यासी निश्चयसे आत्मामें थिरता प्राप्त कर लेता है।

द्रव्य संग्रहमें नीचे लिखे खास मंत्र जपके लिये बताए हैं—

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥

भावार्थ—श्री अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमपदके धारी पंचपरमेष्ठीको बतानेवाले नीचे लिखे मंत्रोंको व गुरुके उपदेशसे और भी मंत्रोंको जपे तथा ध्यावे।

(१) णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। ३५ अक्षरी मंत्र।

(२) अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः । १६ अक्षरी मंत्र।

(३) अरहंत सिद्ध=६ अक्षरी मंत्र।

(४) अ सि आ उ सा=५ अक्षरी मंत्र ।

(५) अरहंत=४ अक्षरी मंत्र ।

(६) सिद्ध, सोहं, ॐ ह्रीं=२ अक्षरी मंत्र ।

(७) ॐ=१ अक्षरी मंत्र ।

अ (अरहंत)+अ (अशरीर या सिद्ध)+आ (आचार्य)+उ (उपाध्याय)+म् (मुनि या साधु)ओम् या ॐ ।

ध्यानके लिये विशेष विचार ।

(१) कालका विचार—ध्यान करनेके लिये प्रातःकाल, मध्याह्नकाल व सायंकाल तीन समय ठीक हैं। छः छः घडी हर समय ध्यानका समय है। जब सवेरा हो उससे तीन घड़ी पहलेसे तीन घड़ी बादतक, दो पहरको तीन घड़ी पहलेसे तीन घड़ी बादतक, संध्याको तीन घड़ी पहलेसे तीन घड़ी बादतक। एक घड़ी २४ मिनटकी होती है इसलिये छः घड़ी २ घंटे २४ मिनटकी हुई। यदि ध्यान छः घड़ी करना हो तो इस तरह बर्ते। यदि ४ घड़ी ही ध्यान करना हो तो दो घड़ी इधरसे दो घड़ी उधरतक लेले। यदि २ घड़ी ही करना हो तो १ घड़ी पहलेसे १ घड़ी बादतक ले। यह उत्तम विधि है। मध्यम यह है कि यदि छः घड़ीसे कम करना हो तो यह ध्यानमें रक्खे कि सूर्योदय, मध्याह्न व संध्याके समय ध्यानमें बैठा हो। जघन्य यह है कि दो घड़ी या कुछ अधिक करना हो तो हर तीन समयोंमें छ घड़ीके समयके भीतर ध्यान कर डालें। इसके सिवाय रात्रिको भी बारह बजे या अन्य किसी भी समय ध्यान किया जासक्ता है।

(२) स्थानका विचार–ध्यान करनेके लिये स्थान ऐसा होना चाहिये जहां क्षोभ न हो, कोलाहल न हो, दुष्ट लोगोंका, वेश्याओंका, स्त्रियोंका, नपुंसकोंका आना जाना न हो। आसपास गाना बजाना न होता हो, दुर्गंध न आती हो, न बहुत गर्मी हो, न सरदी हो, न जानवरोंका भय हो, न डांस मच्छरोंका अधिक संचार हो, ऐसा योग्य व निराकुल स्थान ध्यानके लिये तलास करलेना चाहिये। ध्यान करते हुए विघ्न न हो ऐसा स्थान ढूंढना उचित है। मुख्य व उत्तम स्थान नीचे प्रकार होसक्ते हैं–(१) सिद्धक्षेत्र, (२) तीर्थंकरोंके पंचकल्याणकके स्थान, (३) समुद्रका तट, (४) वन, (५) पर्वतका शिखर, (६) नदीतट, (७) नगरके बाहर कोट पर, (८) नदियोंके संगम पर, (९) जलके मध्य द्वीप या भूमि पर, (१०) पुराना वन, (११) स्मशानके निकट, (१२) पर्वतकी गुफा, (१३) जिन मंदिर, (१४) शून्य घर, (१५) पृथ्वीकी तलहटी, (१६) वृक्षोंका समूह इत्यादि। जैसा कहा है—

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः॥ ८॥

भावार्थ–जिस स्थानमें रागादि दोष शीघ्र ही दूर होजावें वहीं बैठना उचित है–ध्यानके समयमें तो विशेष करके वहीं बैठे।

(३) संथारेका विचार–निराकुल स्थानपर चटाईका आसन, पाटा, पाषाणकी शिला आदि पर या मात्र भूमिपर ही ध्यान करे। जैसा कहा है—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम्॥९॥

भावार्थ–धीरवीर समाधिकी सिद्धिके लिये काष्ठका तखता, शिला, वालुरेतका स्थान या भूमि इनमेंसे किसीमें भले प्रकार स्थिर आसन जमावे ।

(४) आसनका विचार–

आसन शरीरको जमाकर रखता है इसलिये किसी न किसी आसनसे बैठकर या खड़े होकर ध्यान करना चाहिये । कहा है–

पर्यंकमर्द्धपर्यंकवज्रं वीरासनं तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०॥
येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः ।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥११॥
कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम् ।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति ॥१२॥

भावार्थ–पर्यंक असन, अर्द्धपर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ध्यानके योग्य आसन माने हैं । जिस किसी आसनसे ध्यानी अपने मनको स्थिर कर सके उसी सुन्दर आसनको लेलेना चाहिये । इस समय काल दोषसे शक्ति कम होनेसे कायोत्सर्ग और पर्यंक इन दो आसनोंको ठीक कहा है ।

आसन जमानेसे मन स्थिर होजाता है । कहा है—

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥ ३० ॥
वातातपतुषाराद्यैर्जंतुजातैरनेकशः ।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥ ३२ ॥

भावार्थ–इंद्रियोंको जीतनेवाला योगी आसनको जीते । जिनका आसन स्थिर होता है उनको ध्यान करते हुए खेद नहीं

होता है। आसनको जीतनेवाला योगी पवन, धूप, पाला आदिसे तथा पशुओंसे अनेक तरह पीड़ित किये जानेपर भी खेद नहीं मानता है।

जो पवन पर्वतोंको उड़ा दे ऐसे पवनके चलनेपर आसनसे बैठा हुवा कभी नहीं डिगता है। शरीरको स्थिर रखनेका बडा सुन्दर उपाय आसनका जीतना है।

सीधे बैठना, अपने दोनों चरणोंको एक दूसरेकी जांघके ऊपर रखना, दोनो हाथ गोदमें रखना, बाएं हाथके ऊपर दाहना रखना, आंखें निश्चल रहें, उनकी सीध नाशिकाके अग्र भागपर हो। इसका मतलब यह नहीं है कि नाककी नोकको देखे परन्तु यदि कोई देखे तो मालूम पड़े कि दृष्टि नाककी सीधपर है। दोनों होठ न बहुत खुले हों न मिले हों, मन बड़ा प्रसन्न हो। इस आसनको लौकिकमें पद्मासन कहते हैं। जैसे उत्तर हिन्दुस्तानमें दि० जैन मंदिरोंमें प्रतिमाका आसन होता है। जहां एक पग जांघके नीचे व दाहना पग जांघके ऊपर रहे, शेष सब बातें पद्मासनके समान हों उसको अर्द्ध पद्मासन कहते हैं। दक्षिणमें इस आसनमें मूर्तियां मिलती हैं। वहां इसहीको पर्यंकासन कहते हैं। जैनबद्रीके दौर्बलि जिनदास शास्त्रीने पद्मासन, पर्यंकासन व कायोत्सर्गके श्लोक इस प्रकार लिखाए थे—

समपादौ क्षितौ स्थित्वा चोर्ध्वजानुगतौ करौ।
प्रसार्य्य ऋजुमूर्तिः स्याद् दण्डासनमितीरितं॥

भावार्थ—जहां पैरोंको बराबर जमीनपर जमाया जावे, आगेके (एक दूसरेसे चार अंगुलकी दूरी रहे) अपने दोनों हाथ लटके हुए

जंघा तक चले आवें । व सीधी मूर्तिरूप खड़ा रहे उसको दंडासन व कायोत्सर्ग आसन कहा गया है ।

उत्तानवामचरणं दक्षिणोर्णि विन्यसेत् ।
उत्तानयाम्यचरणं वामोर्णि निवेशयेत् ॥
तन्मध्याधोर्ध्वगोत्तानवामवामेतरौ करौ ।
स्थित्वा निश्चलयोगेन नासाग्रमवलोकयेत् ॥
इद पद्मासनं प्राहुः मुख्यं पूजादिकर्मसु ।

भावार्थ—बाएँ चरणको उठाकर दाहनी जांघपर रक्खे व दाहने चरणको उठाकर बाईं जांघपर धरे, उनके मध्यमें नीचे बायाँ हाथ उसके ऊपर दाहना हाथ रक्खे तथा निश्चल बैठे और नासाग्र दृष्टि हो सो पद्मासन कहा गयाहै। पूजा आदि कार्योंमें यह मुख्य है।

वामपादस्य गुल्फेन याम्यपदगुल्फक न्यसेत्,
तस्योर्ध्वाधःस्थितोत्तानयामोत्तरकरोपरं ।
वामोत्तरं करं स्थित्वा नासाग्रमवलोकयेत्,
पल्यंकासनमित्याहुः सर्वपापनिवारणं ॥

भावार्थ—बाएं पैरकी गुल्फ या टोहनीके साथ मिलाकर दाहने पैरकी टोहनीको बाएं पगकी जांघपर रक्खे फिर गोदमें बाएं हाथके ऊपर दाहना हाथ रक्खे। नासाग्र देखे सो पल्यंकासन सर्व पाप दूर करनेवाला है।

मल्लिषेण कृत विद्यानुवाद मंत्र शास्त्रमें लेख है कि २४ तीर्थंकर पल्यंकासन तथा कायोत्सर्गासनसे मोक्ष गए। जैसे—

ऋषभस्य वासपूज्यस्य नेमेः पल्यंकबन्धता ।
कायोत्सर्गस्थितानां तु सिद्धिः शेषजिनेशिनां ॥

अर्थात् ऋषभदेव, वासपूज्य तथा नेमिनाथ तो पल्यंकासनसे मोक्ष गए, शेष २१ जिन कायोत्सर्गसे मोक्ष गए।

इसकालमें ध्यान करनेवालेको पद्मासन, पल्यंकासन तथा कायोत्सर्ग इन तीन आसनोंको काममें लेना चाहिये तथा किसी एक आसनका खूब अभ्यास करलेना चाहिये। आसन ऐसा जमावे कि देखनेवालेको चित्राम सा मालूम हो।

पंडित जयचंदजी कहते हैं—

आसन दिढ़तें ध्यानमें, मन लागै इकतान।
तातें आसन योगकूं, मुनि कर धारैं ध्यान॥

ध्यान समायिकके साथ करना उचित है।

सामायिककी विधि।

यह विधि सामान्य व सुगम लिखी जाती है जिसको हरएक समझकर अभ्यासमें लासका है।

पहले ही मनको और कामोंसे हटाकर स्वस्थ करले, बचनके बोलनेकी व कायसे अन्य काम करनेकी इच्छाको रोकले व शरीरको अशुचि व गंदगीसे साफ करले। पवित्र वस्त्र जितने कम पहने उतना ठीक है। जिसमें शरदी गर्मीकी बाधा न हो ऐसा होकर मन बचन काय शुद्धकर ठीक समयपर अर्थात् प्रातःकाल, मध्याह्न, या सायंकाल एकान्त निराकुल स्थानमें जाकर किसी आसनको बिछाकर या भूमिमें ही पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके खड़ा हो क्योंकि अभ्यासीके लिये पूर्व या उत्तर दिशाकी तरफ होकर ध्यान करना शास्त्रमें कहा है। यद्यपि अन्य दिशामें भी ध्यानका सर्वथा निषेध नहीं है। जैसा ज्ञानार्णवके इन श्लोकोंसे सिद्ध होता है—

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोपि वा।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते॥

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा वीतमत्सराः ।
प्रागनेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम् ॥२४॥

भावार्थ–ध्यानके समय ध्याताको प्रसन्नमुख रखकर पूर्व या उत्तरको मुख करना चाहिये, यह प्रशंसनीय है तथापि ज्ञान और चारित्रके धारी, जितेन्द्रिय, मानादि रहित ऐसे साधु पूर्वकालमें अनेक अवस्थाओंसे मोक्ष गए हैं, उनके दिशाका नियम नहीं था। पहले हाथ लटकाए हुए नौ दफे णमोकार मंत्र अपने मनमें पढ़े, फिर मस्तक भूमिमें लगाकर नमस्कार करे। तब मनमें यह प्रतिज्ञा कर ले कि जबतक इस आसनसे नहीं हटूंगा तबतक या इतने समयतक सर्व अन्य परिग्रहका त्याग है, जो कुछ मेरे पास है उसके सिवाय तथा चारों तरफ एक एक गज भूमिको रखकर सब भूमिको भी त्यागता हूं। फिर कायोत्सर्ग खड़ा होकर तीन दफे या नौ दफे णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे। दोनों हाथ जोड़कर अपने बाएंसे दाहनी तरफ तीन दफे घुमावे। फिर उन जोड़े हुए हाथोंपर अपना मस्तक झुकावे। इसका प्रयोजन यह है कि इस तरफ जितने वंदनीय तीर्थ व धर्मस्थान व अरहंत व साधु आदि हैं उनको मन वचन काय तीनोंसे नमस्कार करता हूं। फिर अपने दाहने खड़ा खड़ा हाथ लटकाए हुए मुड़ जावे। इधर भी नौ या तीन दफे णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे, फिर पीछे, फिर चौथी तरफ, इसी तरह करे। पश्चात् जिधर पहले मुख करके खड़ा हुआ था उधर ही आकर बैठ जावे। पद्मासन, पर्य्यंकासन जमाले या कायोत्सर्ग ही रहे। सबसे पहले सामायिकपाठ मनमें अर्थ विचार करता हुआ मंदस्वरसे

पढ़ जावे। पाठ पढ़नेसे मन सब तरफसे खिंच आवेगा व तत्वकी भावना होजावेगी। इस पुस्तकमें १२० श्लोकोंका बड़ा सामायिक पाठ है, जो थिरता हो तो इसीको पढ़ जावे। अर्थ समझ सके तो संस्कृत मात्र पढ़े नहीं तो जो हरएक श्लोकमें भाषा छन्द दिये हुए हैं उन १२० भाषा छन्दोंको पढ़ जावे। यदि थिरता न हो तो छोटा सामायिक पाठ बत्तीस श्लोकोंका पढ़े जो इस पुस्तकके अंतमें संस्कृत और उसके भाषा छंद सहित दिया हुआ है। फिर णमोकार मंत्रकी या अन्य किसी मंत्रकी जाप १०८ बार एक दफे या कई दफे जपे। जाप जपनेको माला भी दाहने हाथमें लेसक्ता है जिसको अंगूठेके पासकी उंगलीपर लटकावे व मंत्र एक एक दानेपर पढ़ता हुआ अंगूठेसे सरकाता जावे या हाथकी अंगुलियोंसे ही जप सक्ता है। एक हाथमें १२ खाने हैं उनको पूर्ण कर दूसरे हाथके एक खानेपर अंगूठा रखता रहे, इस तरह जब बाएं हाथके नौ खाने पूरे होजावें तब एक जाप होजावे। जप करते वक्त हाथोंको फैलाकर काममें ले सक्ता है। तीसरी रीति जप करनेकी यह भी है कि एक कमल आठ पत्तेका हृदयस्थानमें बनाले, हरएक पत्तेपर बारह बिन्दु रखले, बीचमें भी घेरेमें बारह बिन्दु रखले तब १०८ बिन्दुओंका कमल होगया। अब एकएक पत्तेको लेता हुआ बाँई तरफसे दाहनी तरफ जपता हुआ आवे या पहले पूर्व दिशाके पत्तेके १२ बिन्दुपर १२ दफे मंत्र जप जावे फिर पश्चिमके पत्तेपर, फिर दक्षिणके, फिर उत्तरके पत्तेपर जपकर पूर्व दक्षिणके कोनेके पत्तेको जपे, फिर दक्षिण पश्चिमके, फिर पश्चिम उत्तरके, फिर उत्तर पूर्वके पत्तेपर, फिर बीचके बारह बिंदुओंपर जप जावे। यह

(१) पिंडस्थ ध्यानका स्वरूप।

पिंड शरीरको कहते हैं इसमें स्थित जो आत्मा उसको पिंडस्थ कहते हैं, उस आत्माका ध्यान करना सो पिंडस्थ ध्यान है। इसके लिये पांच धारणाएं बताई गई हैं–(१) पार्थिवी (२) आग्नेयी (३) श्वसना या वायु (४) वारुणी या जल (५) तत्वरूपवती। इनको क्रमसे अभ्यासमें लांवे।

(१) पार्थिवी धारणाका स्वरूप।

इस मध्यलोकको क्षीर समुद्र समान निर्मल जलसे भरा हुआ चिन्तवन करे, उसके बीचमें जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन चौड़ा एक हजार पत्तोंको रखनेवाला ताए हुए सुवर्णके समान चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमलके बीचमें कर्णिकाके समान सुवर्णके पीले रंगका सुमेरुपर्वत चिन्तवन करे, उसके ऊपर पाण्डुक वनमें पाण्डुक शिलापर स्फटिकका सफेद सिंहासन विचारे। फिर यह सोचे कि उस सिंहासनपर मैं आसन लगाकर इसलिये बैठा हूं कि मैं अपने कर्मोको जला डालूं और आत्माको पवित्र करडालूँ। इतना चिन्तवन बारबार करना पार्थिवी धारणा है।

(२) आग्नेयी धारणा।

फिर वहीं सुमेरु पर्वतके ऊपर बैठा हुआ वह ध्यानी अपने नाभिके भीतरके स्थानमें ऊपर हृदयकी तरफको उठा हुआ व फैला हुआ सोलह पत्तोंका कमल सफेद वर्णका विचार करे और उसके हरएक पत्तेपर पीलरंगके सोलह स्वर लिखे हुए सोचे–अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। इस कमलके मध्यमें

जो कर्णिका सफेद रंगकी है उसपर पीले रंगका हं अक्षर लिखा हुआ सोचे। दूसरा कमल ठीक इस कमलके ऊपर औंधा नीचेकी तरफ मुख किये हुए आठ पत्तोंका फैला हुआ विचार करे। इसको कुछ मटीले रंगका सोचे, इसके हरएक पत्तेपर काले रंगके लिखे हुए आठ कर्म सोचे—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अंतरायकर्म।

फिर नाभिके कमलके बीचमें जो हं लिखा है उसके रेफसे धुआं निकलता विचारे, फिर अग्निकी शिखा होती हुई सोचे। यह अग्निकी लौ बढ़ती हुई ऊपरको आवे और आठ कर्मोंके कमलको जलाने लगे ऐसा सोचे। फिर यह अग्निकी लौ कमलके मध्यमें छेदकर ऊपर मस्तकपर आजावे और उसकी एक लकीर बाईं तरफ एक दाहनी तरफ आजावे फिर नीचेकी तरफ आकर दोनों कोनोंको मिलाकर एक अग्निमई लकीर बनजावे अर्थात् अपने शरीरके बाहर तीन कोनका अग्निमंडल होगया ऐसा सोचे। आगकी लकीरोंका त्रिकोण (triangle) बनगया ऐसा विचारे।

इसकी तीनों लकीरोंमें र र र र अग्निमय लिखा हुआ विचारे अर्थात् तीनों तरफ र र अक्षरोंसे ही यह अग्निमंडल बना है ऐसा सोचे। फिर इस त्रिकोणके बाहर तीन कोनोंपर स्वस्तिक (साथिया) अग्निमय लिखा हुआ व भीतर तीन कोनोंमें हरएक पर ॐ र्र ऐसा अग्निमय लिखा हुआ विचारे। फिर सोचे कि भीतर तो आठ कर्मोंको और बाहर इस शरीरको यह अग्निमंडल जला रहा है। जलाते२ राख हो जाकर सर्व शरीर व कर्म राख होगए तब अग्नि धीरे२ शांत होगई, इतना विचारना आग्नेयी धारणा है।

(३) श्वसना या वायुधारणा।

फिर वही ध्यानी ऐसा चिंतवन करे कि चारों तरफ बड़े जोरसे निर्मल पवन बह रही है व मेरे चारों तरफ वायुने एक मंडल गोल बना लिया है, उस मंडलमें आठ जगह घेरेमें 'स्वाय स्वाय' सफेद रंगका लिखा हुआ है। फिर ऐसा सोचे कि यह वायु उस कर्म व शरीरकी राखको उड़ा रही है व आत्माको साफ कर रही है ऐसा ध्यान करे।

(४) वारुणी या जल धारणा।

फिर वही ध्यानी विचार करे कि आकाशमें मेघोंके समूह आगए, बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे और खूब जोरसे पानी बरसने लगा। अपनेको बीचमें बैठा विचारे, अपने ऊपर अर्ध चंद्राकार पानीका मण्डल विचारे तथा प प प प जलके बीजाक्षरसे लिखा हुआ चिन्तवन करे और यह सोचे कि यह जल मेरे आत्मापर लगे हुए धूलेको साफ कररहा है—आत्मा बिलकुल पवित्र होरहा है।

(५) तत्वरूपवती धारणा।

फिर वही ध्यानी चिंतवन करे कि अब मैं सिद्धसम सर्वज्ञ वीतराग परम निर्मल कर्म व शरीररहित मात्र चैतन्यात्मा हूं, पुरुषाकार चैतन्य धातुकी बनी शुद्ध मूर्तिके समान हूं, पूर्ण चन्द्रमाके समान ज्योतिरूप दैदीप्यमान हूं।

यह पिंडस्थ ध्यानका स्वरूप है। इनमेंसे हरएक धारणाका क्रमसे अभ्यास करे। जब पांचोंका अभ्यास होजावे तब हर दफे जब ध्यान करे तब इन पांचों धारणाओंके द्वारा पिंडस्थ ध्यानको करे। अन्तमें देर तक शुद्ध आत्माका अनुभव करे। यह ध्यान वास्तवमें

कर्मोको जलाता है और आत्मीक आनन्दका देनेवाला है। पंडित जयचंदजीने कहा है—

चौपाई—या पिंडस्थ ध्यानके मांहि, देह विषें चित आतम ताहि।
चिंतवै पंच धारणा धारि, निज आधीन चित्तको पारि॥

(२) पदस्थ ध्यानका स्वरूप।

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।
तत्पदस्थं मत ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ १ ॥

भावार्थ-पवित्र पदोंके सहारेसे जो ध्यान योगियोंके द्वारा किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। पदोंके सहारे शुद्ध आत्मा अरहंत या सिद्ध आदि या उनके गुणोंका ध्यान करना सो पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थानपर पदोंको विराजमान करके उनको देखते हुए चित्तको जमाना तथा उनका स्वरूप बीच-बीचमें विचारते रहना। श्रद्धान यह रखना कि हम शुद्ध होनेके लिये शुद्धात्माओंका ध्यान कररहे हैं। इसके लिये अनेक पदोंका ध्यान श्री ज्ञानार्णवजीमें कहा है। यहां कुछ मंत्र बताए जाते हैं—

(१) वर्णमातृका मंत्र।

ध्यान करनेवाला अपनी नाभिमें जमे हुए एक सोलह पत्तोंके कमलको सफेद रंगका चिंतवन करे इसपर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन १६ स्वरोंको पीले रंगका लिखा हुआ व क्रमसे पत्तोंपर घूमता हुआ विचारे, फिर हृदयस्था-नमें चौबीस पत्तोंके कमलको सफेद रंगका विचारे। उसकी मध्यकी कर्णिकाको लेकर पच्चीस स्थानोंपर पचीस व्यंजन पीले रंगके लिखे—

क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म। फिर मुखमें स्थित आठ पत्रोंके सफेद कमल पर पीले रंगके आठ अक्षरोंको लिखे व भ्रमण करता हुआ विचारे। वे हैं—य र ल व श ष स ह।

इस तरह तीनों कमलोंको देखता रहे व मनमें श्रद्धा रक्खे कि ये सर्व श्रुतज्ञानके मूल अक्षर हैं, मैं जिनवाणीका ही ध्यान कररहा हूं।

(२) मंत्रराज–र्हं।

यह साक्षात परमात्माको व चौवीस तीर्थंकरोंको याद दिलानेवाला है। पहले इसके दोनों भौंहोंके बीच चमकता हुआ जमाकर देखे फिर वह मुखमें प्रवेश करके अमृतको झरता हुआ, फिर नेत्रोंकी पलकोंको छूता हुआ, मस्तकके केशोंपर चमकता हुआ, फिर चंद्रमा व सूर्यके विमानोंको छूता हुआ तथा ऊपर स्वर्गादिको लांघ कर आता है और मोक्ष स्थानमें पहुंच जाता है। इस तरह भ्रमण करता हुआ ध्यावे।

(३) प्रणव मंत्र ॐ या ओम्।

हृदयमें सफेद रंगका कमल विचार करे उसके मध्यमें ॐको चन्द्रमाके समान चमकता हुआ ध्यावे। इस कमलके आठ पत्रोंपर तीनपर १६ स्वर व पांचपर २९ व्यंजन लिखकर चमकता हुआ ध्यावे। इस तरह ३३ अक्षरसे वेष्टित ॐका ध्यान करे। इस चमकते हुए ॐको नीचेके स्थानोंपर भी विराजमान करके ध्यान करे। श्रद्धान रक्खे कि यह मंत्र अरहंतसिद्ध आदि पांच परमेष्ठीका वाचक मंत्र है। ध्यान करता हुआ मध्यमें इनके गुणोंका भी चिंतवन कर सक्ता है।

दश स्थान-(१) मस्तक, (२) ललाट या माथा, (३) कान, (४) नेत्र, (५) नाककी नोक, (६) दोनों भौहोंका मध्य भाग, (७) मुख, (८) तालु, (९) हृदय, (१०) नाभि।

(४) णमोकार मंत्र।

हृदयस्थानमें चन्द्रमाके समान चमकता हुआ आठ पत्रोंका कमल विचारे। उसके मध्यमें कर्णिकाके स्थानमें "णमो अरहंताणं" को चमकता हुआ ध्यावे। फिर चार दिशाओंके चार पत्रोंपर पूर्वपर "णमो सिद्धाणं" पश्चिमपर "णमो आइरियाणं" उत्तरकी तरफ "णमो उवज्झायाणं" और दक्षिणकी तरफ "णमो लोए सव्वसाहूणं" विराजमान करके क्रमसे ध्यावे। फिर चार कोनोंके पत्तोंपर क्रमसे "सम्यग्दर्शनाय नमः" "सम्यग्ज्ञानाय नमः" "सम्यक्चारित्राय नमः" "सम्यग्तपसे नमः" इन चार पदोंको ध्यावे। नौ पत्तोंको क्रमवार बदलता हुआ ध्यान करता रहे। बीच२में स्वरूपचिन्तवन करता रहे।

(५) पंच परमेष्ठी ध्यान।

अ, सि, आ, उ, सा, ये पांच अक्षर पांच परमेष्ठियोंके प्रथम अक्षर हैं, इनको चंद्रमाके समान चमकता हुआ पांच स्थानोंपर पांच कमलोंके मध्यमें स्थित ध्यावे।

(१) नाभिकमलके मध्यमें अ।

(२) मस्तकके कमलमें सि।

(३) कण्ठके कमलपर आ।

(४) हृदयके कमलपर उ।

(५) मुखके कमलपर सा।

इस पदस्थ ध्यानके अभ्याससे भी चित्त अन्य विचारोंसे रुककर धर्मध्यानमें तल्लीन होता है। इसका अभ्यास करना परम हितकारी है। और भी बहुतसे मंत्र हैं जिनका वर्णन श्री ज्ञानार्णवसे मालूम होसक्ता है। पंडित जयचंदजी कहते हैं—

अक्षर पदको अर्थ रूप ले ध्यानमें।
जे ध्यावें इम मंत्र रूप इकतानमें॥
ध्यान पदस्थ जु नाम कह्यो मुनिराजने।
जे यामें हों लीन लहें निज काजने॥

(३) रूपस्थ ध्यान।

अरहंत भगवानके स्वरूपमें तन्मय होकर उनका ध्यान करना सो रूपस्थ ध्यान है। किसी एक तीर्थंकरको—ऋषभ, पार्श्व, नेमि या महावीरको विचारे। उनको नीचे प्रमाण ध्यावे।

(१) समवशरणके श्री मंडपमें १२ सभाएं हैं, उनमें चार प्रकारके देव, देवियां, मुनि, आर्यिका, मानव व पशु सर्व बैठे हैं, तीन कटनी पर गंधकुटी है उसमें अंतरीक्ष चार अंगुल ऊंचे श्री अरहंत प्रभू पद्मासन विराजमान हैं।

(२) जिनका परमौदारिक शरीर कोटि सूर्यकी ज्योतिको मंद करनेवाला है, जिसमें मांस आदि सात धातुएं नहीं हैं। परम शुद्ध रत्नवत् चमक रहा है, (३) प्रभू परम शांत, स्वरूप मग्न विराजमान हैं, जिनके सर्व शरीरमें वीतरागता झलक रही है।

(४) श्री अरहंत भगवानके क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, चिंता, रागद्वेष, जन्म, मरण आदि अठारह दोष नहीं हैं।

(५) जिनके ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे अनंतज्ञान प्रगट हो गया है, जिससे सर्व लोक अलोकको एक समयमें जान रहे हैं। दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे अनंतदर्शन प्रगट होगया है जिससे लोकालोकको एक समयमें देख रहे हैं। मोहनीय कर्मके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन व यथाख्यात चारित्र या वीतरागत्व प्रगट होरहा है। अन्तराय कर्मके क्षयसे अनंतवीर्य, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंत-भोग, अनंत उपभोग प्रगट होरहे हैं अर्थात् नव केवललब्धियोंसे विभूषित हैं। अनन्तलाभ शक्तिके प्रगट होनेसे प्रभुके परमौदारिक शरीरको पुष्ट करनेवाली आहारक वर्गणाएँ स्वयं शरीरमें मिलती रहतीहैं जिससे साधारण मानवोंकी तरह उनको ग्रास लेकर भोजन करनेकी जरूरत नहीं पड़ती है।

(६) जिस प्रभूके आठ प्रातिहार्य शोभायमान हैं–(१) अति-मनोहर रत्नमय सिंहासनपर अन्तरीक्ष विराजमान हैं, (२) करोड़ों चन्द्रमाकी ज्योतिको मंद करनेवाला उनके शरीरकी प्रभाका मण्डल उनके चारों तरफ प्रकाशमान होरहा है, (३) तीन चंद्रमाके समान तीन छत्र ऊपर शोभित होते हुए प्रभु तीन लोकके स्वामी हैं, ऐसा झलका रहे हैं। (४) हंसके समान अति श्वेत चमरोंको दोनों तरफ देवगण ढार रहे हैं (५) देवोंके द्वारा कल्पवृक्षोंके मनोहर पुष्पोंकी वर्षा होरही है (६) परम रमणीक अशोक वृक्ष शोभायमान है उसके नीचे प्रभुका सिंहासन है (७) दुंदुभि बाजोंकी परम मिष्ट व गंभीर ध्वनि होरही है (८) भगवानकी दिव्यध्वनि मेघ गर्जनाके समान होरही है जिसको सर्व ही देव, मनुष्य, पशु अपनी २ भाषामें समझ रहे हैं।

नं० ३
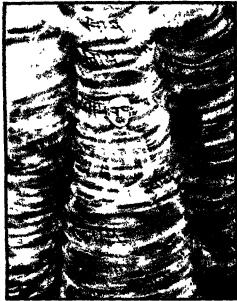
पिंडस्थध्यानकी

वायुधारणाका चित्र ।

J. V. P. SURAT.

पिंडस्थध्यानकी वारुणी (जल) धारणाका चित्र ।

J V P SURAT.

(७) भगवान निश्चय सम्यक्त, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्ररूप होते हुए परम अद्वैत आत्मस्वभावमें तल्लीन हैं उनको इन नामोंसे स्मरण करें–(१) कामनाशक, (२) अजन्मा, (३) अव्यक्त, (४) अतीन्द्रिय, (५) जगतवंद्य, (६) योगिगम्य, (७) महेश्वर, (८) ज्योतिर्मय, (९) अनाद्यनंत, (१०) सर्वरक्षक, (११) योगीश्वर, (१२) जगद्‌गुरु, (१३) अनन्त, (१४) अच्युत, (१५) शांत, (१६) तेजस्वी, (१७) सन्मति, (१८) सुगत, (१९) सिद्ध, (२०) जगतश्रेष्ठ, (२१) पितामह, (२२) महावीर, (२३) मुनिश्रेष्ठ, (२४) पवित्र, (२५) परमाक्षर, (२६) सर्वज्ञ, (२७) परमदाता, (२८) सर्वहितैषी, (२९) वर्धमान, (३०) निरामय, (३१) नित्य, (३२) अव्यय, (३३) परिपूर्ण, (३४) पुरातन, (३५) स्वयंभु, (३६) हितोपदेशी, (३७) वीतराग, (३८) निरंजन, (३९) निर्मल, (४०) परमगम्भीर, (४१) परमेश्वर, (४२) परमतृप्त, (४३) परमामृतपानकर्ता, (४४) अव्याबाध, (४५) निष्कलंक, (४६) निजानन्दी, (४७) निराकुल, (४८) निस्पृह, (४९) देवाधिदेव, (५०) महाशंकर, (५१) परमब्रह्म, (५२) परमात्मा, (५३) पुरुषोत्तम, (५४) परम बुद्ध, (५५) अमर, (५६) अशरणशरण, (५७) गुणसमुद्र, (५८) शिवनारिसम्मोही, (५९) सकल तत्वज्ञानी, (६०) आत्मज्ञ, (६१) शुक्लध्यानी, (६२) परमसम्यग्दृष्टी, (६३) तीर्थंकर, (६४) अनु–पम, (६५) अनन्तलोकावलोकन शक्तिधारी, (६६) परमपुरुषार्थी, (६७) कर्मपर्वतचूरकवज्र, (६८) विश्वज्ञाता, (६९) निरावरण, (७०) स्वरूपाशक्त, (७१) सकलागमउपदेशकर्ता, (७२) परम-

कृतकृत्य, (७३) परम संयमी, (७४) परमआप्त, (७५) स्नातक-निर्ग्रन्थ, (७६) सयोगिजिन, (७७) परमनिर्जराकृढ़, (७८) परम-संवरपति, (७९) आस्रवनिर्वारक, (८०) शुद्धजीव, (८१) गण-धरनायक, (८२) मुनिगणश्रेष्ठ, (८३) तत्त्ववेत्ता, (८४) आत्मरमी, (८५) मुक्तिनारिभर्ता, (८६) परमवैरागी, (८७) परमानन्दी, (८८) परमतपस्वी, (८९) परमक्षमावान, (९०) परमसत्यधर्मारूढ़, (९१) परमशुचि, (९२) परमत्यागी, (९३) अद्भुतब्रह्मचारी, (९४) शुद्धोपयोगी, (९५) निरालम्ब, (९६) परमस्वतंत्र, (९७) निर्वैर, (९८) निर्विकार, (९९) आत्मदर्शी, (१००) महाऋषि, इत्यादि।

इसतरह विचार करके उनके परमवीतराग स्वरूपमें ही अपने मनको जोड़देवे। बार बार देखकर उनमें प्रेमालु होजावे। ऐसा विचारते विचारते वह द्वैतभावसे अद्वैतमें आजावे अर्थात् अपने आत्माको ही सर्वज्ञ व अरहंत मानने लगजावे। जैसा कहा है—

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३॥

भावार्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो देव है वही मैं हूं, जो सर्वज्ञ है वही मैं हूं, जो आत्मस्वरूपमें लगा है वही मैं हूं, सर्वज्ञ देखनेवाला जो कोई है वह मैं ही हूं, मैं और कोई नहीं हूं इसतरह मैं ही साक्षात् अरहंत स्वरूप वीतराग परमात्मा हूं ऐसी भावना करके उसीमें स्थिर होजावे। यह अरहंतके स्वरूपके द्वारा निज आत्माका ध्यान है जिसको रूपस्थ ध्यान कहते हैं। पंडित जयचंद जी कहते हैं—

सोरठा–सर्व विमव युत जान, जे ध्यावें अरहंतकूं।
मन वश करि सत मान, ते पावें तिस भावकूं ॥

(४) रूपातीत ध्यान।

इस ध्यानमें सिद्धोंके गुणोंको विचारता हुआ अपने आपको ही सिद्ध माने। पहले सिद्धके स्वरूपको विचारे कि वह अमूर्तीक, चैतन्य, पुरुषाकार, परम कृतकृत्य, परमशांत, निष्कल, परम शुद्ध, आठ कर्मरहित, परम वीतराग, चिदानन्दरूप, सम्यक्तादि आठ गुण सहित, परम निर्लेप, परम संतोषी, स्वरूपमग्न, स्फटिकमणिमयी निर्मल, निरंजन, निर्विकार व लोकाग्र विराजमान हैं। फिर विचारते२ अपने आत्माको ही सिद्धरूप मानकर ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूं, सर्वज्ञ हूं, सिद्ध हूं, कृतकृत्य हूं, विश्वलोकी हूं, निरंजन हूं, स्वभावस्थिर हूं, परमानन्दभोगी हूं, कर्मरहित हूं, परम वीतराग हूं, परम शिव हूं, तथा परमब्रह्म हूं। इस तरह अपने स्वरूपमें गुप्त होजावें।

जहां एकदम सिद्ध परमात्माका ध्यान करते२ द्वैतसे अद्वैतमें रम जावे, आपको ही सिद्ध सम शुद्ध भावे व उसीमें तन्मय हो जावे सो रूपातीत ध्यान है। जैसा पंडित जयचंदजीने कहा है–

दोहा–सिद्ध निरंजन कर्म विन, मूरति रहित अनन्त।
जो ध्यावै परमात्मा, सो पावै शिव सन्त ॥

इस तरह जो ध्यानका अभ्यास करना चाहे उसको निश्चल आसनसे होकरके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ या रूपातीत इनमेंसे चाहे जिस ध्यानको ध्यानेका अभ्यास करे। परन्तु एक ध्यान जब

अभ्याससे पूर्ण होजावे तब दूसरे प्रकारके ध्यानका अभ्यास करे। ध्यानका प्रयोजन आत्मस्थ होना है। जिसतरह यह प्रयोजन सिद्ध हो उसी तरह ध्यानीको अभ्यास करना चाहिये। ध्यानहीसे परमानन्दका लाभ होता है व कर्मोंकी निर्जरा होती है।

प्राणायामकी विधि।

शरीरकी शुद्धि तथा मनको एकाग्र करनेके लिये प्राणायामका अभ्यास सहायक है। यद्यपि वह ऐसा जरूरी नहीं है कि इसके विना आत्मध्यान न होसके इसलिये जिसने किसी प्राणायामके ज्ञाता विद्वानसे प्राणायाम नहीं सीखा है वह भी ज्ञान व आत्म बलसे आत्मध्यान कर सक्ता है। उसका मन स्वयं ही विना किसी आकुलताके रुक जाता है।

जैसा ज्ञानार्णवमें कहा है–

> संविग्नस्य प्रशांतस्य वीतरागस्य योगिनः ।
> वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥ ८ ॥

भावार्थ–विरक्त, शांत, वीतरागी व जितेन्द्रिय योगीके लिये प्राणायामकी आवश्यक्ता नहीं है। कभी कभी इससे कष्ट भी होता है। जैसा कहा है–

> प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्तसंभवः ।
> तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोपि लक्षितः ॥ ९ ॥

भावार्थ–प्राणायाममें प्राण या श्वासको रोकनेसे पीडा होती है, पीडासे आर्तध्यान होना संभव है इससे तत्वज्ञानी भी अपने शुद्ध भावोंके लक्ष्यसे छूट जाता है।

तथापि सहकारी कारण किसीके होसक्ता है ऐसा जानकर यहां कुछ वर्णन ज्ञानार्णवजीके अनुसार किया जाता है।

तीन प्रकार प्राणायाम है। (१) पूरक, (२) कुंभक, (३) रेचक ।

(१) तालुके छेदसे या बारह अंगुल पर्यंतसे पवनको खींचकर अपने शरीरमें भरना सो पूरक हैं।

(२) उस खींचे हुए पवनको नाभिके स्थानपर रोके, नाभिसे अन्य जगह न चलने दे। जैसे घड़ेको भरते हैं वैसे भरे सो कुम्भक है।

(३) उसी पवनको अपने कोठेसे धीरे२ बाहर निकाले सो रेचक है।

अभ्यास करनेवालेको पवनको भीतर लेकर थामनेका फिर धीरे२ बाहर तालुके द्वारा ही निकालनेका अभ्यास करना चाहिये। जो अधिक देर तक थांम सकेगा वह मनको अधिक रोक सकेगा। नाकसे काम न लेकर तालुसे ही खींचना व तालुसे ही बाहर निकालना चाहिये। इसका अभ्यास खुली हुई स्वच्छ हवामें करना उचित है, तब शरीरको बहुत लाभ होता है। जैसे नाभिके कमलमें पवनको रोका जावे वैसा हृदयकमलके वहां भी रोका जासक्ता है।

प्राणायाममें चार मंडल पहचानने चाहिये—(१) पृथ्वीमंडल, (२) जलमंडल, (३) पवनमंडल, (४) अग्निमंडल ।

(१) पीले रंगका चौकोर पृथ्वीमंडल है। जब नाकके छेदको पवनसे भरके आठ अंगुल बाहर तक पवन मंद मंद निकलता रहे तब पृथ्वीमंडलको पहचानना चाहिये। यह पवन कुछ उष्ण होती है।

(२) आधे चन्द्रमाके समान सफेद वर्ण जलमंडल है। इस मंडलमें पवन शीघ्र नीचेकी तरफ ठंडकको लिये ही १२ अंगुल बाहर तक बहती है।

(३) नीले रंगका गोल पवनमण्डल है। इसमें पवन सब तरफ बहती हुई ६ अंगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण व शीत दोनों तरहकी होती है।

(४) अग्निके फुलिंगेके रंग समान तीनकौनके आकार अग्नि मण्डल है। इसमें पवन ऊपरको जाता हुआ चार अंगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण होती है।

नाकके स्वर दो हैं, बाई तरफके श्वासको चंद्र व दाहनी तरफके श्वासको सूर्य कहते हैं। एक मासके शुक्लपक्षकी पड़वा (प्रतिपदा), दूज व तीज इन तीन दिन प्रातःकाल वामस्वर या चंद्रस्वर चलना शुभ है फिर तीन दिन प्रातःकाल दाहना फिर तीन दिन प्रातःकाल बायां इसतरह १९ दिन तक बदलता रहता है।

कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, दूज व तीजको प्रातःकाल दाहना या सूर्य स्वर चलना शुभ है। फिर तीन तीन दिन प्रातःकाल स्वर बदलता रहे। यदि इससे विरुद्ध स्वर चलें तो अशुभ जानने चाहिये। तौ भी एक स्वर नाककी बाई तरफका या दाहनी तरफका बराबर २॥ घडी या एक घंटे तक चलता रहता है फिर वह दूसरे दाहनी या बाई तरफका होजाता है। किसी आचार्यने २४ घंटेमें १६ बार पवनका पलटना लिखा है।

ऊपर कहे हुए पृथ्वी आदि चार मंडलोंके पवनको पहचानने के लिये दूसरी रीति यह है कि अपने कानोंको दोनों हाथके

अंगूठोंसे बन्द करे, तब ही आंखोंको अंगूठेके पासकी अंगुलियोंसे और नाकको मध्यमा अंगुलियोंसे व मुखको शेष दो अंगुलियोंसे बन्द कर मनके द्वारा देखे तो बिन्दु दिखलाई पड़ेंगे, वे यदि पीले दीखें तो पृथ्वीमण्डल समझना, यदि सफेद दीखें तो जलमण्डल समझना, यदि लाल दीखें तो अग्निमण्डल और जो काले दीखें तो पवनमण्डल समझना चाहिये। इन चार मण्डलोंमेंसे जब पृथ्वी-मण्डल व जलमण्डल हो तब शुभ कार्योंको अर्थात् ध्यान स्वाध्या-यादि कामोंको करना उचित है। पृथ्वी व जल तत्वके पवन बाएं स्वरसे निकलते हों तो कार्यकी सिद्धि बतानेवाले होते हैं। अग्नि व पवनमंडल दाहनी तरफसे बहें तो अशुभ सूचक हैं। अग्नि व वायुमंडल यदि बाईं तरफसे बहें अथवा पृथ्वी व जलमंडल यदि दाहने तरफसे बहें तो मध्यम फलके सूचक हैं।

बाएं स्वरको हितकर व दाहने स्वरको अहितकर बताया है। जैसे—

> अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा ।
> क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाड़ी ॥४४॥
> वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम् ।
> संहर्त्री दक्षिणा नाड़ी समस्तानिष्टसूचिका ॥४३॥

भावार्थ—प्राणियोंके बायां स्वर चलता हुआ अमृतके समान सर्व शरीरको तृप्त करता है तथा दक्षिण स्वर चलता हुआ शरीरको क्षीण करनेवाला है, प्राणियोंको बायां स्वर हितकारी है अमृतके समान है जब कि दाहना स्वर अनिष्टका सूचक है। यदि किसीको स्वर बदलना हो तो जो स्वर चलता हो उधरके अंगको व स्वरको दाबे तो दूसरी तरफका स्वर चलने लगेगा।

स्वरोंके द्वारा हं मंत्रके ध्यानकी विधि नीचे प्रकार है इससे स्वर शुद्ध होता है। पहले नाभिके कमलके मध्यमें हंको चंद्रमाके समान चमकता हुआ विचारे। फिर उसीको विचारे कि दाहने स्वरसे बाहर निकला और चमकता हुआ आकाशमें ऊपरको चला गया फिर लौटा और बाएं स्वरसे भीतर प्रवेश करके नाभिकमलमें ठहर गया। इस तरह बारबार अभ्यास करके हंको घुमाकर नाभिकमलमें ठहराना चाहिये।

विशेष कथन श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थ देखकर जानना चाहिये। पूरक, कुम्भक, रेचकका अभ्यास खुली हवामें करनेसे शरीरकी शुद्धि व मनको रोकनेका साधन मिलता है। इतना ही उपयोग समझकर किसी जानकार विद्वानकी मददसे प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये।

इस तरह ध्यानका कुछ स्वरूप मोक्षार्थी व आत्मानन्दके ध्यासे जीवोंके हितार्थ लिखा गया है। इसे पढ़कर भव्यजीव अवश्य निरंतर ध्यानका अभ्यास करो। अभ्याससे अवश्य ध्यानकी सिद्धि होजाती है। यह तत्त्वभावना ग्रन्थ परम हितकारी है, जो मनन करेंगे परम लाभ पावेंगे। इति।

मिती आसौज बदी ९ गुरुवार वीर सं० २४५४ विक्रम सं० १९८५ ता० ४ अक्टूबर १९२८।   ब्र० सीतल।

॥ ॐ ॥

श्रीअमितगतिसूरि विरचित—

सामायिक पाठ।

(हिन्दी छंदानुवाद सहित)

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥ १ ॥

हे जिनेन्द्र ! सब जीवनसे हो मैत्री भाव हमारे।
दुःख दर्द पीड़ित प्राणिन पर करूं दया हर बारे ॥
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अधिकारे।
नहीं प्रेम नहिं द्वेष वहां विपरीत भाव जो धारे ॥ १ ॥

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥ २ ॥

हे जिनेन्द्र ! अब भिन्न करनको इस शरीरसे आतम।
जो अनन्त शक्तीधर सुखमय दोषरहित ज्ञानातम ॥
शक्ति प्रगट हो मेरेमें अब तब प्रसाद परमातम।
जैसे खड्ग म्यानसे काढ़त अलग होत तिम आतम ॥ २ ॥

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे
योगे वियोगे भवने वने वा।

निराकृताशेषममत्वबुद्धेः
समं मनो मेस्तु सदापि नाथ ॥ ३ ॥

दुःख सुखोंमें, शत्रु मित्रमें, हो समान मन मेरा।
वन मंदिरमें लाभ हानि में हो समताका डेरा॥
सर्व जगतके थावर जंगम चेतन जड़ उलझेरा।
तिनमें ममत करूं नहिं कबहूं छोड़ूं मेरा तेरा॥ ३॥

मुनीश! लीनाविव कीलिताविव
स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव॥ ४॥

हे मुनीश! तव ज्ञानमयी चरणोंको हियमें ध्याऊं।
लीन रहें, वे कीलित होवें, थिर उनको बिठलाऊं॥
छाया उनकी रहे सदा सब औगुण नष्ट कराऊं।
मोह अँधेरा दूर करनको रत्न दीप सम भाऊं॥ ४॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥ ५॥

एकेन्द्री दोइन्द्री आदिक, पंचेन्द्री पर्यंता।
प्राणिन को प्रमादवश होके इत उत मैं विचरंता॥
नाश छिन्न दुःखित कीने हों मेले कर कर अन्ता।
सो सब दुराचार कृत कल्मष दूर होहु भगवन्ता॥ ५॥

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्त्तिना
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥६॥

रत्नत्रय मय मोक्षमार्ग से उलटा चलकर मैंने।
तज विवेक इन्द्रियवश होके अर कषाय आधीने॥
सम्यक् व्रत चारित्र शुद्धि का किया लोप हो मैंने।
सो सब दुष्कृत पाप दूर हों शुद्ध किया मन मैंने॥ ६॥

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं,
मनोवचःकायकषायनिर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं
भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम्॥ ७॥

मन वच काय कषायन के वश जो कुछ पाप किया है।
है संसार दुःख का कारण ऐसा जान लिया है॥
निन्दा गर्हा आलोचन से ताको दूर किया है।
चतुर वैद्य जिम मंत्र गुणों से विष संहार किया है॥ ७॥

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं
जिनातिचारं सुचरित्रकर्म्मणः
व्यधादनाचारमपि प्रमादतः
प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये॥ ८॥

मतिभ्रष्ट हो हे जिन! मैंने जो अतिक्रम करडाला।
सुआचार कर्मों में व्यतिक्रम अतीचार भी डाला॥

हो प्रमाद आधीन कदाचित् अनाचार कर डाला।
शुद्ध करणको इन दोषोंके प्रतिक्रम कर्म सम्हाला ॥ ८ ॥

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं
व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम्।
प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥ ९ ॥

मन विशुद्धिमें हानि करे जो वह विकार अतिक्रम है।
शील स्वभाव उलंघनकी मति सो जाना व्यतिक्रम है ॥
विषयोंमें वर्तन होजाना अतीचार नहिं कम है।
स्वच्छंदी बनकर प्रवृत्ति सब अनाचार इक दम है ॥ ९ ॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं
मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी
सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥१०॥

मात्रा पद अरु वाक्यहीन या अर्थहीन वचनोंको।
कर प्रमाद बोला हो मैंने दोष सहित वचनोंको ॥
क्षम्य ! क्षम्य ! जिनवाणि सरस्वति ! शोधो मम वचनोंको।
कृपा करो हे मात ! दीजिये पूर्ण ज्ञान रतनोंको ॥ १० ॥

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने
त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११॥

बार बार वन्दूं जिन माता ! तू जीवन सुखदाई।
मन चिन्तित वस्तूको देवे चिन्तामणि सम भाई॥
रत्नत्रय अर ज्ञान समाधी शुद्धभाव इकताई।
स्वात्मलाभ अर मोक्ष सुखोंकी सिद्धी दे जिनमाई॥ ११॥

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै–
यैः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१२॥

सर्व साधु यति ऋषि और अनगार जिन्हें सुमरे हैं।
चक्रधार अर इन्द्र देवगण जिनकी थुती करे हैं॥
वेद पुराण शास्त्र पाठों में जिनका गान करे हैं।
परम देव मम हृदय विराजो तुझ में भाव भरे हैं॥ १२॥

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः,
समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१३॥

सबको देखन जानन वाला सुख स्वभाव सुखकारी।
सब विकारि भावों से बाहर जिनमें हैं संसारी॥
ध्यान-द्वार अनुभव में आवे परमातम शुचिकारी।
परमदेव मम् हृदय-विराजो भाव तुझीमें भारी॥ १३॥

निषूदते यो भवदुःखजालं,
निरीक्षते यो जगदन्तरालं।

योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १४ ॥

सकल दुःख संसारजाल के जिसने दूर किये हैं ।
लोकालोक पदारथ सारे युगपत् देख लिये हैं ॥
जो मम भीतर राजत है मुनियोंने जान लिये हैं ।
परमदेव मम हृदय-विराजो सम रस पान किये हैं ॥ १४ ॥

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्युव्यसनाद्व्यतीतः ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १५ ॥

मोक्ष मार्ग त्रयरत्नमयी जिसका प्रगटावनहारा ।
जन्मन मरण आदि दुःखोंसे सब दोषोंसे न्यारा ॥
नहिं शरीर नहिं कलङ्क कोई लोकालोक निहारा ।
परमदेव मम हृदय विराजो तुम बिन नहिं निस्तारा ॥ १५ ॥

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गाः,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १६ ॥

जिनको संसारी जीवोंने अपना कर माना है ।
राग द्वेष मोहादिक जिसके दोष नहीं जाना है ॥
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है ।
परमदेव मम हियमें तिष्ठो करता कल्याना है ॥ १६ ॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १७ ॥

जिसका निर्मल ज्ञान जगतमें है व्यापक सुखदाई ।
सिद्ध बुद्ध सब कर्म बंधसे रहित परम जिनराई ॥
जिसका ध्यान किये क्षण क्षणमें सब विकार मिट जाई ।
परमदेव मम हियमें तिष्ठो यही भावना भाई ॥ १७ ॥

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषै-
र्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः ।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

कर्म मैलके दोष सकल नहिं जिसे पर्श पाते हैं ।
जैसे सूरजकी किरणोंसे तम समूह जाते हैं ॥
नित्य निरंजन एक अनेकी इम मुनिगण ध्याते हैं ।
उसी देवको अपना लख कर हम शरणा आते हैं ॥ १८ ॥

विभासते यत्र मरीचिमालि,
न विद्यमाने भुवनावभासि ।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १९ ॥

जिसमें तापकरण सूरज नहिं ज्ञानमयी जगभासी ।
बोध भानु सुख शांति सुकारक शोभ रहा सुविकासी ॥

अपने आतममें तिष्ठे है रहित सकल मल पासी।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली भवत्रासी ॥ १९ ॥

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ २० ॥

जिसमें देखत ज्ञान दर्शसे सकल जगत प्रतिभासे।
भिन्न भिन्न षट्द्रव्यमयी गुण पर्ययमय समतासे ॥
शुद्ध शांत शिवरूप अनादी जिन अनंत फटिकासे।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली सुख भासे ॥ २० ॥

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा,
विषादनिद्राभयशोकचिंता।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च-
स्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ २१ ॥

जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान परिग्रह भारी।
मन विषाद निद्रा भय चिंता रती शोक दुःखकारी ॥
जैसे वृक्ष समूह जलावत बन अग्नी भयकारी।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली सुखकारी ॥ २१ ॥

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥

है व्यवहार विभाव शिला पृथ्वी तृणका संथारा ।
निश्चयसे नहिं आसन हैं ये इनमें नहिं कुछ सारा ॥
इन्द्रिय विषय कषाय द्वेषसे विरहित आतम प्यारा ।
ज्ञानी जीवोंने गुण लखकर आसन उसे विचारा ॥ २२ ॥

न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्व्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

नहिं संथारा कारण है गा निज समाधिका भाई ।
नहिं लोगोंसे पूजा पाना सघ मेल सुखदाई ॥
रात दिवस निज आतममें तू लीन रहो गुणगाई ।
छोड़ सकल भव रूप वासना निजमें कर इकताई ॥ २३ ॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥

मम आतम बिन सकल पदारथ नहिं मेरे होते हैं ।
मैं भी उनका नहिं होता हूं नहि वे सुख बोते हैं ॥
ऐसा निश्चय जान छोड़के बाहर निज टोते हैं ।
उन सम हम नित स्वस्थ रहें लें मुक्ति कर्म खोते हैं ॥ २४ ॥

आत्मानमात्मान्यवलोक्यमान-
स्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।

एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र,
स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

निज आतममें आतम देखो हे मन परम सुहाई।
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी परम शुद्ध सुखदाई ॥
चाहे जिसी ठिकाने पर हो हो एकाग्र सुहाई।
जो साधू आपेमें रहते सच समाधि उन पाई ॥ २५ ॥

एकः सदा शाश्वति को ममात्मा
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण सागर है।
निर्मल केवल ज्ञान मयी सुख पूरण अमृतघर है ॥
और सकल जो मुझसे बाहर देहादिक सब पर है।
नहीं नित्य निज कर्म उदयसे बना यह नाटकघर है ॥ २६ ॥

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
प्रथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका कुछ भी ऐक्य नही है इस शरीरसे भाई।
तब फिर उसके कैसे होगे नारी बेटा भाई ॥
मित्र शत्रु नहिं कोई उसका नहिं संग साथी दाई।
तनसे चमड़ा दूर करे नहिं रोम छिद्र दिखपाई ॥ २७ ॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

परके संयोगोंमें पड़ तनधारी बहु दुख पाया।
इस संसार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया॥
मन वच कायासे निश्चयकर सबसे मोह छुड़ाया।
अपने आतमकी मुक्तीने मनमें चाव बढ़ाया॥ २८॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं
संसारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

इस संसार महावन भीतर पटकनके जो कारण।
सर्व विकल्प जाल रागादिक छोड़ो शर्म निवारण॥
रे मन! मेरे देख आत्म को भिन्न परम सुखकारण।
लीन होहु परमातम माहीं जो भव ताप निवारण॥ २९॥

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

पूर्व कालमें कर्मबन्ध जैसा आतमने कीना।
तैसा ही सुख दुख फल पावे होवे मरना जीना॥
परका दिया अगर सुख दुख पावे यह बात सहीना।
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कबहूँ ना॥ ३०॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

अपने ही बांधे कर्मोंके फलको जिय पाते हैं ।
कोई किसीको देता नाहीं ऋषिगण इम गाते हैं ॥
कर विचार ऐसा दृढ़ मनसे जो आतम ध्याते हैं ।
पर देता सुख दुख यह बुद्धी नहिं चितमें लाते हैं ॥ ३१ ॥

यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः
सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः ।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥३२॥

जो परमातम सर्व दोषसे रहित भिन्न सबसे है ।
अमितगती आचारज वंदे मनमें ध्यान करे है ॥
जो कोई नित ध्यावे मनमें अनुभव सार करे है ।
श्रेष्ठ मोक्षलक्ष्मीको पाता आनन्द ज्ञान भरे है ॥ ३२ ॥

इति द्वात्रिंशतिवृत्तैः, परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥३३॥

इन बत्तीस पदनसे भविजन परमातम ध्याते हैं ।
मनको कर एकाग्र स्वात्ममें अव्यय पद पाते हैं ॥
सुखसागर वर्द्धनके कारण सत अनुभव लाते हैं ।
"सीतल" सामायिकको पाकर भवदधि तर जाते हैं ॥३३॥

(समाप्तोऽयं सामायिकपाठः)

आलोचनापाठ।

दोहा-बंदों पांचों परम गुरु, चावीसों जिनराज।
करूं शुद्ध आलोचना, सिद्धकरनके काज ॥१॥

सखी छन्द (१४ मात्रा)

सुनिये जिन अरज हमारी। हम दोष किये अति भारी॥ तिनकी अब निर्वृत्ति काजा। तुम शरन लही जिनराजा ॥२॥ इक वे ते चउ इंद्री वा। मनरहित सहित जे जीवा॥ तिनकी नहिं करुना धारी। निरदई है घात विचारी ॥३॥ समरंभ समारँभ आरँभ। मनवचतन कीने प्रारँभ॥ कृत कारित मोदन करिकैं। क्रोधादि चतुष्टय धरिकैं ॥४॥ शत आठ जु इन भेदनतैं। अघ कीने पर छेदनतैं॥ तिनकी कहुं कोलौं कहानी। तुम जानत केवलज्ञानी ॥५॥ विपरीत एकांत विनयके। संशय अज्ञान कुनयके॥ वश होय घोर अघ कीने। वचतैं नहिं जात कहीने ॥६॥ कुगुरुनकी सेवा कीनी। केवल अदयाकरि भीनी॥ या विध मिथ्यात बढायो। चहुंगतिमधि दोष उपायो ॥७॥ हिंसा पुनि झूठ जु चोरी। परवनितासौं दृग जोरी॥ आरँभ परिग्रह भीने। पन पाप जु या विधि कीने ॥८॥ सपरस रसना घ्राननको। दृग कान विषय सेवनको॥ बहु करम किये मन माने। कछु न्याय अन्याय न जाने ॥९॥ फल पंच उदंबर खाये। मधु मांस मद्य चित चाये॥ नहिं अष्ट मूल गुणधारे। सेयें कुविसन दुखकारे ॥१०॥ दुइवीस अभख जिन गाये। सो भी निशदिन भुंजाये॥ कछु भेदाभेद न पायो। ज्यों त्यों करि उदर भरायो ॥११॥ अनंतानुबंधी सो जानों। प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो॥ संज्वलन चौकरी गुनिये। सब भेद जु षोडश मुनिये ॥१२॥ परिहास अरति रति शोक। भय ग्लानि तिवेद

संजोग ॥ पनवीस जु भेद भये इम। इनके वश पाप किये हम ॥१३॥ निद्रावश शयन करायो। सुपनेमधि दोष लगायो ॥ फिर जागि विषय वन धायो। नानाविध विषफल खायो ॥१४॥ आहार निहार विहारा। इनमें नहिं जतन विचारा ॥ बिन देखे धरा उठाया। बिन शोधा भोजन खाया ॥१५॥ तब ही परमाद सतायो। बहुविध विकल्प उपजायो ॥ कछु सुधि बुधि नाहिं रही है। मिथ्यामति छाय गई है ॥१६॥ मरजादा तुम ढिग लीनी। ताहूमें दोष जु कीनी ॥ भिन्न२ अब कैसे कहिये। तुम ज्ञानविषें सब पइये ॥१७॥ हा हा मैं दुठ अपराधी। त्रसजीवनराशि विराधी ॥ थावरकी जतन न कीनी। उरमें करुणा नहिं लीनी ॥१८॥ पृथ्वी बहु खोद कराई। महलादिक जांगा चिनाई ॥ बिन गाल्यो जल ढोल्यो। पंखातैं पवन विलोल्यो ॥१९॥ हा हा मैं अदयाचारी। बहु हरितकाय जु विदारी ॥ या मधि जिवनिके खंदा। हम खाये धरि आनंदा ॥२०॥ हा हा परमाद बसाई। बिन देखे अगनि जलाई ॥ तामध्य जीव जो आये। तेहू परलोक सिधाये ॥ २१ ॥ बीध्यो अन रात पिसायो। ईंधन बिन सोध जलायो ॥ झाड़ू ले जागां बुहारी। चिंटीयादिक जीव विदारी ॥ २२ ॥ जल छानि जिवानी कीनी। सोहू पुनि डारि जु दीनी ॥ नहिं जलथान पहुंचाई। किरिया बिन पाप उपाई ॥२३॥ जल मल मोरिन गिरवायो। कृमि कुल बहु घात करायो ॥ नदियन बिच चीर धुवाये कोसनके जीव मराये ॥२४॥ अन्नादिक शोध कराई। तामैं जु जीव निसराई ॥ तिनका नहिं जतन कराया। गलियारे धूप डराया ॥२५॥ पुनि द्रव्य कमावन काज। बहु आरंभ हिंसा

साजे ॥ कीये तिसनावश भारी। करुना नहिं रंच विचारी ॥२६॥ इत्यादिक पाप अनंता। हम कीने श्री भगवंता ॥ संतति चिरकाल उपाई। बानीतैं कहिये न जाई ॥२७॥ ताको जु उदय जब आयो। नानाविध मोहि सतायो ॥ फल भुंजत जिय दुख पावे। बचतैं कैसें करि गावे ॥२८॥ तुम जानत केवलज्ञानी। दुख दूर करो शिवथानी ॥ हम तो तुम शरन लही है। जिन तारन विरद सही है ॥२९॥ इक गांवपती जो होवे। सो भी दुखिया दुख खोवै ॥ तुम तीन भुवनके स्वामी। दुख मेटो अन्तरजामी ॥३०॥ द्रोपदिको चीर बढायो। सीतापति कमल रचायो ॥ अंजनसे किये अकामी। दुख मेटो अन्तरजामी ॥३१॥ मेरे अवगुन न चितारो। प्रभु अपनो विरद निहारो ॥ सब दोष रहित करि स्वामी। दुख मेटहु अन्तरजामी ॥३२॥ इन्द्रादिक पद नहिं चाहूं। विषयनिमें नाहिं लुभाऊं ॥ रागादिक दोष हरीजे। परमातम निजपद दीजे ॥३३॥ दोहा—दोषरहित जिनदेवजी, निजपद दीजो मोहि। सब जीवनके सुख बढ़ै, आनन्द मंगल होय-॥३४॥ अनुभव माणिक पारखी, जौंहरि आप जिनन्द। येही वर मोहि दीजिये, चरन सरन आनन्द ॥३५॥

इति आलोचनापाठ समाप्त।

प्रशस्ति।

दोहा—अवध लखनऊ नग्रमें, अग्रवाल शुभ वंश।
मंगलसैन सु शास्त्रवित, धर्मी निर्मल हंस ॥ १ ॥
तिन सुत मक्खनलालजी, तीजा सुत हूं जास।
सीतल बत्तिस वय थकी, करत साग अभ्यास ॥ २ ॥

उन्निस सैतिस विक्रमा, [illegible] कार्तिक मास । [illegible]
उन्निस पचासी विषैं, रहतक बस चौमास ॥ ३
मंदिर तीन दिगम्बरी, बालक शाला एक ।
कन्याशाला भी लसै, धर्मशाल पुनि एक ॥ ४
औषधिशाला दो लसैं, एक सर्व समुदाय ।
जोरावरसिंहसे चले, द्वितिय रुग्न सुखदाय ॥ ५
अग्रवाल जैनी बसैं, दो शत घर समुदाय ।
निज २ मति अनुसार सब, सेवत धर्म स्वभाय ॥ ६
कपूरचन्द अरु दीपचन्द, तथा जयन्तिप्रसाद ।
नानकचन्द सु लालचन्द, श्यामलाल दुखवाद ॥ ७
रत्नलाल उग्रसेनजी, और जिनेश्वर दास ।
आदि वकील प्रवीण हैं, सिंह दिवान उदास ॥ ८
मास्टर हैं शिवराम बुध, रामलाल विद्वान ।
इत्यादिक साधर्मिमें, किया सु निज कल्याण ॥ ९
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना ग्रन्थ ।
संस्कृतसे भाषा लिखी, चलै ध्यानका पंथ ॥ १० ॥
नरनारी चित दे पढ़ो, समझो अर्थ विचार ।
मनन करो आतम लखो, पावो ज्ञान उदार ॥ ११
श्री जिनेन्द्रके ध्यानसे, होवे आतम ज्ञान ।
आतम सुख नितप्रति रहे, होवे सब कल्याण ॥ १२
मंगल श्री अरहंत है, मंगल सिद्ध महान ।
मंगल श्री जिनधर्म है, "सीतल" को सुखदान ॥ १३

ब्र० सीतल । ता० ४–१०–२८